किसने कहा मन चंचल है

आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक

मुनि दुलहराज

सातवां संस्करण : जनवरी, १९९२
आठवां संस्करण : अक्टूबर, १९९४

मूल्य : पैंतीस रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं, नागौर (राज०)
मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१३०६ ।

KISANE KAHA MAN CHANCHAL HAI
Acharya Mahaprajna
Rs. 35.00

प्रस्तुति

बीज को वृक्ष बनाने के लिए लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। बीजयदि बीज ही रहे तो विश्व को वह उपलब्ध नही होता, जो वृक्ष से हो सकता है। पत्र, पुष्प, फल, छाया और ईंधन—ये सब बीज के विकास से ही संभव होते हैं। चेतना को भी विकास के शिखर तक पहुचाने के लिए बहुत लम्बी यात्रा करनी होती है। यदि चेतना सुप्त रहे तो उसे वह उपलब्ध नही हो सकता, जिसकी हम अपेक्षा करते हैं। मैत्री, शाति, सौहार्द, सद्भावना, समता और समन्वय—ये सारे तत्त्व जागृत चेतना से ही फलित हो सकते हैं।

चेतना-जागरण के लिए ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा करनी होती है। ऊर्जा का प्रवाह नीचे की ओर जाता है तब काम-चेतना का विकास होता है। ज्ञान-चेतना का विकास ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा होने पर हो सकता है। ध्यान का अभ्यास ऊर्जा को ऊपर की ओर ले जाने का अभ्यास है। प्रस्तुत पुस्तक मे ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा के कुछ पहलू स्पष्ट किए गए हैं।

समय-समय पर प्रेक्षाध्यान के शिविर आयोजित होते हैं। उनमे ध्यान के प्रयोग चलते हैं और साथ-साथ ध्यान के विषय मे चर्चा भी चलती है। वही चर्चा इस पुस्तक मे सकलित है। अक्टूबर १९७७, मार्च १९७८ तथा जून १९७८ के तीन शिविरो की चर्चा इसमे संगृहीत है। ध्यान के प्रयोग से व्यक्ति अपने-आपसे परिचित होता है, अपने भीतर होने वाली घटनाओ से सीधा सम्पर्क स्थापित करता है। ध्यान विषयक चर्चा उस कार्य मे बहुत सहयोग करती है। शरीरशास्त्र का अध्ययन एक डॉक्टर के लिए भी जरूरी है और एक ध्यान साधक के लिए भी जरूरी है। प्रयोजन दोनो का भिन्न हो सकता है। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाले व्यक्ति के लिए शरीर-बोध इसलिए जरूरी है कि वह शरीर के प्रत्येक भाग को देख सके, शरीर की प्रत्येक कोशिका का चेतना के द्वारा स्पर्श कर सके और उसे सक्रिय बना सके।

मानसशास्त्र का अध्ययन एक मनोवैज्ञानिक के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही ध्यान-साधक के लिए आवश्यक है। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला चेतना के विभिन्न स्तरो को जाने बिना अन्तश्चेतना की शक्तियों को जागृत नही कर सकता। ध्यान का प्रयोजन है—आंतरिक चेतना मे विद्यमान शक्तियो का विकास और उनका उपयोग।

कर्मशास्त्र का अध्ययन एक दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता के लिए जितना जरूरी है, उतना ही ध्यान-साधक के लिए जरूरी है। नाडी-संस्थान में उठने

वाली कर्म विपाक की विभिन्न तरंगों को जाने विना उन्हे शात नही किया जा सकता। प्रेक्षाध्यान से चित्त की जागरूकता बढती है। जागरूक साधक नाड़ी-सस्थान मे उठने वाली उत्तेजना या वासना की प्रत्येक तरंग का अनुभव कर सकता है और दर्शन के द्वारा उसे निष्क्रिय बना सकता है।

हम चिन्तन की शक्ति से जितने परिचित है, उतने ही दर्शन की शक्ति से अपरिचित हैं। चिन्तन से ज्ञान-तंतुओ मे थकान आती है और दर्शन से वे शक्तिशाली वनते है। उनकी सक्रियता बढ़ती है। दर्शन चेतना की सहज प्रवृत्ति है। चित्त शरीर के जिस भाग मे आता है, उस भाग मे प्राण की धारा प्रवाहित होती है। जहा प्राण का प्रवाह प्रचुर मात्रा से होता है, वहा सुप्त चैतन्य-केन्द्र जागृत हो जाते है। प्रस्तुत पुस्तक मे जागरण की प्रक्रिया के कुछ सूत्र चर्चित हैं।

इन ध्यान-सूत्रो की चर्चा की परिसमाप्ति पर आचार्यश्री तुलसी की उपसहारात्मक टिप्पणिया भी होती रही हैं। वे एक स्वतत्र पुस्तक मे पढने को मिलेगी। आचार्यश्री ने मेरी ध्यान-चर्चा को बहुत सजीव बनाया है। उनकी उपस्थिति और प्राणवत्ता ने मुझे बहुत प्रेरित किया है, लाभान्वित किया है।

प्रस्तुत पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने के श्रम-साध्य कार्य मे तथा उसके सपादन मे मुनि दुलहराजजी ने उत्साहपूर्ण कार्य किया है। इसके लिए उन्हे साधुवाद देता हू।

पाठक वर्ग ने सप्रति प्रकाशित होने वाले ध्यान सम्वन्धी ग्रथो के प्रति जो भावना प्रदर्शित की है, जिस अभिरुचि से उन्हें पढा है और उसके आधार पर प्रयोग का प्रयत्न किया है, उससे इस क्षेत्र मे उज्ज्वल सभावनाए जन्म ले रही हैं। मैं मंगल भावना करता हू कि जन-जन में अध्यात्म की भावना जागे। प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व को जाने, पहचाने। मैं फिर एक वार आचार्यवर के प्रति श्रद्धा-प्रणत प्रणाम करता हू और कामना करता हूं कि उनके पथ-दर्शन से समूची मानवजाति का पथ आलोकित वने।

—आचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

: १ :

दर्शन का नया आयाम

प्रवचन १ | संकलिका

१. अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे। (आयारो, ३।३४)

२. पासह एगेवसीयमाणे अणत्तपण्णे। (आयारो, ६।५)

३. से बेमि—से जहा वि कुम्भे हरए विणिविट्ठचित्ते, पच्छन्नपलासे, उम्मग्गं से णो लहई। (आयारो, ६।६)

- हे धीर ! तू दुःख के अग्र और मूल का विवेक कर।
- तुम देखो, जो आत्मप्रज्ञा से शून्य है, वे अवसाद को प्राप्त हो रहे है।
- मैं कहता हू—जैसे एक कछुआ है और एक द्रह है। कछुए का चित्त द्रह मे लगा हुआ है। वह द्रह सेवाल और पद्मपत्रो से आच्छन्न है। वह कछुआ मुक्त आकाश को देखने के लिए विवर को प्राप्त नही हो रहा है।

४ मुझे पता है कि आप सफल जीवन जीने के लिए—

- स्वास्थ्य चाहते है। दीर्घायु चाहते हैं। सुख चाहते है। शाति चाहते है।

  विवेक के बिना शाति नही। शांति के बिना सुख नही। सुख के बिना स्वास्थ्य नही। स्वास्थ्य के बिना दीर्घायु नही।

५ इनकी उपलब्धि के लिए जीवन का नया अध्याय, नयी पद्धति अपनाए। कुछ समय तक पदचिह्नो पर चले, फिर अन्तरिक्ष की यात्रा करे, जहां कोई पदचिह्न नही होता। वह अध्याय विचार नही, दर्शन है। तर्क नही, अनुभव है।

६. संयम साधना है, संवर उसका फलित।

७. तप साधना है, निर्जरा उसका फलित।

८. अक्रिया साधना है, सिद्धि उसका फलित।

९. प्रत्याख्यान की चेतना तब जागृत होती है जब विवेक जागृत हो, प्रज्ञा या भेद-ज्ञान जागृत हो।

बहुत लोग मूर्च्छा का जीवन जीते है। अविवेक इतनी सघन मूर्च्छा है कि उसमे यह पता नहीं चलता —'मैं कौन हू' 'मेरा स्वभाव क्या है ?' 'मेरा अपना क्या है ?'

मूर्च्छा की व्यूह-रचना

१०. पहली रक्षापंक्ति है—आवेग।

११. दूसरी रक्षापक्ति है—नीद।

१२. तीसरी रक्षापक्ति है—असंयम—इन्द्रिय और मन की चंचलता।

१३ चौथी रक्षापक्ति है—हेय और उपादेय का अविवेक। मिथ्यादृष्टिकोण। दु ख और सुख का अविवेक।

१४. विवेक चेतना का जागरण मूर्च्छा के व्यूह पर पहला प्रहार करता है।

१५ हमने राग-द्वेष को स्वभाव मान रखा है।

१६ क्रोध को स्वभाव मान रखा है।

१७ मान, माया, लोभ, घृणा, भय—ये सव हमारे अस्तित्व के अभिन्न अग वने हुए हैं। यही मूर्च्छा है।

१८. विवेक जागृत होते ही इसका प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है—

- राग मै नहीं हू। जो राग मुझे दु ख दे, वह मैं कैसे हो मकता हू ?
- द्वेष मै नही हू। जो द्वेष मुझे दु ख दे, वह मै कैसे हो सकता हू ?
- क्रोध मै नही हूं। जो क्रोध मुझे दुःख दे, वह मै कैसे हो सकता हूं।

कायोत्सर्ग प्रतिमा

- शरीर अचेतन है। मै शरीर नही हू।
- श्वास अचेतन है। मैं श्वास नहीं हू।
- इन्द्रिय अचेतन है। मै इन्द्रिय नही हू।
- मन अचेतन है। मै मन नही हू।
- भापा अचेतन है। मै भाषा नही हू।

१९ जव ये सव शात होते है तव अस्तित्व का दर्शन होता है। इनकी ऊर्मियो के नीचे जो है, वह है—अस्तित्व।

२०. सम्यग्दर्शन के पांच फलित—

- शान्ति, मुक्ति की चेतना, अनासक्ति, अनुकम्पा, सत्य के प्रति समर्पण।

आत्मा द्वारा आत्मा का दर्शन

- श्वास-स्पन्दन—आत्मा का एक हिस्सा।
- शरीर-स्पन्दन—आत्मा का एक हिस्सा।
- मन-स्पन्दन—आत्मा का एक हिस्सा।
- वेदना-स्पन्दन—आत्मा का एक हिस्सा।
- फिर आभामडल, फिर प्राण-दर्शन, फिर चैतन्य-दर्शन।

२१. द्रष्टा कौन ? दृश्य कौन ?

- चेतना विभक्त इसलिए सूक्ष्म चेतना द्रष्टा और स्थूल चेतना दृश्य।

अस्तित्व की खोज : सम्यग्दर्शन

आज हमने यात्रा प्रारम्भ की है। यात्रा के लिए हमने एक मार्ग चुना है। मार्ग पर हर कोई चलता है। हम भी चलते थे और चल रहे है। हर मार्ग पर पदचिह्न होते है। किंतु आज हमने एक ऐसा मार्ग चुना है, जिसमे कोई पदचिह्न नही है। पदचिह्न होने का अर्थ है—अनुसरण होना। जहां अनुसरण नही होता वहा कोई पदचिह्न भी नही होता। हमारा मार्ग बिना पदचिह्न का मार्ग है। इसमे कोई किसी का अनुसरण नही करता।

एक चिंतन आता है और उसका संस्कार बन जाता है। एक प्रवृत्ति होती है और उसका सस्कार बन जाता है। एक शब्द आता है और उसका सस्कार बन जाता है। चिंतन चला जाता है, प्रवृत्ति चली जाती है, शब्द चला जाता है, किन्तु वे अपने पीछे छोड जाते हैं। जो छोडा जाता है उसकी आवृत्तिया होती रहती है। सस्कार शेष रह जाते हैं।

किंतु हमने ऐसे मार्ग पर यात्रा शुरू की है, जिसमे कोई अनुसरण नही है, पदचिह्न नही है। जब चलने वाला अपने मार्ग से आसक्त हो जाता है तब पदचिह्न शेष रह जाते हैं। किन्तु जो विरत होता है, जिसे मार्ग का कोई मोह नही रहता, उसके कोई पदचिह्न नही होता। मार्ग चलने के लिए होता है, मार्ग आसक्ति के लिए नही होता, मोह करने के लिए नही होता। जो चलता है, वह चला जाता है। जो आता है, वह जाता है, पीछे कुछ भी शेष नही छोडता। ऐसा मार्ग ही उत्तम होता है। हमने भी ऐसा ही मार्ग चुना है, जहा कोई पदचिह्न नही, कोई अनुसरण नही, कुछ भी शेष नही, कोई संस्कार नही। जैसे आया वैसे गया। न स्मृति और न संस्कार।

हमने इस मार्ग पर चलने के लिए 'दर्शन' का सकल्प लिया है। हम देखे। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखे। बडा विचित्र-सा लगता है। कौ· देखने वाला और कौन दृश्य ! कौन देखे ? किसे देखे ? बहुत बडा प्रश्न है। किंतु जब हमारी देखने वाली चेतना, द्रष्टाचेतना खडित होती है तब उसके दो खण्ड हो जाते हैं—एक देखने वाली चेतना और एक दृश्य।

श्वास को देखो। मन को देखो। शरीर को देखो। विचार को देखो। आभामडल को देखो। प्राण को देखो। आप जानना चाहेंगे कि क्या श्वास आत्मा है ? क्या शरीर आत्मा है ? क्या मन आत्मा है ? क्या आभामण्डल आत्मा है ? क्या प्राण आत्मा है ? कुछ चिन्तन करेंगे तो पता चलेगा कि श्वास आत्मा है। शरीर आत्मा है। मन आत्मा है। आभामण्डल आत्मा है।

कोई अन्तर नही रहेगा। यदि शरीर आत्मा न हो तो जीवित शरीर और मृत शरीर में कोई अन्तर नही रहेगा। यदि मन आत्मा न हो तो मन-सहित और मन-रहित मे कोई अन्तर नही रहेगा। ये सब आत्मा है।

आत्मा को देखने का पहला द्वार है—श्वास। भीतर की यात्रा का पहला द्वार है—श्वास। हम बाहर ही बाहर देखते हैं। मन बाहर की ओर दौड़ता है। जब भीतर की यात्रा शुरू करनी होती है, तब प्रथम प्रवेश-द्वार श्वास से गुजरना होता है। जब श्वास के साथ मन भीतर जाने लगता है तब अन्तर्यात्रा शुरू होती है। श्वास आत्मा है, शरीर आत्मा है, मन आत्मा है। जहा तक हम पहुचना चाहते है वहां तक इनके द्वारा ही पहुचा जा सकता है।

श्वास का स्पर्श किए बिना, श्वास को देखे बिना शरीर को ठीक तरह से नही समझ सकते, नही देख सकते। शरीर को देखे बिना मन को नही देख सकते। मन को देखे बिना आभामण्डल को नही देख सकते। आभामडल को देखे विना प्राण को नही देख सकते और प्राण को देखे विना उस चैतन्य तक नही पहुच सकते, जहा हमे पहुचना है। यह पूरा का पूरा यात्रापथ है। यदि आत्मा तक पहुचना है, सूक्ष्म तत्त्व तक पहुचना है, अस्तित्व तक पहुचना है तो इसी यात्रापथ पर चलना होगा। इसी क्रम से चलना होगा।

आप चाहे कि सीधे आत्मा को देख ले—यह भ्रांति होगी। मैं कहू कि 'आत्मा को देखें'—यह भी भ्राति होगी। आप यह मान ले कि उस परम सत्ता को, परम अस्तित्व को, चैतन्य को, जो अमूर्त है, सूक्ष्म है, हमारे चर्म-चक्षुओ का विषय नही है, उसे हम देख ले—यह कहना और ऐसा समझना बहुत बडी भ्राति होगी।

'आत्मा से आत्मा को देखें।'

इसका पहला अर्थ है—मन के द्वारा श्वास के स्पन्दनो को देखे।

इसका दूसरा अर्थ है—मन के द्वारा शरीर के प्रकंपनो को, सवेदनो को देखे।

इसका तीसरा अर्थ है—विचारो को देखें।

इस स्थिति तक पहुच जाने पर आभामडल स्पष्ट हो जाता है, दृष्ट हो जाता है।

हमारे भीतर, हमारे चारो ओर सर्वत्र स्पन्दनो का संसार है। जिस व्यक्ति ने अपने आभामण्डल का अनुभव किया है, वह जानता है कि हमारे भीतर और हमारे चारो ओर स्पन्दनो का वह अनन्त सागर है, जिसकी हम कल्पना भी नही कर सकते। हमारे भीतर और हमारे बाहर (बाहर भी कुछ दूरी तक) सागर तरगित हो रहा है। आभामडल तक पहुचने के बाद हम उस प्राणशक्ति को देख सकेंगे, जिसके द्वारा ये सारे स्पदित होते हैं।

श्वास आत्मा नही है। शरीर आत्मा नही है। मन आत्मा नही है।

आभामडल भी आत्मा नही है। किन्तु ये जिस शक्ति के द्वारा आत्मा हो रहे हैं, ये जिस शक्ति के द्वारा आत्मप्रतिष्ठित और आत्मकेन्द्रित हो रहे है, वह है—प्राणशक्ति, प्राण की ऊर्जा। वह जिसके साथ सम्पर्क करती है और जिसमे संक्रांत होती है, वह शरीर सजीव हो जाता है, शरीर आत्मा बन जाता है। प्राण की ऊर्जा का मन के साथ सम्बन्ध होता है, मन सक्रिय हो जाता है, मन की सारी गतिविधि चालू हो जाती है। प्राण की ऊर्जा का श्वास के साथ सपर्क होता है, श्वास के स्पदन शुरू हो जाते है। यह हृदय की धड़कन, श्वास का स्पदन, मन की तरगे और आभामडल का बहुत सूक्ष्म और बहुरगी स्पंदन – यह सारी सक्रियता प्राणशक्ति से आ रही है। इस प्राण-शक्ति का उत्पत्ति स्रोत है—चैतन्य की धारा। प्राण की ऊर्जा हमारे समूचे शरीर-तत्र मे प्राण सचारित करती है और जो अनात्मा है, अचेतन है, उन सबको सचेतन कर डालती है।

- श्वास को देखना आत्मा को देखने का पहला पडाव है।
- शरीर को देखना आत्मा को देखने का दूसरा पड़ाव है।
- विचारो को देखना आत्मा को देखने का तीसरा पडाव है।
- आभामंडल को देखना आत्मा को देखने का चौथा पडाव है।
- प्राणशक्ति का साक्षात्कार आत्मा को देखने का पाचवा पडाव है।

ये पाच पडाव हैं। जब इन पाच पड़ावो को पार कर जाते है, तब छठे पडाव मे हम वहा पहुचते हैं, जहा हमे पहुचना है।

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखे'—यह आत्मदर्शन की बात स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की बात है। स्थूल को पकडे बिना सूक्ष्म को नही पकड़ा जा सकता। एक-एक पडाव पर भी हमे सूक्ष्मता मे जाना होगा। सामान्यतया हम स्थूल सवेदना को ही पकड पाते है। किन्तु जब मन पटु बन जाता है तब सूक्ष्म सवेदन भी पकड मे आ जाते है। जब तक मन पटु नही बनता तब तक केवल स्थूल सवेदन ही पकड मे आते हैं। मन जैसे सूक्ष्म होगा, चैतन्य की धारा जैसे तेज होगी, सूक्ष्म संवेदन पकड मे आते जाएगे।

शरीर में हृदय की धड़कन हो रही है, रक्त का संचार हो रहा है, वायु का संचार हो रहा है। शरीर के सारे अवयव सक्रिय है। शरीर के समस्त तंत्र मे सक्रियता है। शरीर-यंत्र चल रहा है, मानो कोई विशालतम फैक्टरी चल रही हो। फिर भी मनुष्य को कुछ भी पता नही है। वह जान ही नही पाता कि कुछ हो रहा है। इसका कारण है, वह सवेदनो को पकड़ ही नही पाता। बहुत गहरा ध्यान देने पर ही पता लगता है कि शरीर के भीतर कितनी सक्रियता है! नाडी चल रही है, रक्त का सचार हो रहा है, हृदय धड़क रहा है। सूक्ष्म हुए बिना इन सबका पता ही नही चलता। हमारा मन भी इतना स्थूल हो गया है कि वह स्थूल को ही पकड पाता है

सूक्ष्म को नही पकड पाता। सूक्ष्म को पकडने के लिए मन को सूक्ष्म बनाना पड़ता है। साधना का क्रम मन को सूक्ष्म बनाने का क्रम है। मन की यात्रा जैसे-जैसे आगे बढती जाएगी, मन सूक्ष्म होता जाएगा और फिर हम सूक्ष्म को पकडने मे सक्षम हो जाएगे। जब सूक्ष्म की पकड होगी तब स्थूल संवेदन छूटते जाएंगे और सूक्ष्म सवेदन हस्तगत होते जाएगे।

मन को देखने से क्या होगा ? यह एक प्रश्न है। मन को देखने का फलित है—सयम। मन को देखने से सयम निष्पन्न होता है। हमने पदचिह्न रहित मार्ग चुना है। उस पर चलने लगे हैं। मन को देखना शुरू किया तो फिर अपने-आप दृष्टि-संयम हो जाएगा। दृष्टि सयत होगी। मन बाहर नही जाएगा। वह भटकेगा नही। वह एक बिन्दु पर आकर टिक जाएगा। सहज ही संयम हो जाएगा।

हमारी यात्रा बहुत छोटी है, बड़ी नही है। भय न खाए। कहा से चलना है ? कहा पहुंचना है ? छोटा-सा मार्ग है। यात्रा छोटी और यात्रा-पथ भी छोटा। किन्तु हम देखते नही, देखना जानते नही, इसलिए रास्ता बडा लगता है।

यात्रा बहुत छोटी है। आपको केवल इस बिन्दु पर पहुचना है—'मै ज्ञाता हू। मै द्रष्टा हू।' यहा पहुचते ही आपकी यात्रा सम्पन्न हो जाती है। कितनी छोटी यात्रा है ? यात्रा छोटी, उसका पथ भी छोटा और उसका वाहन भी एक। वह वाहन है—प्राणधारा।

हम दो तत्त्वों के बीच जी रहे है—एक है ज्ञाताभाव-द्रष्टाभाव और दूसरा है तैजस, प्राण की धारा। जब हमारी प्राण की धारा का प्रवाह ज्ञाता और द्रष्टाभाव से हटकर दूसरी ओर बहने लगता है तब हमारी यात्रा का मार्ग बहुत लम्बा हो जाता है। दूरी बढती चली जाती है, व्यवधान आते चले जाते हैं, पर्दे पर पर्दे गिरते चले जाते हैं और ऐसा लगने लगता है कि प्रकाश खो गया है, चारो ओर अन्धकार ही अन्धकार छा गया है।

बाहुबली के साथ अपने मधुर सबधों की स्मृति करते हुए भरत कहता है—'मै बाहुबली से बहुत दूर रहा और वह भी मेरे से दूर रहा। वह तक्षशिला मे है और मै अयोध्या मे। पिताश्री ने हमे केवल शरीर से ही पृथक् किया है, हृदय से नही। हम दोनो के बीच मे अनेक पहाडिया हैं, नदिया हैं, जंगल है। ये सारी चीजें भले हो, कोई चिंता की बात नही है। इतने सारे व्यवधान हैं, फिर भी कोई बात नही है किन्तु हम दोनो के बीच कोई चुगलखोर न हो। यदि वह नही है तो हम बहुत निकट हैं और यदि वह है तो हम निकट होकर भी दूर है।'

ज्ञाता-द्रष्टा तथा प्राणधारा के बीच मे कोई चुगलखोर न हो तो कोई दूरी नही है। यदि मोह आ जाता है, कोई आसक्ति आ जाती है तो दूरी

वढ़ जाती है और प्राणधारा का प्रवाह मुड जाता है, दूसरी ओर वहने लग जाता है।

अस्तित्ववादी धारणा और आत्मवादी धारणा मे दो वाते फलित होती हैं—एक हैं ज्ञान-दर्शन और दूसरी है शक्ति। शक्ति के विना ज्ञान-दर्शन का उपयोग नही हो सकता। कर्मशास्त्रीय परिभाषा मे कहा जा सकता हैं—जव तक अन्तराय कर्म का क्षयोपशम नही होता तव तक न ज्ञान का उपयोग हो सकता है और न दर्शन का उपयोग हो सकता है। न जाना जा सकता है और न देखा जा सकता है। जानने और देखने का आवरण नही है। ज्ञानावरण का क्षयोपशम है, दर्शनावरण का क्षयोपशम है। जानने और देखने की क्षमता है। आवरण हट चुका है। किन्तु अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होने वाली प्राण की ऊर्जा यदि साथ मे नही मिलती है तो आख के होते हुए भी आदमी देख नही सकता, कान के होते हुए भी वह सुन नही सकता और मन के होते हुए भी वह चिन्तन नही कर सकता। मस्तिष्क विकृत होने का अर्थ है कि वहा प्राण की ऊर्जा समाप्त हो गयी है। आख का गोलक साफ है, फिर भी दिखाई नही देता, इसका अर्थ है ज्योति के केन्द्र तक प्राण की धारा नही पहुंच रही है। कान का पर्दा फटा नही है, कान के सारे उपकरण ठीक है, फिर भी सुनाई नही देता। इसका तात्पर्य है कि श्रवण का जो केन्द्र है वहां तक प्राण की धारा पहुंच नही रही है। आदमी लकवे से ग्रस्त होता है। इसका अर्थ है कि शरीर के अमुक-अमुक भाग मे रक्त का संचार रुक गया है। रक्त के सचार के रुकने का अर्थ है प्राण की धारा का रुकना। जहा प्राण की धारा नही पहुंच पाती वहां की सक्रियता नष्ट हो जाती है। प्राण की धारा के विना न ज्ञान का उपयोग होता है और न दर्शन का उपयोग होता है। ज्ञानावरण के क्षयोपशम और दर्शनावरण के क्षयोपशम से पहले अन्तराय का क्षयोपशम होता है। अन्तराय का क्षयोपशम अर्थात् शक्ति की प्राप्ति। अन्तराय के क्षयोपशम के विना अर्थात् प्राण-ऊर्जा के विना कोई भी कार्य नही हो सकता, सक्रियता नही आ सकती।

सवसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि प्राण-ऊर्जा का प्रवाह किस ओर जा रहा है? किस दिशा मे वह रहा है? यह दिशा-परिवर्तन का प्रश्न है, रूपान्तरण का प्रश्न है। व्यक्ति चाहता है कि उसके व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो। किन्तु रूपान्तरण तव तक घटित नही होता जव तक कि प्राण की धारा के प्रवाह को मोड़ा नही जाता। जव तक उसकी दिशा मे परिवर्तन नही लाएगे तव तक रूपान्तरण की वात घटित नही होगी।

धर्मशास्त्रों और धर्माचार्यो ने जो धर्म का सूत्र दिया, साधना का सूत्र दिया, योग का सूत्र दिया, वह केवल जीवन के लिए नही दिया। कुछ लोग यह मानते हैं कि धर्म और दर्शन केवल जीवन का दर्शन देते हैं, मार्ग वतलाते

है, किन्तु रूपान्तरण नही करते। यह भ्रात धारणा है। कोई भी साधना का सूत्र जीवन को नही बदलता और केवल तत्त्व की ही बात बतलाता है तो वह सही अर्थ मे धर्म का सूत्र नही होगा, अध्यात्म का सूत्र नही होगा, साधना का सूत्र नही होगा। समाज-व्यवस्था के परिवर्तन की बात मैं नही कर रहा हूं और सभवतः उसके लिए अध्यात्म के सूत्र नही दिए गए। किन्तु प्रत्येक अध्यात्म के सूत्र के द्वारा जीवन का रूपान्तरण न हो, ऐसा हो नही सकता। अध्यात्म के सूत्र से दिशा का परिवर्तन होता है और दिशा-परिवर्तन से व्यक्तित्व का रूपान्तरण होता है। सारा स्वभाव बदल जाता है, समूचा दृष्टिकोण बदल जाता है, सारी धारणा बदल जाती है। व्यक्ति इतना रूपान्तरित हो जाता है कि उसे लगने लगता है--क्या मै वही हू? या मेरे शरीर मे कोई दूसरी चेतना प्रविष्ट हो गयी है? अपने-आपको आश्चर्य होने लगता है।

हमारा यात्रा-पथ छोटा है। हमे ज्ञाता और द्रष्टाभाव तक पहुचना है और पहुंचना है एक साधन के द्वारा। वह साधन यह है कि हम प्राण की धारा को उस दिशा मे प्रवाहित करे। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा साधन नही है। जिसका आलवन लेकर हम उस स्थिति तक पहुच जाए। बीच का सारा क्रम उसे समझने के लिए, प्रवाह को मोड़ने के लिए है।

कुछ मनुष्य ज्ञाता और द्रष्टाभाव को उतना नही चाहते। उन्हे इसका अर्थ उतना आकर्षक नही लगता। वे चाहते है—स्वास्थ्य, दीर्घायु, सुख और शाति। प्रत्येक व्यक्ति, जो समाज के परिप्रेक्ष्य मे जीता है, स्वास्थ्य चाहता है। उसकी कामना होती है—स्वस्थ रहू, दीर्घायु बनू। मरना पडता है, फिर भी जितना जिया जा सके, वह उतना जीना पसन्द करता है। दीर्घायु चाहता है, पर दुःखमय दीर्घायु नही चाहता। वह सुख चाहता है और साथ-साथ शाति भी चाहता है। किन्तु क्या विवेक के बिना शाति संभव है? क्या शाति के बिना सुख संभव है? क्या शाति के बिना दीर्घायु और स्वास्थ्य सभव है? ऐसा कभी नही हो सकता। आपकी चाह का रास्ता अलग है और प्राप्ति का रास्ता उल्टा है। चाह का क्रम है—स्वास्थ्य, दीर्घायु, सुख और शाति। किन्तु चलना पडेगा उल्टा। यदि विवेक है तो शाति होगी। यदि शाति है तो सुख होगा। यदि सुखानुभूति होगी तो आयु दीर्घ होगी और स्वास्थ्य अच्छा रहेगा।

विवेक का अर्थ है—विवेचन करना, पृथक् करना, अलग-अलग करना। सबको एक समान नही मानना। इस विवेक को समझने के लिए यात्रा-पथ को ठीक से समझना होगा।

हमारे यात्रा-पथ का एक विराम है—विवेक। यात्रा-पथ के पूरे विराम ये हैं—श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, सयम, संवर, तप, निर्जरा;

अक्रिया और सिद्धि। सुनना और जानना—ये दो स्तंभ हैं हमारे यात्रा-पथ के। तीसरा है—विज्ञान। विज्ञान का अर्थ है—विवेक। यह हमारे यात्रा-पथ को आलोकित करता है। हमने सुना। हमने जाना। जानने के बाद विवेक पैदा हुआ, हमारी विवेक की चेतना जागृत हुई। हमने यह अनुभव किया कि यह हेय है, यह उपादेय है। इसे छोडना है, इसे स्वीकार करना है। यह विवेक हो गया। किन्तु जब तक यह विवेक जागृत नही होता तब तक कठिनाई समाप्त नही होती। जहा अधेरा होता है वहा सब कुछ समान दिखाई देता है, सब कुछ एक मान लिया जाता है। हेय और उपादेय का भेद नही होता। हेय भी करते चले जाते है और उपादेय भी करते चले जाते है। जब तक हेय और उपादेय का भेद नही समझते तब तक प्रकाश हमे प्राप्त नही हो सकता। जब विवेक स्पष्ट हो जाता है तब प्रत्याख्यान की बात आती है, हेय अपने-आप छूट जाता है। हेय तब तक ही रहता है जब तक हमारा विवेक जागृत नही होता। जैसे ही हेय छूटता है, प्रत्याख्यान प्राप्त हो जाता है, संयम सध जाता है। सयम के सधते ही सवर प्राप्त हो जाता है। सयम हमारी साधना है और सवर उसकी निष्पत्ति है। किसी विजातीय तत्त्व का बाहर से न आना सवर है। संयम की साधना होती है तब बाहर से आना अपने-आप बंद हो जाता है। जब सवर सधता है तब तप की चेतना शुरू हो जाती है। एक आंदोलन प्रारम्भ हो जाता है। जब तक बाहर से रसद पहुच रहा था तब तक बहुत बडी शक्ति मिल रही थी। बाहर का सारा रसद बन्द हो गया, अब जो भीतर है उसमे बड़ा आन्दोलन होने लग जाएगा। तप की प्रक्रिया एक साधना है। निर्जरा उसकी निष्पत्ति है। निर्जरा कोई साधना नही है, संवर कोई साधना नही है। ये दोनो निष्पत्तियां हैं। सयम की निष्पत्ति है सवर और तप की निष्पत्ति है निर्जरा। जब बाहर से आना बद हो जाता है और जो भीतर है, वह बाहर भागने लगता है, उसका भीतर रहना कठिन होता है, उस समय अकर्म की स्थिति प्राप्त होती है। हमारी चचलताएं समाप्त हो जाती है। हमारी प्रवृत्तियां समाप्त हो जाती है। सहज ही स्थिरता प्राप्त होती है, अकर्म की अवस्था उपलब्ध होती है। अकर्म की स्थिति प्राप्त होने के पश्चात् सिद्धि प्राप्त होती है। तब ज्ञाता और द्रष्टाभाव स्थिर हो जाता है। जिस ज्ञाता और द्रष्टाभाव के लिए यात्रा प्रारम्भ की थी, वह यात्रा सपन्न हो जाती है। यह हमारी यात्रा की मंजिल है। इसमे हमारा स्वरूप प्रकट हो जाता है। हमारा स्वरूप है—सिद्ध, बुद्ध और मुक्त।

इस यात्रा-पथ का पहला ज्योतिस्तभ है—विवेक। प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा की समूची साधना विवेक-जागरण के लिए है। जब तक विवेक जागृत नही होता तब तक आगे नही बढा जा सकता। दो बातें हैं—ज्ञाता-द्रष्टाभाव और

प्राणशक्ति। इन दोनो के बीच मे है—सघन मूर्च्छा का चक्रव्यूह। इसके रहते हुए कोई भी आगे नही बढ़ सकता। मूर्च्छा ने अपनी सुरक्षा के लिए चार रक्षापक्तिया बना रखी है .

१ पहली रक्षापक्ति है—आवेग, उत्तेजना।
२. दूसरी रक्षापंक्ति है—प्रमाद, विस्मृति।
३ तीसरी रक्षापक्ति है—आकांक्षा, इच्छा।
४ चौथी रक्षापक्ति है—अविवेक।

यदि पहले ही यह प्रयत्न हो कि हम प्रियता और अप्रियता के भाव को समाप्त कर दे, राग-द्वेष को समाप्त कर दे और अपने आत्म-अस्तित्व तक पहुए जाए, शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर ले तो यह दुःसाहस होगा। वहा तक हम पहुच ही नही पाएगे। हमे एक क्रम से चलना होगा। अविवेक सबसे सघन रक्षापक्ति है। इसको तोडे बिना आगे नही बढा जा सकता। उसको तोडने के बाद शेप तीन रक्षापक्तिया अपने-आप टूट जाती है, क्योकि ये इतनी सुदृढ नही है, जितनी कि अविवेक की रक्षापक्ति है। अविवेक की रक्षापक्ति पर प्रहार करना दु ख पर पहला प्रहार होगा। आप प्रहार करना चाहते हैं, सभी रक्षापक्तियो का भेदन करना चाहते है और उन्हे भेद कर अपने अस्तित्व तक पहुचना चाहते है। किन्तु प्रश्न है कि यह कैसे किया जाए? उसकी प्रक्रिया क्या है? अभ्यास का क्रम क्या है? साधना क्या है?

इस साधना के दो प्रयोग है। एक है—विवेक-प्रतिमा का और दूसरा है—कायोत्सर्ग-प्रतिमा का। तीन या छह महीने तक इनका प्रयोग चले। चैतन्य के जागरण मे निश्चित ही सफलता मिलेगी।

विवेक-प्रतिमा

कायोत्सर्ग की मुद्रा मे बैठे या खड़े रहे। मन को शात करे। चिंतन या विचार के स्तर पर नही किन्तु अनुभव के स्तर पर चले। विचार के स्तर मे तथा अनुभव के स्तर मे बहुत बडा अन्तर है। विचार सतही होता है। उसमे गहराई नही होती। एक आता है, दूसरा चला जाता है। जब अनुभव की गहराई मे पहुंच जाते है तब उसमे तन्मयता आ जाती है और एक तादात्म्य सबध जुड जाता है। उस तादात्म्यभाव के साथ आप देखे—मैं क्रोध नहीं कर रहा हू, क्योकि क्रोध मुझे दुःख देता है। उसे मै कैसे अपनाऊं? क्या कभी अपना अस्तित्व अपने-आपको दुःख दे सकता है? अपना स्वरूप अपने-आपको कष्ट दे सकता है? 'मै क्रोध नही हू' 'मेरी चेतना क्रोध नहीं है' प्राण की धारा उसके साथ जुड रही है और मैं क्रोध बन रहा हूं। मुझे विवेक कहता है कि प्राण की धारा के साथ क्रोध को न जोडू। प्राण की धारा को हटाएं और क्रोध को अपने उपयोग मे, अपनी चेतना मे, अपने ज्ञान मे अलग

अनुभव करे। सोचें नही, विचारे नही। यदि सोचेंगे और विचारेंगे तो वह अचेतन मन तक नही पहुचेगा। स्थूल मन के स्तर पर रूपान्तरण नही हो सकता। रूपान्तरण अवचेतन मन के स्तर पर होता है। उस स्तर पर गए बिना रूपांतरण नही हो सकता। अध्यवसाय का स्तर अवचेतन मन का स्तर है। अनुभव के स्तर पर पहुचकर आप अनुभव करे—'मै क्रोध नही हू।' 'मै अभिमान नही हू।' 'मै लोभ नही हू।' 'मैं घृणा नही हू।' 'मै राग नही हू' 'मैं द्वेष नही हू।' यह मेरा स्वभाव नही है। यह मेरा धर्म नही है। इस गहराई में जाकर आप अनुभव करे और करते चले जाए। वहां जो शेष बचेगा वह 'मैं हू।' यह विवेक की पद्धति है। इसे हटाते चले जाओ, काट-छाट करते चले जाओ, तोड़ते चले जाओ, जो शेष बचेगा, वह 'मै हू'। जो शेष बचता है, जिसका विभाजन नही होता, वह 'मै हू'। इस अनुभव मे विवेक जागृत हो जाता है। यही है—सम्यग्दर्शन।

जब सघन मूर्च्छा की गांठ खुलती है तब हमारा विवेक स्पष्ट हो जाता है। इससे स्पष्ट अनुभव होने लग जाता है कि 'मै कौन हू ?' आज तक हजारो बार यह पूछा जाता रहा है कि 'मै कौन हू ?' परन्तु प्रश्न सदा अनुत्तरित ही रहा। इस विवेक-प्रतिमा द्वारा उसका उत्तर हाथ लग जाता है। यह स्पष्ट अनुभव होने लगता है कि 'मैं वह हू।' प्रश्न सदा के लिए समाहित हो जाता है। विवेक करे, किन्तु प्रतिमा होकर करे, आदमी होकर नही। प्रतिमा जितनी शात, स्पष्ट और स्थिर होती है, इसी अवस्था मे जाकर विवेक करे। प्रतिमा की भाति शात, स्थिर, निश्चल होकर करे। अस्तित्व के जागरण मे, अस्तित्व-बोध की यात्रा मे यह विवेक-प्रतिमा बहुत सहायक सिद्ध होगी।

कायोत्सर्ग-प्रतिमा

इसका अर्थ है—शरीर को छोडे। 'आचाराग सूत्र' मे एक शब्द है—मुयच्चा—मृतार्चा। अर्चा का अर्थ है—शरीर। जब तक अर्चा नही मरती, शरीर नही मरता तब तक धर्म को नही जाना जा सकता। यह वैज्ञानिक सूत्र है।

धर्म का पहला रहस्य है—विवेक का जागरण। यह तब समझ मे आता है जब शरीर मर जाता है। कायोत्सर्ग शरीर के मारण की प्रक्रिया है। शरीर को मार दें, छोड दे। जीवन का सार है—जीवित शरीर का मृत-सा हो जाना।

आदमी मरा या नही, इसे जानने के लिए मृत व्यक्ति के नथुनो पर रुई का फोवा रखा जाता है। यदि श्वास का स्पंदन नही है तो आदमी मृत है। शरीर का स्पदन और श्वास का स्पंदन—ये जीवित रहने के दो मूलभूत

प्रमाण हैं। यदि दोनो नही होते है तो मृत्यु घटित हो जाती है।

कायोत्सर्ग मरण की प्रक्रिया है, मृत्यु की प्रक्रिया है। इसमे दोनो बाते घटित होती है। शरीर इतना शिथिल कि उसमें कोई प्रवृत्ति नही होती। श्वास इतना मद कि उसके स्पदन अत्यन्त हल्के हो जाते हैं। लगता है कि श्वास बन्द हो गया है।

कायोत्सर्ग मे दो बाते अवश्य होनी चाहिए—शरीर शात, श्वास शात। शरीर शात है और श्वास शांत है तो काया का विसर्जन है, काया की मृत्यु है। कायोत्सर्ग विवेक की बहुत बडी प्रक्रिया है। यदि हमने यह समझ लिया कि यह शरीर हमारा अस्तित्व नही है, यह श्वास हमारा अस्तित्व नही है, हमारा अस्तित्व श्वास से हट कर है, हमारा अस्तित्व शरीर से हट कर है तो विवेक फलित हो जाता है। ये एक पहलू के दो रूप है—श्वास अस्तित्व, अस्तित्व श्वास। शरीर अस्तित्व और अस्तित्व शरीर। शरीर आत्मा और आत्मा शरीर। यह इतना जो एकीकरण हो रहा है, यह मूर्च्छा की सघन रक्षापक्ति है। इसमे लगता नही कि ये दो है। अद्वैत, कोरा अद्वैत-सा लगता है। जब कायोत्सर्ग का अभ्यास पुष्ट होता है तब शरीर और आत्मा, श्वास और आत्मा के पार्थक्य का स्पष्ट भान होने लगता है। ऐसा अनुभव होता है कि मानो शरीर छूट गया। प्रवृत्ति इतनी शांत हो जाती है, ऐसा अनुभव होता है कि शरीर है ही नही और कभी-कभी ऐसा अवसर भी आ जाता है कि साधक पूछ बैठता है—अरे, मेरा शरीर कहा चला गया ? यह अनहोनी बात नही है। ऐसा होता है। कायोत्सर्ग का अभ्यास भेदज्ञान की साधना है।

एक साधक गुरु के पास जाकर बोला—'मेरा मोह शात नही हो रहा है। मान की मात्रा भी नही घट रही है। अह का आवेश भी है। यह नही हो रहा है, वह नही हो रहा है।' उसने प्रश्नो की झडी लगा दी। आचार्य शातभाव से सुनते रहे। उन्होने कहा—'चुप रहो। मेरी शाति भंग मत करो। चले जाओ। छह महीनो तक एक प्रयोग करो कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। फिर मेरे पास आना।'

शिष्य अपने स्थान पर आ गया। छह महीने तक उसी प्रक्रिया मे लगा रहा। बहुत ही तन्मयता से वह प्रयोग करता रहा। छह महीने बीते। वह आचार्य के पास आया। आचार्य ने कहा—'कुछ पूछना चाहते हो ?' शिष्य बोला—'कुछ भी नही पूछना चाहता। सारे प्रश्न समाहित हो गए है। मन मे प्रश्न रहे ही नही। सब समाप्त हो चुके हैं।'

प्रश्न तब तक उभरते हैं जब तक हमारा स्तर बौद्धिक होता है; अनुभवात्मक नही होता। श्रवण और ज्ञान बौद्धिक पक्ष के प्रतिनिधि हैं। ज्ञान के बाद आता है—विज्ञान। विज्ञान अर्थात् विवेक। यहा से साधना प्रारम्भ होती है, अनुभव का स्तर यात्रा-पथ बनता है।

सम्यग्दर्शन की साधना के दो सूत्र है—विवेक-प्रतिमा और कायोत्सर्ग-प्रतिमा। दोनों की चर्चा प्रस्तुत की है। प्रश्न होता है कि विवेक-प्रतिमा की साधना से क्या फलित होता है ? विवेक-जागरण से क्या होता है ? इसके पाच परिणाम हैं·

पहला परिणाम है—शाति। सम्यग्दर्शन के विना शाति नही हो सकती। हेय और उपादेय को समझे विना फलित नही होती।

दूसरा परिणाम है—मुमुक्षुभाव। बंधन मे आदमी रहना नही चाहता। जिसे शांति का अनुभव हो चुका है वह बंधन मे रहना नही चाहेगा। जिससे शांति मिलती है उसी ओर जाना चाहेगा। फिर मोह की मूर्च्छा सघन नही होगी। सवेग का अर्थ है—मुमुक्षा—मुक्त होने की इच्छा।

तीसरा परिणाम है—अनासक्ति। जो शाति और सवेग का अनुभव कर चुका है, वह कही आसक्त नही होगा। वह मजिल तक पहुचेगा किन्तु पथ मे कही आसक्त नही होगा। वह मानेगा कि मार्ग मात्र चलने के लिए है। उसमें आसक्त होने जैसी वात नही है।

चौथा परिणाम है—अनत करुणा। क्रूरता समाप्त हो जाएगी। अनत मैत्री का विकास होगा।

पाचवां परिणाम है - सत्य के प्रति समर्पण। वह साधक सदा के लिए सत्य के प्रति समर्पित हो जाएगा। फिर वह असत्य के लिए कोई काम नही करेगा।

विवेक-जागरण के ये पांच फलित है।

हमारी यात्रा का पहला ज्योतिस्तम्भ है—विवेक-जागरण। अस्तित्व-दर्शन का पहला साधन है—सम्यग्दर्शन। सम्यग् का दर्शन अर्थात् विवेक-चेतना का जागरण।

प्रवचन २ | संकलिका

१. संजमति णो पगब्भति । (आयारो, ५।५१)

२. एगप्पमुहे विदिसप्पइण्णे, निव्विन्नचारी—(आयारो, ५।५४)

- मुमुक्षु इन्द्रियो का संयम करता है, उनका उच्छृंखल व्यवहार नही करता ।
- मुमुक्षु अपने लक्ष्य की ओर मुख किये चले । वह चेतना-जागरण की विरोधी दिशाओ का पार पा जाए, पदार्थ के प्रति विरक्त रहे ।

३. निमित्त से बचें या उपादान को निर्मल करे ।

३ हेय-उपादेय का विवेक होने पर हेय का प्रत्याख्यान होता है ।

५ अतीत का प्रतिक्रमण और अनागत का प्रत्याख्यान ।

- अनागत का प्रत्याख्यान होने पर वर्तमान का संवर, फिर अतीत की शुद्धि ।

६ अपने केन्द्र या धुरी से खिसकी हुई चेतना का अपने केन्द्र पर लौट आना ।

७ प्रत्याख्यान मूर्च्छा के व्यूह पर दूसरा प्रहार है ।

८ प्रत्याख्यान और सवर के वीच का तत्त्व है—संयम ।

- सयम से प्रत्याख्यान सिद्ध होता है और संवर निष्पन्न ।
- संयम साधना है और सवर निष्पत्ति ।

संयम की साधना के आयाम

- अस्पर्श—विषय का स्पर्श न करे ।
- स्पर्श मे अस्पर्श— विषय का स्पर्श होने पर भी राग-द्वेष की चेतना को न जोडे ।
- प्रतिसलीनता -प्राण का प्रतिसहरण ।
- इन्द्रिय-चेतना के प्रति जागरूकता—वृत्ति को देखना, इन्द्रिय चेतना द्वारा होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति को देखना ।

प्रतिसंलीनता

- इन्द्रिय, शरीर, वाणी, मन और श्वास की सक्रियता प्राण के द्वारा ।
- प्राण-धारा को खींच लेने पर वे निष्क्रिय हो जाते हैं ।

- संकल्प-शक्ति के द्वारा
- तन्मूर्ति-ध्यान के द्वारा
- एकाग्रता के द्वारा

} प्राण-शक्ति को खीचकर किसी एक विन्दु पर ले जाए !

संयम के अर्थ

- अस्वीकार—इच्छा उत्पन्न हो, उसका उत्तर न दे ।
- सतत संकल्प—दृढ़ निश्चय करे । इतना दृढ़ निश्चय करे, जिससे वातावरण या व्यक्ति आंदोलित हो जाए ।
- दीर्घकालिक एकाग्रता ।
- तन्मूर्ति-ध्यान—लक्ष्य के रूप में स्वय का परिणमन ।
- ज्ञान-तन्तुओ को कृत्य का निर्देश ।

ज्ञाता-द्रष्टा का प्रयोग

- मन को भीतर ले जाए ।
- अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप का अनुभव करे ।
- वृत्तियो को तटस्थभाव से देखते जाए ।

प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास : संयम

हमारे अस्तित्व के दो महास्रोत है—शक्ति और चेतना। चेतना के द्वारा हम बाह्य को प्रकाशित करते है और अपने-आप भी प्रकाशित होते है। शक्ति के बिना चेतना हो सकती है, पर उसका उपयोग नही हो सकता। मस्तिष्क के होने पर भी यदि प्राणशक्ति स्वस्थ नही है तो मस्तिष्क का कोई उपयोग नही हो सकता। इन्द्रिय-चेतना है, पर यदि उसके साथ प्राण-ऊर्जा का योग नही है तो इन्द्रिय-चेतना का कोई उपयोग नही हो सकता। शक्ति का स्वस्थ योग मिलने पर ही चेतना काम कर सकती है।

शक्ति का विकास और चेतना का विकास—दोनो साथ-साथ चलते है। शक्ति का विकास प्रत्याख्यान के द्वारा हो सकता है। विवेक-चेतना के जागरण पर जो पहली प्रतिक्रिया होती है, वह है प्रत्याख्यान। जैसे ही विवेक-चेतना जागती है, हेय और उपादेय—दोनो जान लिए जाते हैं। इस स्पष्ट ज्ञान के बाद जो हमारी प्रतिक्रिया होती है, वह है प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का अर्थ है छोडना। प्रत्याख्यान हो सकता है शक्ति के प्रयोग के द्वारा।

शक्ति का रूप है—सकल्प। सकल्प अर्थात् इच्छाशक्ति। दो आदमी हैं। एक बैठा है, एक चल रहा है। प्रश्न होता है—ऐसा क्यो? दोनो क्यो नही चल रहे हैं? दोनो क्यों नही बैठे है? इस अन्तर के पीछे एक शक्ति जो काम कर रही है, वह है इच्छाशक्ति। प्राणी मे इच्छाशक्ति होती है। वह अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा ही किसी कार्य मे प्रवृत्त होता है, कोई कार्य करता है, और किसी कार्य से निवृत्त होता है, कोई कार्य नही करता। इच्छा होती है तब चलने लग जाता है। इच्छा होती है तब बैठ जाता है। इच्छा होती है तब बोलने लग जाता है। इच्छा होती है तब मौन हो जाता है। इच्छा होती है तब खाने बैठ जाता है और इच्छा होती है तब आराम करने लग जाता है। उसका सारा काम इच्छा प्रेरित होता है।

दार्शनिक युग मे एक प्रश्न उठा था कि वायु जीव है या नही? कुछ दार्शनिको ने कहा—वायु जीव है। कुछ दार्शनिको ने कहा—वायु जीव नही है। वायु को जीव स्वीकार करने वालो ने तर्क दिया—वायु गतिमान् है, इसलिए जीव है। फिर प्रश्न हुआ कि पुद्गल भी गतिमान् है, वह भी जीव होना चाहिए। कहा गया—केवल गतिमान् होने से ही जीव नही होता। वायु दूसरे के द्वारा प्रेरित होकर गति नही करती, वह स्वत गतिमान् है।

पुद्गल स्वत. गतिशील नही है। वह दूसरे की प्रेरणा से गतिशील है, इसलिये वह जीव नही है। जिसमें गति करने की इच्छा है, गति की स्वतः प्रेरणा है, वह जीव है। एक ढेला फेंका। वह भी गति करेगा। एक गोली दागी। वह भी बहुत दूर तक गति करेगी। यह स्व-प्रेरित गति नही है। यह पर-प्रेरित गति है। जो स्व-प्रेरित गति करता है, वह प्राणी हो सकता है।

जीव का बहुत वड़ा लक्षण है—इच्छाशक्ति और सकल्पशक्ति। यह जीव की पहचान है। जिसमें संकल्पशक्ति नही होती, वह जीव नही हो सकता। सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवो मे, चाहे फिर वे पृथ्वी के हो या वनस्पति के, उनमें भी इच्छाशक्ति होती है, सकल्पशक्ति होती है।

शक्ति का एक रूप है—सकल्पशक्ति, एक रूप है—एकाग्रता, एक रूप है—नियामक शक्ति।

हमारे शरीर की शक्ति का केन्द्र है—नाडी-सस्थान। शरीर मे यदि नाड़ी-सस्थान न हो तो शरीर का कोई बहुत बडा मूल्य नही है। कुछ भी मूल्य नही है। नाडी-संस्थान में ज्ञानवाही और क्रियावाही—दोनो प्रकार के नाडी-मडल हैं। यदि इन दोनो प्रकार के नाडी-मंडलो को निकाल दिया जाए तो न ज्ञान होगा और न क्रिया होगी।

हमारी चेतना और शक्ति—इन दोनो के सभाव्य केन्द्र इस नाडी-सस्थान मे हैं। आप यह न भूलें कि हमारे अस्तित्व के दो मूल स्रोत हैं—चेतना और शक्ति। उनका संवादी केन्द्र है हमारा स्थूल शरीर। सूक्ष्म शरीर मे जो स्पंदन होगे, उनके सवादी केन्द्र इस स्थूल शरीर मे हैं। विना संवादी केन्द्रो के अभिव्यक्ति नही हो सकती। अभिव्यक्ति के लिए माध्यम चाहिए। क्योकि जब भीतर से बाहर आना होता है तब वह बिना माध्यम के नही हो सकता। यह माध्यम है—नाड़ी-संस्थान। वह ज्ञानवाही नाडी-मंडल के द्वारा आत्म-चेतना को अभिव्यक्त करता है तथा क्रियावाही नाडी-मडल के द्वारा आत्म-शक्ति को अभिव्यक्त करता है।

पैर मे काटा लगा। हाथ उसे निकालने के लिए तत्पर हो जाता है। यह क्यों और कैसे होता है? ज्ञानवाही नाडी-मडल इस वात को ग्रहण कर मस्तिष्क तक पहुचाता है और मस्तिष्क हाथ के ज्ञानवाही तंतुओ को आदेश देता है कि काटे को निकालो। हाथ इस कार्य मे तत्पर हो जाता है।

समूचा नाडी-संस्थान साधना की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। साधक यदि नाडी-सस्थान को नही समझता है तो वह साधना में सफल नही हो सकता।

हम प्रत्याख्यान करते हैं। प्रत्याख्यान का अर्थ है—छोडना। इससे संयम हो गया। क्या छोड़ देने मात्र से सयम हो गया? आपने संकल्प-शक्ति को जागृत कर लिया। आपने संकल्प कर लिया कि आज से मैं यह नही

करूगा जो पहले करता था। यह संयम हो गया, किंतु संकल्प-शक्ति का एक ही काम नही है। केवल सयम होना ही पर्याप्त नही है। उसकी सिद्धि होनी चाहिए। उसकी सिद्धि के लिए और बहुत कुछ करना होता है। संयम किया, संवर हो गया। अनागत का प्रत्याख्यान किया, वर्तमान का संवर हो गया। किंतु अनागत का प्रत्याख्यान पुष्ट कैसे हो ? क्या केवल संकल्प के सहारे लबी यात्रा की जा सकती है ? सकल्प के दरवाजे तो बद हो गए, किंतु भीतर जो कूडा करकट जमा हुआ था, उसे निकालना भी आवश्यक होता है। उसे निकालने की प्रक्रिया के दो रूप हैं। एक है निमित्तो से संवंधित और दूसरा है उपादान से संवधित।

संयम की साधना प्रारम्भ कर दी। निमित्त आते है और मन को आदोलित कर देते हैं। कोई गाली आती है, मन आदोलित हो जाता है। कोई प्रशंसा आती है, मन आदोलित हो जाता है। कोई शब्द, रूप, रस और गन्ध आती है, मन आंदोलित हो जाता है। संयम को धक्का लगने लगता है। क्या हम निमित्तो से वच सकते हैं ? सयम की साधना मे एक अभ्यास चालू किया गया कि निमित्तो से वचो, विषयो का प्रत्याख्यान करो, विषयो से वचो। ऐसा करना कोई कठिन वात नही है, साधारण वात है।

वच्चा ऊधम मचा रहा है। मां ने उसे चाटा मारा। चाटा मारते ही मा के स्नायु-संस्थान में आवेश का अंकन हो जाता है। अव वह सस्कार वन जाता है। जव भी ऐसा प्रसग आता है, न चाहते हुए भी हाथ उठ जाता है।

निमित्तों का वडा महत्त्व है। नाडी-सस्थान जिस वात को पकड लेता है फिर वह प्रत्याख्यान से टल नही सकता। मादक वस्तुओ का सेवन करने वाले जानते हैं कि मादक वस्तुओं का सेवन अच्छा नही है। वे नही चाहते कि मदिरा पी जाए, पर जव समय आता है तव उनकी सारी नाडियां व्याकुल हो जाती हैं। माग इतनी प्रवल हो जाती है कि न पीने की वात नीचे दव जाती है और वह नाडी-सस्थान विवश करता है उसे पीने के लिए। नाडी-संस्थान वहुत वडा निमित्त है। सयम की साधना मे एक कठिनाई है वाहर के निमित्तो की और दूसरी कठिनाई है स्नायु-संस्थान की। सव कुछ यही नही है।

परिस्थितिवाद के विचारक और निमित्तवादी विचारक सारा का सारा दोष निमित्तो पर डालते हैं, परिस्थितियो पर डालते है। जैसी परिस्थिति, जैसा वातावरण, वैसा परिणाम। वे इनसे आगे नही जाते। उनके सामने एक वहुत वडा प्रश्न यह है कि मस्तिष्क के केन्द्रो का नियामक कौन तत्त्व है ? एक मत है—हमारा नाडी-संस्थान मस्तिष्क के केन्द्रो का नियमन करता है। किन्तु यह कोई समाधान नही है।

शरीर का नाडी-सस्थान और मस्तिष्क का नाडी-सस्थान जितने केंद्रो का नियत्रण करता है, उसका मूल कारण, उपादान कारण, मस्तिष्क में नही

है, किन्तु यह है सूक्ष्म शरीर मे और सूक्ष्म शरीर मे उपादान आता है आत्मा से।

हम निमित्तो से बचे। प्रत्याख्यान के बाद हम जारूगक रहे कि ऐसी कोई भी प्रवृत्ति न हो, जो आदत बन जाए। हम पूर्ण जागरूक और सचेत रहे। यह प्रत्याख्यान हो गया किन्तु जब तक उपादान शुद्ध नही होगा तब तक भीतर से आने वाला रुकेगा नही। आपने आख बन्द की, बाहर का रूप समाप्त हो गया किन्तु कोई भी आदमी जीवन-भर आखे बन्द कर बैठ नही सकता। आख चैतन्य का वातायन है, झरोखा है। इसमे से छनकर हमारे चैतन्य की रश्मिया बाहर आती है। उसे बन्द क्यों किया जाए? न इद्रिय के वातायन को समाप्त किया जा सकता है और न स्नायु-सस्थान को रोका जा सकता है, न मन की गति को सर्वथा रोका जा सकता है।

निमित्तो से अल्पकाल के लिए बचने की बात समझ मे आ सकती है, किन्तु यह सार्वभौम या सार्वकालिक हो, यह बात समझ मे नही आती। ऐसा होना भी नही चाहिए। हमारा यह तप जड़ता की ओर न बढे। चेतना का तप चलता रहे। हम इन्द्रियो का उपयोग करें, मन का उपयोग करे और नाडी-सस्थान को इतना स्वस्थ रखे, जिससे कि हमारा मस्तिष्क हमारा सहयोग कर सके।

बहुत सारे लोग अज्ञानवश ऐसी क्रियाए कर लेते हैं, जिनसे उन्हे भारी हानि होती है। वे तपस्या के नाम पर तथाकथित तपस्या करते हैं। उनका नाड़ी-संस्थान इतना दुर्बल और क्षीण हो जाता है कि वह तपस्या उनको विकास की ओर नही ले जाती, ह्रास की ओर ले जाती है।

तपस्या का अर्थ है—प्राणशक्ति का विकास। यदि प्राणशक्ति का विकास, ऊर्जा का विकास नहीं होगा तो चैतन्य का विकास कैसे होगा? तपस्या इसलिए की जाती थी कि प्राणशक्ति का विकास हो, ऊर्जा का विकास हो। किन्तु तपस्या का अर्थ समझा गया कि शक्ति कम हो, शरीर क्षीण हो। यह बहुत बड़ी भ्रांति है। इसे हम निकाल दें। हम इस बात पर ध्यान केन्द्रित करें कि शक्ति का ह्रास जिससे हो, वह धर्म का कार्य नही हो सकता।

हम शक्ति के केन्द्रो को बन्द नही करेगे, वातायनो को खुला रखेंगे। किन्तु यह सबसे बड़ी कठिनाई है कि जब निमित्त हैं तो उनके दोषो को कैसे रोका जा सकता है? इनसे बचने का उपाय क्या है? इनसे बचने का उपाय है—उपादान की शुद्धि। मनुष्य यान्त्रिक जीवन जी रहा है। कम्प्यूटर के आविष्कार के बाद यह सिद्ध हो गया कि मनुष्य यांत्रिक है। जो कुछ मनुष्य करता है, कर सकता है, वह सब कुछ कम्प्यूटर करता है। वह कविता बनाता है, प्रश्न करता है, प्रश्न के समाधान प्रस्तुत करता

है, गणित के जटिलतम प्रश्न हल करता है, अभिवादन करता है, स्मृति रखता है, अनागत की कल्पना करता है, सोचता है, मीमासा करता है, विश्लेपण करता है, विवेक करता है। सब कुछ करता है, जो मनुष्य करता है।

फिर प्रश्न उठा कि मनुष्य और यत्र मे अन्तर क्या है? भेदरेखा क्या है? मनुष्य आत्मवान् है, यत्र आत्मवान् नही है। प्राणी और अप्राणी के बीच की यह भेदरेखा है।

महावीर से पूछा गया—'क्या आत्मा श्वास लेती है?'

'नही, वह श्वास नही लेती।'

'क्या आत्मा सोचती है।'

'नही, आत्मा नही सोचती।'

'क्या आत्मा खाती-पीती है?'

'नही, आत्मा न खाती है और न पीती है।'

महावीर ने सारे उत्तर नकारात्मक भाषा मे दिए। वे 'नही', 'नही' कहते गए। नेति-नेति।

फिर प्रश्न हुआ कि मनुष्य आत्मवान् कैसे है? वह आत्मवान् कैसे बने? इस परिधि मे रहकर कोई भी आत्मवान् नही बन सकता, सयम की साधना नही कर सकता, उपादान की शुद्धि नही कर सकता। इस परिधि को तोडना होगा। यह परिधि चेतना की परिधि नही है। यह मात्र एक यात्रिक परिधि है, चेतना के आसपास मे होने वाली। इस परिधि को तोड़कर गहरे मे जाना होगा। यदि हम वहां तक पहुच गए कि जहां हम केवल जानने वाले है, केवल देखने वाले है, खाने-पीने वाले नही, सोचने वाले नही, विश्लेपण करने वाले नही, केवल जानने और देखने वाले, केवल ज्ञाता और द्रप्टा—वह होगी प्राणी और अप्राणी के बीच की भेदरेखा, जीव और अजीव के बीच की भेदरेखा। यह उपादान है। इस उपादान तक पहुचते ही यात्रिक जीवन समाप्त हो जाता है और सयम की सिद्धि का सूत्र प्राप्त हो जाता है। संयम की सिद्धि का अर्थ है—ज्ञाता द्रप्टाभाव की अनुभूति। जब तक ज्ञाता-द्रप्टाभाव की अनुभूति होती रहेगी, सयम शुद्ध होता चला जाएगा। जब-जब यह अनुभूति छूटेगी, तब-तब प्रत्याख्यान पर धक्का लगता रहेगा।

हमारी चेतना के दो विशाल क्रीडा-प्रागण बने हुए है। एक का नाम है - विपय-रमण और दूसरे का नाम है—आत्म-रमण। चेतना दोनो मे क्रीडा करती है। कभी वह विपय-रमण करने लगती है और कभी आत्म-रमण। जब जीवन की यात्रिक प्रक्रिया चलती है तब चेतना विपयो मे क्रीडा करती है, उसी ओर भागती है। यह बाहर की प्रक्रिया है।

आत्म-रमण का अर्थ है—उपादान तक पहुचना, अपने स्वरूप मे क्रीड़ा करना। चिंतन की परिधि, श्वास की परिधि तथा सारी यात्रिक परिधियो को तोड़कर ज्ञाताभाव औत द्रष्टाभाव की सीमा मे पहुच जाना आत्म-रमण है और वही चेतना का स्वाभाविक क्रीड़ा-प्रागण है।

सयम को वाहर से नही लाया जा सकता। उसका स्रोत वाहर नही है। उसका उपादान है—भीतर मे, गहरे भीतर मे। वह है—ज्ञाताभाव, द्रष्टाभाव। जव चेतना ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव से जुड जाती है, उसमे रमण करने लग जाती है तव निमित्तो का प्रभाव नष्ट हो जाता है। हजारो निमित्त मिलकर भी चेतना को प्रभावित नही कर सकते। जव तक चेतना उस उपादान तक नही पहुचती, ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव मे रमण नही करती, तव तक निमित्त नही मिलने पर भी मनुष्य निमित्तो की टोह मे जाता है, उनको पैदा करता है, उनके पास जाने का प्रयत्न करता है। वहां तक पहुचने के लिए वृत्तिया आदोलित होती है।

सयम की साधना का पहला सूत्र है—चेतना को ज्ञाताभाव-द्रष्टाभाव से सयुक्त करना।

सयम की साधना का दूसरा सूत्र है—देखना। आख से केवल देखना, कान से केवल सुनना, जीभ से केवल चखना। इनके साथ न राग को जोड़े और न द्वेष को जोडे। कोरा देखे, कोरा सुने और कोरा खाए। अच्छे-बुरे का विकल्प न करे। चेतना की इस निर्मल धारा मे, चेतना की इस गगा मे प्रियता और अप्रियता, राग और द्वेष की गदगी को न जुडने दें। यह दूसरा सूत्र है।

पहला सूत्र है निमित्तो से वचने का और दूसरा सूत्र है चेतना की धारा के साथ विकल्पो को न जोडने का। किन्तु ये दोनो तव तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि उपादान के खूटे पर वह गाय नही वन्ध जाती। इसके विना सयम की साधना भी सफल नही होती और प्रत्याख्यान पर लगने वाले धक्को को भी नही रोका जा सकता। प्रत्याख्यान से सयम फलित होता है और संयम की निष्पत्ति है—असम्पर्क।

प्रश्न यह है—उपादान तक कैसे पहुचा जाए ? उस तक पहुचने की प्रक्रिया या प्रयोग क्या है ?

पहले हम निमित्तो से चले। वाहर के निमित्तो को एक वार छोड़ दे। स्नायु-सस्थान मे आदत अर्जित है या मौलिक, इससे निपटने के लिए भावना का प्रयोग करे। प्राचीन भाषा मे जिसे हम भावना कहते हैं, मनो-विज्ञान की भाषा मे इसे सुझाव कहा जाता है। ज्ञान-तंतुओ को सुझाव दें, निर्देश दें। यह निर्देशन की क्रिया सुझाव की क्रिया है। आदत के परिवर्तन मे यह वहुत सहायक प्रक्रिया है। कोई भी इद्रिय की उच्छृंखलता है, चचलता

है, विक्षेप है और हम नही चाहते कि ऐसा हो तो हम उन ज्ञान-तन्तुओ को निर्देश दे। पहले हम उसके केन्द्र को पकडे और फिर सुझाव दे, निर्देश दे। पहले हम यह जाने कि जिस वृत्ति को हमे बदलना है, उनका केन्द्र कौन-सा है ? उस केन्द्र को पहचानकर हम निर्देश दे। वहा के ज्ञान-ततु हमारा निर्देश मानने लग जाएंगे। निर्देश भी अत्यन्त प्रियता के साथ देना चाहिए। भाषा मधुर हो। कठोर और कर्कश भाषा मे दिए गए निर्देश उतने कार्यकारी नही होते। प्रियता से दिए गए निर्देश बहुत सफल होते है। ज्ञान-तन्तु अत्यन्त कोमल हैं। कोमलता ही उन्हें इष्ट है। निर्देश कोमल हो, कठोर न हो। धीरे-धीरे वे ज्ञान-ततु आपके निर्देशो के अधीन हो जाएगे। वे आपकी बात मानने लग जाएगे।

केवल रटन से कोई निष्पत्ति नही होती। रटन के साथ भावना हो, तादात्म्य हो, तभी वह सफल होता है। एक आदमी 'संसार अनित्य है' 'शरीर अनित्य है'—ऐसा बार-बार कहता रहे। एक दिन नही, एक माह नही, वर्ष-भर भी रटन लगाता रहे, परन्तु उसकी यह रटन तब तक सफल नही हो सकती जब तक कि वह अपने मन को इस अनित्यता के भाव से भावित नही कर लेता, वासित नही कर लेता, उसके साथ तदात्म नही हो जाता, उस भावना को हृद्‌गत नही कर लेता। जब तक वह बात वाणी मात्र का विषय बनी रहती है तब तक वह निष्पत्ति नही हो सकती, जो हम चाहते हैं। हम जो होना चाहते हैं या हम जो करना चाहते हैं, उसमे ज्ञानतंतुओ को तन्मय बना दे। यही भावना है। हम तन्मूर्तिक बन जाएं।

भगवान् महावीर ने एक शब्द दिया—तन्मूर्ति। बहुत महत्त्वपूर्ण शब्द है। उन्होने कहा—'तुम चलते हो। एक है गति और एक है गतिमान्। ऐसा न रहे। दो न रहें। गति और गतिमान्—ये दो न रहें। तुम स्वयं गतिमान् मत रहो, गति बन जाओ।' गतिमान् और गति—यह द्वैत मिट जाए। अद्वैत रहे। जो गतिमान् है वही गति है और जो गति है वही गति-मान् है। यही तन्मूर्ति है। यही भावना है।

उपादान तक पहुंचने का यह एक प्रयोग है।

उपादान तक पहुंचने का दूसरा प्रयोग है—तटस्थ रहकर वृत्तियो को देखना। वृत्तियो को रोकने का प्रयत्न न हो। जो विचार आ रहे हैं, फिर चाहे वे विचार वासना के हो या अन्य किसी वृत्ति के, आने दे। उन्हे रोकें नही। उन्हे मात्र देखें। जो अर्जित है, वह तो आएगा ही, उभरेगा ही। इसमें बुराई क्या है ? कोई बुराई नही है। आने का अर्थ है विपाक। जो एकत्रित है उसका विपाक होगा ही। उसे रोको मत। विपाक आएगा और चला आएगा। रोकने का अर्थ है उसे और अधिक पुष्ट करना। विचार आते हैं, आने दे, रोकें नही। उन्हें मात्र देखते रहे। तटस्थभाव से देखते

रहे। मन मे न राग आने दें और न द्वेष। देखते रहे, देखते रहे। यह क्रोध का विचार आ रहा है। यह वासना का विचार आ रहा है। यह लोभ का विचार आ रहा है। यह मोह का विचार आ रहा है। यह किसी की हत्या करने का, किसी को मारने का विचार आ रहा है। यह प्रतिशोध लेने का विचार आ रहा है। इन सबको आने दे। रोके नही। इन्हें देखते जाए। इन्हे खुलकर आने दे। प्रतिरोध न करे। इन्हे तटस्थता से देखते रहे और हसते रहें कि क्या-क्या हो रहा है ? कैसा नाटक चल रहा है ? यह देखने की प्रक्रिया परिवर्तन की सशक्त प्रक्रिया है। देखते-देखते अर्जित आदत मे परिवर्तन आने लगता है। यह जागृति की साधना है। इसमे साधक सुषुप्त नही रह सकता। वह जागृत रहकर ही उभरने वाली वृत्तियो को देख पाता है।

कुछ मनुष्य प्रश्न करते है कि श्वास को देखने का मूल्य ही क्या है ? श्वास भगवान् तो है नही कि हम उसे देखते ही रहे। यदि भगवान् को देखते तो कुछ निष्पन्न होता। श्वास को देखने का प्रयोजन ही क्या है ? हम साधना में श्वास का आलंवन लेकर चल रहे है। हमने निरालंव आकाश मे चलने के लिए रस्सी बाध ली है। उस रस्सी पर हमें चलना है। परन्तु रस्सी पर चलने मे बडा खतरा है। हमें पूर्ण जागृत होकर रस्सी पर चलना होगा। एक-एक पग पर पूर्ण जागृत रहना होगा। कही भी एक झपकी आयी कि हम नीचे गिर पडेगे। श्वास को देखने की प्रक्रिया जागृत रहने की प्रक्रिया है। यह मन को जागृत रखने की प्रक्रिया है। जब मन जागृत रहेगा तब वृत्तियो को आप ठीक वैसे ही देखेगे जैसे कि छायाचित्र को देखते है, चलचित्र को देखते है। उपादान तक पहुंचने का यह महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

प्रवचन ३ | संकलिका

१. सव्वओ पमत्तस्स भय ।

२. सव्वओ अपमत्तस्स णत्थि भयं ।। (आयारो, ३।७५)

३. सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति । (आयारो, ३।१)

४. णो णिहेज्ज वीरियं । (आयारो, ५।४१)

- प्रमत्त को सब ओर से भय होता है ।
- अप्रमत्त को कही से भी भय नही होता ।
- अज्ञानी सदा सोते है, ज्ञानी सदा जागते है ।
- अपनी शक्ति को मत छुपाओ ।

५ ज्ञाता-द्रष्टा—केवल द्रष्टा बने रहे ।
जागृत रहे ।
श्वास आ रहा है, जा रहा है ।
कम्पन हो रहा है ।
विचार उठ रहा है, विलीन हो रहा है ।
वासना उठ रही है, विलीन हो रही है ।
क्रोध—उत्तेजना उठ रही है, विलीन हो रही है ।
निर्विचार दशा मे प्रज्ञा उपलब्ध होती है ।
करने की आदत है, इसलिए न करना या होना कठिन लगता है ।

६ अप्रमाद—चैतन्य का सतत उपयोग । कर्म के साथ चेतना का सतत योग ।

७ विवेक—दृष्टि स्पष्ट ।
संयम—सुख का अनुभव । ज्योति का अनुभव ।
अप्रमाद—सुखानुभूति की निरन्तरता । अखण्ड ज्योति ।
समता—सुखानुभूति के शिखर पर । ज्योतिर्मय ज्ञान-ज्ञान मे प्रतिष्ठित ।

८ पूर्व कर्म का प्रतिक्रमण
उत्तर कर्म का प्रत्याख्यान } चरित्र
वर्तमान कर्म-विपाक की आलोचना—भेदानुभव ।

चेतना की क्रीडाभूमि : अप्रमाद

एक आदमी जा रहा था। रास्ते मे एक राक्षस मिला। उसने कहा —'एक समस्या है। इसे पूरी करो।' आदमी ने कहा—'बताओ, समस्या क्या है ?' राक्षस ने कहा—'किमाश्चर्यमत परम्—इससे बढकर और आश्चर्य ही क्या है ?'

आदमी होशियार था। उसने समस्यापूर्ति करते हुए कहा—

अहन्यहनि भूतानि, गच्छन्ति यममन्दिरे।
शेषाः जीवितुमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमतः परम् ?

—प्रतिदिन प्राणी यम-मन्दिर मे जा रहे है, मृत्यु के मुख मे जा रहे है। यह देखते हुए भी शेष प्राणी यही सोचते है कि वे तो सदा जीवित रहेगे। इससे बढ़कर और बडा आश्चर्य क्या हो सकता है ? यह उस आदमी की उपज थी। बहुत सुन्दर समाधान उसने दिया।

यदि मुझे इस समस्या की पूर्ति करनी हो तो मै दूसरे ढग से ही करूगा। मैं कहूंगा—

अनन्तशक्तिसंपन्नाः, भिक्षां याचामहे यदि।
दैन्यं प्रदर्शयन्तो हि किमाश्चर्यमतः परम् ?

हम अनतशक्ति के अधिकारी और स्वामी होते हुए भी अपनी शक्तियो को नही जानते। प्रमाद से मूढ होकर उन्हे भूल जाते हैं, भूल गए हैं। उनको विस्मृत कर हम यत्र-तत्र अपनी दीनता प्रदर्शित करते हैं। हम कह देते है— 'मैं एक घण्टा एक आसन पर बैठ नही सकता। मै इतनी गर्मी को सहन नही कर सकता। मै ध्यान करता हूं तब सिर मे दर्द होने लगता है।' यह दीनता है। इसका प्रदर्शन करना सबसे बड़ा आश्चर्य है। एक ओर तो व्यक्ति अनत शक्तियो का स्वामी है और दूसरी ओर वह अल्प समय तक ध्यान करने मे भी समर्थ नही है, एक आसन में बैठने में भी समर्थ नही है। यह सबसे बडा आश्चर्य है।

हम अनत शक्ति-सपन्न है, अनंत चेतना-सपन्न है, विपन्न नही हैं। किन्तु हम अपनी सपदा से परिचित नही है। अपनी संपदा का हमें बोध नही है। बोध न होने का भी एक कारण है। वह कारण है—प्रमाद। यह आवरण हमे अपनी संपदा से परिचित नही होने देता। प्रमाद सघन आवरण है, लोहावरण है। वह हमें अपनी संपदा से विलग किए हुए है। एक ओर

हम हैं और दूसरी ओर है हमारी सपदा का वोध। बीच मे प्रमाद का सघन आवरण है, प्रमाद का लोहावरण है। उससे हमारा सबंध टूट-सा गया है।

अनत चेतना और अनत शक्ति। चेतना स्पष्ट नही होती है तो शक्ति स्पष्ट नही होती और शक्ति स्पष्ट नही होती है तो चेतना स्पष्ट नही होती। दोनो एक-दूसरे से सबधित हैं। दोनो जुड़े हुए है। चेतना का विकास होगा तो शक्ति का विकास होगा और शक्ति का विकास होगा तो चेतना का विकास होगा। चेतना स्पष्ट नही है, इसीलिए यह वोध नही हो रहा है कि हमारे मे अनन्त शक्ति है। हम अपनी शक्ति से परिचित नही है, इसलिए चेतना का उपयोग नही कर पाते। हम नही जान पाते कि हमारी चेतना मे कितनी शक्ति है। दोनो का, चेतना और शक्ति का संवंध टूट जाता है। दोनो के वीच मे एक आवरण आ गया, एक दीवार खडी हो गई। दोनो विछुड गए। एक इस ओर रह गया और दूसरा उस ओर। दोनो एक दूसरे से अपरिचित जैसे हो गए।

साधना का सवसे महत्त्वपूर्ण चरण है—चेतना का शक्ति के साथ योग करना। एक को दूसरे से जोडना। वास्तव में जहा शक्ति और चेतना की समन्विति है वही योग की साधना है। यह समन्विति तव सभव होती हैं जव प्रमाद का आवरण हट जाता है, टूट जाता है।

प्रमाद का आवरण वहुरूपी है। वह अनेक रूपो मे प्रस्तुत होता है। वह इतना सघन है कि कोई भी उसमे झाक नही सकता।

प्रमाद का एक रूप है—मादकता। वह चेतना को मादक वना देता है। जैसे मदिरा व्यक्ति मे मादकता ला देती है, वैसे ही प्रमाद व्यक्ति को मादक वना देता है। प्रमाद मदिरा है। उसमे वहुत मादकता है। जव प्रमाद छाता है तव चेतना लुप्त हो जाती है, शक्ति भी लुप्त हो जाती है, दव जाती है।

प्रमाद का एक रूप है—निद्रा। आदमी सोता है, साथ-साथ शक्ति और चेतना भी सो जाती है।

प्रमाद का एक रूप है—कषाय की उत्तेजना। क्रोध आता है, चेतना लुप्त हो जाती है, विवेक भी लुप्त हो जाता है।

प्रमाद का एक रूप है—अनुत्साह। धर्म के प्रति, साधना के प्रति उत्साह न होना अनुत्साह है।

साधना मे उत्साह कम व्यक्तियो मे होता है। उन पर प्रमाद छाया रहता है। हम थोड़ा मुड़े और अपनी सपदा मे परिचित होने का उपक्रम करे। हम प्रमाद को हटाने का प्रयत्न करे। हमे प्रयत्न मे सवसे वडा सहयोग मिलेगा चेतना का। सवसे पहले हम यह वोध प्राप्त करें कि हमारे मे अनंत शक्ति है। यह वोध हो जाने पर ही उसके प्रयोग की वात सोची जा सकती

है। पहले हम अपनी शक्तियों से परिचित हो। हम जान ले कि हमारे भीतर शक्तियो का अजस्र स्रोत वह रहा है। इससे परिचित होते ही फिर उपयोग की सुविधा हो जाती है।

पूर्व चौदह थे। वे ज्ञान के आकर-ग्रन्थ थे। उनमे एक था—वीर्य-प्रवाद। इसका वर्ण्य-विपय था—शक्ति के स्रोत और प्रयोग। उसमें केवल शक्ति का ही प्रतिपादन था, अन्य विषयों का नही। बहुत अद्भुत ग्रन्थ था। आज वह उपलब्ध नही है। उसमे जीव और अजीव, प्राणी और अप्राणी, चेतन और अचेतन—सभी पदार्थों की शक्तियों का वर्णन था। प्राणी की तरह अप्राणी मे भी अनंत शक्ति होती है। द्रव्य की शक्ति, क्षेत्र की शक्ति और काल की शक्ति अनत होती है। अजीव की बहुत बडी-बडी शक्तियां है। इन शक्तियो का सहयोग जीव को ही मिलता है।

अजीव की शक्तियो का विस्तृत वर्णन नही करेंगे, किन्तु प्रसगवश कुछ चर्चा प्रस्तुत करता हूं। क्षेत्र की शक्ति अद्भुत होती है। एक क्षेत्र मे जाने से मन प्रसन्न होता है और एक क्षेत्र मे जाने से मन विषण्ण होता है। एक क्षेत्र की तरगे इतनी पवित्र और शात होती हैं कि मन शात हो जाता है, उद्विग्नता मिट जाती है। एक क्षेत्र की तरगे इतनी मादक होती है कि मन अशात हो जाता है, उद्विग्न हो जाता है, उन्मत्त हो जाता है।

काल की भी अपनी शक्ति होती है। एक काल मे जो बात हो सकती है, वह दूसरे काल में नही हो सकती। प्रात काल मे किए जाने वाले ध्यान मे जितनी स्थिरता होती है वह मध्याह्नकाल में नही होती। सर्दी मे मन की जितनी स्थिरता होती है, गर्मी मे उतनी नही होती। आयुर्वेद मे काल के आधार पर औषधि-सेवन का विधान भिन्न-भिन्न रूप मे प्रतिपादित है। हरीतकी का प्रयोग भिन्न-भिन्न ऋतुओ मे भिन्न-भिन्न प्रकार से होगा। काल की शक्ति द्रव्य की शक्ति को घटा-वढा सकती है।

द्रव्य की अपनी शक्ति होती है। उसको जानने वाला द्रव्यो से लाभावित हो सकता है। प्राचीनकाल मे साधक इस वात से परिचित थे कि साधना मे कौन-कौन से द्रव्य सहायक होते हैं। ध्यान की स्थिरता, आसन की स्थिरता, मन की स्थिरता मे अमुक-अमुक द्रव्य सहयोगी वनते है। आज उन द्रव्यो की जानकारी कम हो गई है, इसलिए साधक द्रव्यो का उपयोग नही कर पा रहे है।

दो प्रकार का वल है। एक है शरीर का वल और दूसरा है आत्मा का वल, अध्यात्म का वल। शरीर के बल से हम परिचित है, किंतु अध्यात्म के वल से परिचित नही है। अध्यात्म का वल शरीर के वल से वहुत अधिक है। हम इन्द्रियो के वल से परिचित है। आंखो मे शक्ति है, इसलिए हम देखते हैं। कानो मे शक्ति है, इसलिए हम सुनते है। स्पर्श मे शक्ति है,

इसलिए हम सर्दी-गर्मी का अनुभव करते है। क्या इन्द्रियो मे इतनी ही शक्ति है, जितनी शक्ति से हम परिचित हैं ? नही, इनकी शक्ति और अधिक है। सामने पडी वस्तु को देख लेना मात्र ही आख की शक्ति नही है। उसकी शक्ति बहुत आगे तक काम करती है। साधना करने वाला व्यक्ति उस शक्ति को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है।

इन्द्रिय-शक्ति के दो रूप हैं—संभव-शक्ति और संभाव्य-शक्ति। आख से हम देखने हैं किन्तु उसकी भी एक सीमा है। जहा तक कोई अवरोध नही होता, उचित दूरी पर पदार्थ होता है, वहा तक हम आख से देख सकते है। यह है आख की सभव-शक्ति। हम इसकी सभाव्य-शक्ति से अपरिचित है। आख की शक्ति का विकास किया जाए तो हम बहुत-बहुत दूरी पर स्थित पदार्थों को भी साक्षात् देख सकते है। इससे दूरदर्शन संभव हो सकता है। व्यवधान होने पर भी देखा जा सकता है। स्थूल को भी देखा जा सकता है और सूक्ष्म को भी देखा जा सकता है। यह है—सभाव्य-शक्ति।

पाचो इन्द्रियो की सीमित शक्ति होती है। उसे संभव-शक्ति कहा जाता है। उनकी असीम शक्ति भी है। उसे सभाव्य-शक्ति कहते है। उसका विकास किया जा सकता है। सभव-शक्ति हमे प्राप्त है, हम उसका उपयोग करते है। सभाव्य-शक्ति की सीमा बहुत आगे है। कुछ विशिष्ट व्यक्ति होते है, जिनकी सभव-शक्ति दूसरो की सभाव्य-शक्ति जैसी विशिष्ट होती है। इसमे तीर्थंकर, अर्हत्, केवली आदि आते है। जो अपने मन को सूक्ष्म बना डालता है, जो अपना मानसिक विकास कर लेता है, वह 'मनोकामी' हो जाता है। वह मन से जो कामना करता है, वह तत्काल सध जाता है। मन मे भोजन का सकल्प किया और भोजन की तृप्ति हो गयी। कवल-आहार की कोई जरूरत नही है किंतु यह सबको सहज प्राप्त नही है। इस शक्ति का विकास हर व्यक्ति कर सकता है।

देवता सहजरूप से मनोभक्षी होते हैं। वे कवल-आहार नही करते। वैक्रिय शरीरधारी भी मनोभक्षी होते हैं। यह उनकी संभव-शक्ति है और हर व्यक्ति के लिए सभाव्य-शक्ति।

वाणी की भी सभव-शक्ति होती है और सभाव्य-शक्ति होती है। तीर्थंकर बोलते है तब उनकी वाणी एक योजन तक सुनाई देती है। उनकी वाणी अनेक भाषाओ मे परिणत हो जाती है। यह उनकी सभव-शक्ति है। वह सहज ही उन्हे प्राप्त है। दूसरो के लिए यह संभाव्य-शक्ति है।

वाक् वीर्य के दो रूप है। एक है - क्षीरास्रवलब्धि और दूसरा है—मध्वास्रवलब्धि। इन लब्धियो से सपन्न व्यक्ति जब बोलता है तब सुनने वाले को लगता है मानो वह दूध पी रहा है, मधु चाट रहा है। शब्द इतने मीठे होते हैं। यह इस लब्धिसपन्न व्यक्ति के लिए सहज है। हर व्यक्ति इसे

प्राप्त कर सकता है, संभाव्य है उसके लिए।

एक राजा आचार्य के पास आकर बोला—'गुरुदेव ! देवताओ की आयु बहुत लम्बी होती है। क्या वे जीते-जीते नही अघाते ?' आचार्य ने कहा—'वे इतने सुख मे जीते हैं कि उन्हे काल का बोध ही नही होता। काल का बोध उन्हें होता है, जो कष्ट मे जीवन बिताते है।' राजा ने कहा —'यह कैसे सभव है ? काल का बोध क्यो नही होता ?' आचार्य क्षीरास्रवलब्धि से सपन्न थे। उन्होने कहा—'राजन् ! कुछ देर उपदेश तो सुन लो।' राजा उपदेश सुनने बैठा। आचार्य बोलने लगे। दो प्रहर बीत गए। राजा तन्मय होकर सुनता रहा। उपदेश के अन्त में आचार्य ने राजा से पूछा—'कितने समय से उपदेश सुन रहे हो ?' 'गुरुदेव ! अभी दो क्षण ही तो हुए हैं। अभी-अभी तो आपने उपदेश शुरू किया था।' आचार्य ने कहा —'राजन् ! तुम्हे उपदेश इतना मीठा और सरस लगा कि काल का बोध ही नही हुआ। मुझे बोलते दो प्रहर हो गए है।' राजा अवाक् रह गया। यह वाक्शक्ति का एक रूप है।

शरीर की शक्ति भी विभिन्न होती है। महावीर को हम समझे। उन्होने चार मास तक खडे रहकर ध्यान किया। न उच्चार, न प्रस्रवण, न आहार, न नीहार। कुछ भी नही। न मच्छर उडाया, न अगुली हिलाई, कुछ भी नही किया। वे खडे थे। लगता था—कोई पत्थर की प्रतिमा खडी है। यह चातुर्मासिक प्रतिमा थी। इस प्रकार वार्षिक प्रतिमा का भी उल्लेख है। बाहुबलि बारह मास तक कायोत्सर्ग मे खडे रहे। उनके शरीर पर लताए फैल गयी। वे खडे ही रहे। हम एक-दो घटे भी खडे नही रह सकते। क्या हमारी शक्ति मे और उनकी शक्ति में कोई अन्तर है ? नही, कुछ भी अन्तर नही है। जितनी शक्ति उनमे थी उतनी ही शक्ति हमारे भीतर है। अन्तर केवल इतना ही है कि वे अपनी शक्ति से परिचित थे और हम अपनी शक्ति से परिचित नही है। परिचय का अन्तर है। वे अपनी शक्ति और चेतना को भली-भांति जानते थे। हम अपनी शक्ति और चेतना को विस्मृत कर बैठे है। उन्हे शक्ति-विकास का सूत्र प्राप्त था। हमें वह प्राप्त नही है। इसीलिए चार महीने या बारह महीने तक खड़े रहने की बात मे हमे आश्चर्य होता है। आश्चर्य इसीलिए होता है कि हम अपनी शक्ति से अनजान है। हम अभ्यास करे तो संभाव्य-शक्ति को अभिव्यक्त कर सकते हैं। यही साधना का रहस्य है।

साधना का एक विघ्न है—अधृति। आज के साधक साधना का तत्काल फल चाहते है। दो वर्ष साधना की। उसकी निष्पत्ति वे चाहते है। साधना के प्रारभ मे ही पूछने लग जाते हैं कि इस साधना का क्या परिणाम होगा ? उससे कहा जाता है—'भाई ! अभी तो तुमने साधना प्रारंभ की है

और अभी निष्पत्ति चाहते हो ? यह कैसे सभव है !' साधना में जो समय लगना चाहिए, जो काल का परिपाक होना चाहिए, उसके हुए बिना निष्पत्ति नही होती। निष्पत्ति के बिना साधक विचलित हो जाता है और वह साधना छोड देता है।

सहिष्णुता का विकास सयम का विकास है। सहिष्णुता की शक्ति का विकास संयम-शक्ति का विकास है। कुछ व्यक्ति भयंकर कष्टो में भी विचलित नही होते। वे एक द्रष्टा की भाति कष्टो को देखते रहते हैं। यह सहिष्णुता का विकास है, सयम का विकास है।

अध्यात्म-शक्ति का एक रूप है—स्वावलंबी जीवन। कुछ व्यक्ति ऐसे होते है, जो स्व-निर्भर होते है। सब कुछ वे अपने-आप ही करना चाहते हैं। वे पर-निर्भर नही होते। पर-निर्भरता साधना का विघ्न है।

अध्यात्म-शक्ति का एक रूप है—क्षमा। कितनी ही विपरीत परिस्थितिया आए, साधक क्षमाशील रहे, वह क्षुब्ध न हो। जलाशय मे एक ढेला फेंकते हैं तो जल क्षुब्ध हो जाता है। इस दुनिया मे ढेले फेकने वाले बहुत हैं। यदि आदमी भी ढेलों पर क्षुब्ध होता जाए तो वह साधना ही क्या कर पाएगा ? सब कुछ सहते जाना ही साधक की गंभीरता है। यह गम्भीरता एक शक्ति है, इसे विकसित करना चाहिए।

अध्यात्म-शक्ति के अनेक रूप हैं, जो अनेक दिशाओ से आने वाली बाधाओ से हमारी सुरक्षा करते है, उनसे हमे बचाते हैं। ये सारे कवच हैं। यह शक्ति का कवच न हो तो चेतना कभी भी मलिन बन जाए। चेतना को मलिनता से बचाने का एकमात्र तत्त्व है—शक्ति। शक्ति को छोड़कर हम चेतना की उपासना नही कर सकते।

हमारी यात्रा बहुत छोटी है। हमें केवल इतना ही काम करना है, उस अनंतशक्ति के स्रोत को खोज निकालना है। हमारी यात्रा का इतना ही उद्देश्य है छोटा-सा उद्देश्य है। छोटा यात्रा-पथ और छोटी मंजिल। प्रयत्न करने पर वहा तक पहुंचा जा सकता है। वहां तक पहुंचने के अनेक सूत्र हैं। मै एक सूत्र प्रस्तुत करता हू। वह है—तन्मूर्ति योग।

ध्यान दो प्रकार के होते हैं—स्वरूपावलम्वी ध्यान और पररूपावलवी ध्यान। साधक को पहले यह निर्णय करना होता है कि वह क्या बनना चाहता है ? यदि वह वीतराग बनना चाहता है तो उसे स्वरूपावलम्वी ध्यान करना होगा। कोई दूसरा ध्यान वहा तक नही पहुच पाता। शुद्ध चेतना को प्राप्त करने के लिए केवल वीतराग स्वरूप का आलम्बन ही कार्यकारी होता है। दूसरे आलम्बन उसकी उपलब्धि नही करा सकते। यह है हमारा वह ध्यान, जैसे कोई व्यक्ति सिर पर दीया रखकर खड़ा रहता है तो चारो ओर प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है। वैसे ही इस ध्यान से चारों ओर प्रकाश ही

प्रकाश फैल जाता है, शुद्ध चेतना का अनुभव हो जाता है।

यदि कोई साधक मनोबली बनना चाहता है, वाक्बली बनना चाहता है, इद्रियो को पटु-पटुतर बनाना चाहता है तो फिर उसे ध्यान की सारी ऊर्जा को, प्राण की सारी ऊर्जा को एक दिशा मे प्रवाहित करना होगा। इसकी प्रक्रिया यह है—

साधक पहले अपने ध्येय को निश्चित करे। मान ले कि वह कायबली बनना चाहता है। यह उसका ध्येय है। अब उसे कायबली के अप्रतिम व्यक्ति की प्रतिमा का मन-ही-मन निर्माण करना होगा। उसे ऐसे व्यक्ति को ध्येय बनाना होगा, जो कायबल में उत्कृष्ट है। बाहुबली कायबल के प्रतीक है। साधक उन्हे अपना ध्येय बनाता है। उन्हे ध्येय बनाकर साधक ध्यान करता है। ध्येय है बाहुबली और साधक है ध्याता। यह संभेद ध्यान है। ध्याता और ध्येय के बीच सभेद है, दूरी है। किन्तु जैसे-जैसे ध्यान की पटुता बढती जाएगी, उद्देश्य फलित होता जाएगा। फिर ध्येय और ध्याता अलग नही रहेगे। उनमे दूरी नही रहेगी। आप स्वयं बाहुबली बन जाएंगे। इतना अभेद सध जाएगा कि आप स्वय ध्येय के रूप मे परिणत हो जाएंगे। स्वयं बाहुबली बन जाएंगे।

इस स्थिति तक पहुचने के लिए आप शिथिलीकरण करे, कायोत्सर्ग करे। शरीर को शून्य कर दे, मृतवत् कर दे। स्वयं ध्येयमय बनने का प्रयत्न करे, ध्येय का अनुभव करे। आपकी भीतर की शक्ति परिणमन करना शुरू कर देगी। एक दिन अनुभव होगा कि शरीर मे बहुत बडी शक्ति उत्पन्न हो रही है और आप कायबली बनते जा रहे है। यह छोटा-सा सूत्र है—

- ध्येय का निर्णय करें।
- ध्येय का आकार बनाएं।
- ध्यान की ऊर्जा को एक दिशा मे प्रवाहित करें।
- भेद से अभेद को साधे, तन्मूर्ति बन जाए।

यह सूत्र है शक्तियो के विकास का। शक्ति चाहे कायिक हो, वाचिक हो या मानसिक हो। ऋद्धियो और लब्धियो के विकास का यही सूत्र है। कभी-कभी बिना प्रयत्न के भी किसी एक दिशा मे विकास होता है, किन्तु वह कोई नियम नही बनता। ऊर्जा को एक दिशागामी बनाने से ही विकास की सभावना होती है, यह नियम है।

प्रवचन ४ | संकलिका

१. संसयं परिजाणतो, संसारे परिण्णाते भवति ।
संसयं अपरिजाणतो, संसारे अपरिण्णाते भवति ॥ (आयारो, ५।९)

२. विस्सेणिं कट्टू परिण्णाए । (आयारो, ६।८)

३. एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए । (आयारो, ६।६९)

- जो सशय को जानता है, वह संसार को जान लेता है ।
- जो संशय को नही जानता वह संसार को नही जान पाता ।
- मुमुक्षु समत्व की प्रज्ञा से राग-द्वेष की श्रेणी को छिन्न कर डाले ।
- वह मुमुक्षु तीर्ण, मुक्त और विरत कहलाता है ।

४ सुनकर, जानकर या सहज ही चेतना का कोई कोना झकृत हो उठता है, अपने अस्तित्व की पहली किरण फूट पडती है ।

५. शुद्ध चेतना की पहली किरण—दृष्टि की स्पष्टता ।

६. शुद्ध चेतना की दूसरी किरण—सहज सुख का अनुभव ।
ज्योति का अनुभव ।

७. शुद्ध चेतना की तीसरी किरण—सहज सुखानुभूति की निरन्तरता ।
अखण्ड ज्योति का प्रकटीकरण ।

८. शुद्ध चेतना की चौथी किरण—सहज सुख के मूल स्रोत की उपलब्धि ।
अखड ज्योति के मूल स्रोत की उपलब्धि ।

९. व्यक्तित्व और अस्तित्व का भेद होने पर व्यक्ति का रूपातरण ।

१०. सुख-दु ख का जोड़ा अच्छा लगता था, अब केवल सुख अच्छा लगता है ।

११. पहले सुखी या दु खी, अब तटस्थ ।

१२. चैतन्य का अनुभव कभी-कभी, अब चैतन्य का सतत अनुभव ।

१३. कर्म कही, मन कही, बेहोशी मे । अब कर्म के साथ मन का सतत योग । सब कर्म जानते हुए ।

- ज्ञान 'पर' मे प्रतिष्ठित था, अब ज्ञान (पर से च्युत होकर) ज्ञान मे प्रतिष्ठित है ।

१४. विवेक का फल—तटस्थता । तटस्थता का फल—उपेक्षा । उपेक्षा का फल—समता ।

व्यक्तित्व का रूपान्तरण : समता

जव चेतना का कोई कोना झंकृत हो उठता है तो अपने अस्तित्व की एक झलक मिल जाती है। वह झलक हमारे लिए वहुत आवश्यक होती है। वह हमारी प्रज्ञा को जगा जाती है। उससे विवेक जागता है। जव मूर्च्छा की सघनतम प्रथम पक्ति पर प्रहार होता है तव विवेक जाग उठता है। चेतना की प्रथम किरण फूट पड़ती है। अस्तित्व के प्रकाश की प्रथम किरण प्राप्त होती है। साधक कुछ आगे वढता है। चेतना की दूसरी किरण फूटती है। एक अनुभव होना शुरू हो जाता है। पहली किरण मे केवल दृष्टि स्पष्ट होती है। दूसरी किरण मे सुख का अनुभव होने लगता है। ऐसा सुख जो पहले कभी अनुभव मे नही आया था। साधक आगे वढता है। उसे एक और किरण उपलब्ध होती है। उससे चैतन्य का अनुभव, सुख का अनुभव सतत होने लग जाता है। उसकी धारा अविच्छिन्न हो जाती है, कही खडित नही होती। जीवन मे अखड ज्योति जल उठती है। साधक आगे वढता है। चौथी किरण उपलब्ध होती है। उससे चेतना अपने विन्दु पर पहुंच जाती है। सुख का अनुभव अपने शिखर पर पहुच जाता है। वहां पहुचा हुआ साधक फिर लौटकर आना नही चाहता।

विवेक से सयम, सयम से अप्रमाद और अप्रमाद से वीतरागता। साधक एक-एक प्रकाश-किरण को उपलब्ध करता हुआ आगे वढता जाता है। साधना उस झलक से प्रारम्भ होती है जव से अस्तित्व का वोध होता है। जव तक किसी व्यक्ति को अस्तित्व की झलक नही मिलती तव तक उसके लिए साधना का कोई अर्थ नही होता तपस्या का कोई अर्थ नही होता, ध्यान का कोई अर्थ नही होता। ध्यान वही व्यक्ति करता है जिसे अपने अस्तित्व की कोई झलक उपलब्ध हो जाती है। फिर उसके मन मे एक छटपटाहट पैदा होती है, व्याकुलता पैदा होती है। एकाग्रता का मूल्य हो सकता है, किन्तु सर्वत्र उसका मूल्य नही होता। मन मे छटपटाहट, चचलता, व्याकुलता भी होनी चाहिए। उसका भी अपना मूल्य है। जव तक व्याकुलता पैदा नही होती तव तक उस दिशा मे वढा नही जा सकता। हम एकाग्रता का प्रयत्न नही कर रहे हैं। हम मन को चला रहे हैं। अन्तर इतना-सा ही आया है कि जो मन हमे चला रहा था, अव हम उसे चला रहे हैं। जो मन हमे क्रीडा करा रहा था, अव हम उसे क्रीडा करा रहे हैं। क्रीडा करने के लिए हमने उसे वहुत लम्वा-चौड़ा मैदान दिया है। पूरा शरीर

क्रीडा के लिए प्रस्तुत है। वह शरीर मे खेलता रहे, क्रीडा करता रहे। कही कोई बाधा नही है। अन्तर केवल दिशा का है। विवेक जागता है, प्रज्ञा जागती है, दिशा बदल जाती है, रूपान्तरण हो जाता है। जिसके हाथ मे स्वामित्व था, वह छिन गया। स्वामित्व दूसरे के हाथ मे आ गया। पहले हम मन के सेवक थे। विवेक जागा और हम मन के स्वामी हो गए। पहले मन स्वामी था, अब वह सेवक बन गया। अब वह स्वामी के पीछे-पीछे चलने वाला हो गया। रूपान्तरण हो गया। और कोई अन्तर नही आया। चचलता तो मौजूद है।

साधना का अर्थ है—व्यक्तित्व का रूपान्तरण। यदि व्यक्तित्व का रूपान्तरण नही होता है और साधक ध्यान करते ही चले जाते है, तपस्या करते ही चले जाते है, साधना करते ही चले जाते हैं तो एक दिन स्वय को अनुभव होता है कि ये सारी उपासनाए व्यर्थ है। इतने दिन तक इनकी उपासना की और कही भी नही पहुच पाये। उसी बिन्दु पर आज है, जिस बिन्दु पर प्रारम्भ मे थे। इसमे निराशा होती है और साधक साधना को छोड देने को ललचाते है।

इतनी लम्बी तपस्याए की, दिनो, महिनो और वर्षो तक भूख-प्यास सहन की, कुछ भी नही मिला, कुछ भी प्राप्त नही हुआ। सब व्यर्थ है। इससे चिपके रहना भूल है। इसे छोड दिया जाए।

ध्यान करते रहे, पर व्यक्तित्व उस बिन्दु पर टिका रहा, कोई परिवर्तन नही आया तो ध्यान के प्रति रही हुई आस्था और डगमगा जाएगी। व्यक्ति चाहेगा कि इसे छोड दिया जाए।

ध्यान की सार्थकता, तपस्या की सार्थकता और साधना की सार्थकता है— व्यक्तित्व का रूपान्तरण। इसका अनुभव स्वय को तो होना ही चाहिए, दूसरो को भी होना चाहिए। दूसरो को हो ही, यह आवश्यक नही है, स्वय को तो होना ही चाहिए। ऐसा होने पर ही आस्था जमती है और साधक आगे से आगे बढता जाता है। पहले जैसा था, आज वैसा ही है—यह बात साधना मे चल नही सकती। रूपान्तरण अवश्य ही होना चाहिए।

रूपान्तरण होता है। एक साधक की अनुभव की भाषा मे बताऊ कि रूपान्तरण क्या होता है? जब तक विवेक जागृत नही होता सम्यग्दर्शन नही होता, प्रज्ञा नही जागती तब तक सुख और दु ख के जोडे मे हम लीन रहते हैं। उसे ही परम तत्त्व मानते हैं। जब प्रज्ञा जाग जाती है, विवेक जाग जाता है, दर्शन सम्यक् हो जाता है, तब सुख-दुख के जोडे से हटकर, हमारी गति केवल सुख मे होने लग जाती है। एक है— सुख-दु ख का जोडा और एक है—केवल सुख। जब तक विवेक नही जागता तब तक साधक सुख-दु ख मे झूलता रहता है। कभी वह सुख का अनुभव करता है

और कभी दुःख का। केवल सुख या केवल दुःख का अनुभव नही होता। दु ख के बाद सुख और सुख के बाद दु ख आता रहता है। मनचाहा भोजन मिला। खूब खा लिया। सुख की अनुभूति हुई। परिपाक काल मे दु.ख का अनुभव होने लगा। भोगो के भोग-काल मे सुख की अनुभूति होती है और परिपाक-काल मे दु.ख की अनुभूति होती है। यह सुख-दु ख का जोडा बराबर चलता रहता है। दु ख इसलिए सह लिया जाता है कि उससे सुख भी मिलता है। यह ज्ञात है कि सुख के बाद दु.ख और दु.ख के बाद सुख होता है। यह चक्र चलता रहता है। रात के बाद दिन और दिन के बाद रात— यह क्रम है। आदमी इसके परे नही जा सकता। किन्तु जब विवेक जाग जाता है तब दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है, दर्शन सम्यक् हो जाता है। तब सुख-दु.ख का जोडा नही रहता। केवल सुख रहता है, दु ख नही रहता।

साधना के क्षेत्र मे जोडे की बात नही चलती। उसमें केवल की बात चलती है। ज्ञान और अज्ञान का एक जोडा है। किन्तु साधना के क्षेत्र मे केवल ज्ञान चलता है, अज्ञान छूट जाता है। कोरा ज्ञान, संवेदना नही। सुख और दुःख का जोडा है। साधना के क्षेत्र मे केवल सुख चलता है, दु ख छूट जाता है। कोरा सुख, दु ख नही। शक्ति और शक्ति-हीनता का एक जोड़ा है। साधना के क्षेत्र में केवल शक्ति होती है, शक्ति-हीनता छूट जाती है।

जब तक विवेक नही जागता तब तक साधक जोडे मे ही चक्कर काटता रहता है। जब प्रज्ञा जाग जाती है तब स्पष्ट दीखने लग जाता है कि यह रहा 'जोड़ा' और यह रहा 'केवल'। यह है ज्ञान-अज्ञान का जोड़ा और यह रहा केवल ज्ञान। यह रहा सुख और दु ख का जोडा और यह रहा केवल सुख। यह रहा शक्ति और शक्ति-हीनता का जोडा और यह रही केवल शक्ति। दृष्टि स्पष्ट हो जाती है। कोई भ्रम नही रहता, कोई संशय नही रहता, कोई विपर्यय नही होता।

यह व्यक्तित्व के रूपान्तरण का पहला चरण है। यदि यह प्राप्त नही होता है तो साधना नही हो सकती।

व्यक्तित्व के रूपान्तरण का दूसरा चरण है—अनुभव। रूपान्तरण मे पूर्व साधक कभी सुख का अनुभव करता है और कभी दु.ख का। केवल सुख का अनुभव नही करता। जब साधक मे चेतना की दूसरी किरण फूटती है तब अनुभव की शक्ति जागती है और उस शक्ति के जागने पर केवल सुख का अनुभव प्रकट हो जाता है, जो पहले कभी प्रकट नही हुआ था। साधक को यह ज्ञात भी नही था कि 'पर' के योग के बिना भी सुख होता है, हो सकता है, पर-वस्तु, पर-उपकरण, पर-निमित्त— इनके बिना भी कोई सुख होता है, यह अनुभव से सर्वथा परे था। किन्तु जब अनुभव की चेतना जाग जाती है, नयम की चेतना जाग जाती है तब रूपान्तरण होता है और यह अनुभव मे

आ जाता है कि बिना किसी सहयोग के, बिना किसी आलवन के, बिना किसी पदार्थ के भी इतना सुख होता है कि जिसकी तुलना नही की जा सकती।

जब अनुभव की शक्ति जाग जाती है तब आलवन के बिना भी ऐसा सहज-सुख जागृत होता है कि फिर उसे सुख-दु ख के जोडे मे जाने की इच्छा नही होती।

दूसरी बात है कि आदमी कर्म का फल भोगता है। पुण्यकर्म का फल भोगता है तब सुखी होता है और पापकर्म का फल भोगता है तब दु.खी होता है। प्रिय पदार्थ मिलता है तब सुख का अनुभव करता है और अप्रिय पदार्थ मिलता है तब दु ख का अनुभव करता है। किन्तु शुद्ध चैतन्य के अनुभव की शक्ति जाग जाने पर व्यक्ति सुख-दुःख को भोगता हुआ भी तटस्थ रहता है, न सुखी बनता है और न दुःखी। कुछ भी नही बनता। उसकी अनुभव-शक्ति प्रबल हो जाती है। उसे लगता है कि कोई भोगने वाला भोग रहा है, वह मुझसे परे है। दुःख मुझसे परे है।

महावीर ने अनेक कष्ट सहन किए। दूसरे अनेक साधको ने भी अपार कष्ट सहे। क्या हमारी चेतना के स्तर पर रहकर यह सभव है? ऐसे कष्टो को हसते हुए सह लेना संभव है? कभी सभव नही है। ऐसे कष्टो को इस स्तर पर सहा नही जा सकता। किन्तु जब सुख-दुःख से परे रहने की अनुभव शक्ति जागृत हो जाती है तब लगता है सुख भी नीचे है और दुःख भी नीचे है। जो सवेदनात्मक चेतना है, वह नीचे है। जो सवेदन है, वे सब नीचे है। मै तो केवल द्रष्टा हू, देखने वाला हूं। ऐसा सोचने वाला, इस स्तर की चेतना पर जीने वाला भयंकर कष्टों को सहन कर सकता है। यह सहिष्णुता कहा से आती है? इसका स्रोत है—भेद-ज्ञान।

विवेक से हमारा भेदज्ञान प्रारम्भ होता है और समता तक वह पुष्ट होता चला जाता है। भेदज्ञान की छेनी जब मलो को तोड़ती रहती है तब आगे से आगे अनुभव की प्रखरता बढ़ती जाती है और व्यक्ति सवेदना से ऊपर उठता जाता है। संवेदना से ऊपर उठना, उनकी भाषा मे है समता और हमारी भाषा मे है—सहिष्णुता। जो सवेदना के स्तर पर जीते हैं, वे देखते हैं कि अमुक व्यक्ति कितने कष्टो को सह रहा है, कितना सहिष्णु है। किन्तु जो समता के स्तर पर हैं, अनुभव के स्तर पर हैं, संवेदनाओं से ऊपर उठ चुके हैं, उनके लिए सहिष्णुता नही, समता व्यवहृत होती है।

अनुभव की चेतना जागृत होने पर, सुख-दुःख की सवेदनाओ से ऊपर उठने पर, सुख-दुःख को भोगता हुआ भी व्यक्ति तटस्थ रहता है। वह न अपने को सुखी मानता है और न अपने को दु.खी मानता है। यह दूसरा रूपान्तरण है—तटस्थता।

यह भी व्यक्तित्व के रूपान्तरण का अन्तिम बिन्दु नही है। इससे भी

आगे चलना है। साधक अप्रमाद का प्रयोग करता है। वह अप्रमत्त रहकर चैतन्य की धारा को अविच्छिन्न रखने का प्रयत्न करता है। उस ज्योति को अखण्ड, शाश्वत, प्रज्वलनशील बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है। किन्तु एक ओर से मूर्च्छा के थपेडे लगते है। मूर्च्छा अपना काम करती है। साधक कभी जागता है और कभी सो जाना है। वह कभी जागरूक रहता है और कभी सुप्त रहता हैं, जागता है, सोता है। फिर जागता है, फिर सो जाता है। यह जागने और सोने का क्रम चलता रहता है। जब चेतना की तीसरी किरण फूटती है, अनुभव की शक्ति और अधिक प्रखर बनती है, भेदज्ञान की धारा सतत प्रवाही होती है, विवेक की छेनी और तेजी से चलती है तब कभी सोने और कभी जागने की बात समाप्त हो जाती है। फिर सतत जागरण होता है, अखण्ड ज्योति जलने लगती है। इससे पूर्व मन और कर्म—दोनो टूटे-टूटे रहते है। मन कुछ और होता है और कर्म कुछ और होता है। मन कही होता है और प्रवृत्ति कही होती है। दोनो साथ-साथ रहने वाले भी अलग-अलग हो जाते है। किन्तु जब यह अनुभव की धारा तेज होती है, चेतना की यह तीसरी किरण—अप्रमाद का प्रकाश फैलता है तो कर्म और मन दो नही रहते, एक हो जाते हैं, एक साथ जुड जाते है। वे इतने जुड जाते है कि उस अवस्था मे फिर ज्ञान और आचरण दो नही रहते। उनका भेद समाप्त हो जाता है।

कुछ लोग ज्ञानवादी होते है और कुछ लोग क्रियावादी। पहले यह दृष्टिकोण साधना के क्षेत्र मे चला। फिर यह तर्क के क्षेत्र मे आया। कुछ लोग केवल ज्ञानवादी हो गए और कुछ लोग केवल आचारवादी, क्रियावादी हो गए। किन्तु इस साधना की भूमिका मे ज्ञान और आचार का कोई द्वैत नही होता। हम नही कह सकते कि यह ज्ञान है और यह आचार है। दोनो एक हो गए। किसी व्यक्ति ने उसे अभिव्यक्ति देने के लिए ज्ञान कहा और किसी ने आचार कहा। आचार कह दिया तो ज्ञान उसमें समा गया और ज्ञान कह दिया तो आचार उसमे समा गया। दोनो को तोड़ा नही जा सकता। किन्तु जैसे-जैसे साधना की यह बात विस्मृत होती गयी, एक पक्ष आचारवाद का बन गया और एक पक्ष ज्ञानवाद का बन गया।

अप्रमत्तता की जब अखड ज्योति जल उठती है तब मन और प्रवृत्ति —दोनो साथ-साथ चलते हैं। तब एक भी काम ऐसा नही होता जिसके साथ मन न हो। अंगुली उठती है तो पता होता है कि अंगुली उठ रही है। श्वास आता है तो पता रहता है कि श्वास आ रहा है, जा रहा है। उसकी कोई भी क्रिया बेहोशी मे नही होती। सब कुछ होश में होता है। सब कुछ जागरण में होता है। कर्म के साथ मन चलता है। ऐसा एक भी व्यवहार नहीं

होता, जहा कर्म तो है, पर मन नही है। कर्म कही है और मन कही है—ऐसा नही हो सकता। अप्रमत्तता है रूपान्तरण की तीसरी किरण। इसमे फलित होता है— कर्म और चेतना का एकीकरण, अद्वैत, अभिन्नता।

जैसे-जैसे साधना आगे वढती है, अनुभव का प्रकाश सघन होता जाता है, तव चौथी किरण फूटती है। चौथी किरण है—वीतरागता। जब यह किरण फूटती है तब चेतना सभी मलो से मुक्त हो जाती है, वीतराग वन जाती है। वीतराग का अर्थ है—'पर' से हटकर अपने आप मे प्रतिष्ठित होना। इस अवस्था मे 'पर' का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। यह बडी उपलब्धि है। आज तक ज्ञान 'पर' मे प्रतिष्ठित था। दूसरो मे टिका हुआ था, दूसरो के घर मे रह रहा था। उसे अपना घर प्राप्त नही था। किन्तु जव चेतना की यह किरण—वीतरागता प्रस्फुटित होती है तब ज्ञान ज्ञान मे प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अपने स्थान पर आ जाता है। उसे अपना घर मिल जाता है। वीतरागता और कैवल्य मे कोई दूरी नही है, कोई अन्तर नही है। जैसे वीतरागता प्रकट होती है, चेतना का पूर्ण रूप अनावृत हो जाता है। जो मूढता का आवरण था, वह सदा के लिए हट जाता है। मूढता के टूटते ही वीतरागता प्रकट हो जाती है और वीतरागता के प्रकट होते ही कैवल्य प्राप्त हो जाता है। दोनो के बीच मे कोई आवरण नही रहता। केवल्य का अर्थ है- शुद्ध चेतना का प्रादुर्भाव।

अस्तित्व की झलक का पहला फल है विवेक। हमारी चेतना के जागरण की पहली भूमिका है— विवेक। विवेक की निष्पत्ति है—तटस्थता। यह चेतना के जागरण की दूसरी भूमिका है। तटस्थता अर्थात् उपेक्षा। उपेक्षा के दो अर्थ हैं—ध्यान न देना और निकटता से देखना—उप+ईक्ष=उपेक्षा। जो तटस्थ होता है वही निकटता से देख सकता है। पक्षपात मे रहने वाला निकटता से नही देख सकता। वह प्रिय के प्रति अनुरक्त होगा और अप्रिय के प्रति द्विष्ट होगा। वह एक के प्रति राग करेगा और दूसरे के प्रति द्वेष करेगा। जिसमे झुकाव होता है वह सही अर्थ मे निकटता से नही देख सकता। वह दूर से ही देखता है। न प्रिय को ठीक से समझ सकता है और न अप्रिय को ठीक से समझ सकता है।

उपेक्षा का एक अर्थ है— ध्यान न देना, अवगणना करना। जो तटस्थ हो जाता है, उसके सामने प्रिय भी आता है, अप्रिय भी आता है किन्तु वह तीनो की उपेक्षा कर, अवगणना कर, आगे वढ जाता है। उपेक्षा का फल है—समता।

हमारी साधना सम्पन्न होती है तव तक व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण हो जाता है। जिस बिन्दु पर व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण होता है वहा व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता है। वहा से अस्तित्व की सीमा प्रारम्भ हो

जाती है। वह व्यक्तित्व का चरम बिन्दु और अस्तित्व का पहला बिन्दु है। दोनो की सीमा सटी हुई है। जहा व्यक्तित्व की सीमा समाप्त होती है वहा से अस्तित्व की सीमा प्रारम्भ होती है। वहां फिर 'केवल' रहता है। कोई द्वन्द्व नही रहता। 'केवल' का साम्राज्य बन जाता है। यह साधना से होने वाला परिणाम है।

इस बिन्दु तक पहुचना सरल नहीं है, कठिन है।

तीन काल है—अतीत, वर्तमान और भविष्य। अतीत का प्रतिक्रमण, भविष्य का प्रत्याख्यान और वर्तमान का सवर। पतंजलि ने लिखा है—'हेय दु खमनागत'—अनागत का दुःख हेय है। जो कर्म विपाक भोगा जा चुका, वह हेय नही बनता, क्योकि वह मुक्त हो गया है। वर्तमान भोगारूढ़ होता है। वह हेय नही हो सकता। उसे हम छोड़ नही सकते। हेय होता है अनागत। अभी जो आया नही है, उसे ही छोड़ा जा सकता है। अतीत के कर्म-विपाक को हेय नही बनाया जा सकता। वर्तमान के कर्म-विपाक को, जो भोगारूढ़ हो गया है, हेय नही बनाया जा सकता। केवल जो अनागत है, उसे हेय बनाया जा सकता है। इसीलिए अनागत कर्म का प्रत्याख्यान होता है।

साधको के लिए यह आवश्यक है कि वे अतीत का प्रतिक्रमण करे। प्रमादवश हमारी चेतना जो वाहर चली गयी थी उसको मूल स्थान मे लाये। पछतावे की जरूरत नही है। जो हो चुका, उसके लिए पछतावा कैसा ? प्रतिक्रमण आवश्यक है। चेतना को मूल स्थान प्राप्त कराना आवश्यक है। वर्तमान की आलोचना करें। वर्तमान के कर्म को देखे, प्रेक्षा करे। किन्तु सबसे वडा क्षेत्र है—अनागत का। उसका प्रत्याख्यान करे। जो हेय है, उसे छोडे।

यदि साधना के द्वारा हेय नही छूटता है तो रूपान्तरण कैसे घटित होगा ? व्यक्तित्व का रूपान्तरण हुए विना साधना फलित नही होती। जो प्रतिमाएं बना रखी है, उनका अग-भंग होना ही चाहिए। कुछ परिवर्तन तो होना ही चाहिए। मैं आज ही वीतराग बन जाने की वात नही कह रहा हू, किन्तु वीतराग वनने का ध्येय अवश्य हो। वहां तक हमे पहुचना है। हम यात्रा तो प्रारम्भ करे। ध्येय की दिशा मे एक पग तो धरें। प्रतिदिन सुख-दु ख के जोडे का अनुभव करते हैं, किन्तु कभी-कभी केवल सुख का ही अनुभव करे। जब केवल सुख का अनुभव होगा तब जीवन मे संयम फलित होगा। सुख-दुःख के जोड़े के प्रति जो तीव्र आसक्ति है, निश्चित ही उसमे एक छेद हो जाएगा और वह धीरे-धीरे टूटने लगेगी।

चैतन्य के अनुभव की सतत धारा प्रवाहित हो जाए, यह बहुत ही कठिन है। किन्तु साधना के द्वारा कभी-कभी तो उसका अनुभव करे। उसके लिए समय लगाएं और केवल चैतन्य का अनुभव करें।

निरन्तर अप्रमत्त रहना, जागरूक नही रहना सरल नही है। लम्बी साधना के बाद ही पूर्ण जागरूक रहा जा सकता है। किन्तु थोड़ा अभ्यास तो ऐसा होना ही चाहिए कि जो भी किया जाए, वह वेहोशी मे नही, होशपूर्वक किया जाए। आप यह सकल्प करे कि दिन मे एक-दो घटा इतना जागरूक रहूगा कि जो भी करूगा वह जागृत अवस्था मे ही करूंगा। पैर उठे तो पता रहे कि पैर उठ रहा है। पैर टिके तो पता रहे कि पैर टिक रहा है। जो कुछ हो, वह जानकारी मे हो, अजानकारी मे न हो। मन और कर्म—दोनो साथ-साथ चले। यदि अल्प समय के लिए भी ऐसा नही होता है तो रूपान्तरण की वात घटित ही नही हो सकती।

समता की साधना भी दुष्कर है। एक ही दिन मे सारी विषमता मिट जाए, समता प्रतिष्ठित हो जाए, ऐसा होना संभव नही है। इतना क्षयोपशम, इतना विकास कहा है कि एक साथ ऐसा घटित हो जाए। किन्तु कम से कम यह तो प्रयोग करे कि ज्ञान ज्ञान मे प्रतिष्ठित हो। सवेदना न हो। सवेदना को तोडकर केवल ज्ञान मे प्रतिष्ठित रहना समता का विकास करना है।

यह रूपान्तरण की प्रारम्भिक प्रक्रिया है। यदि यह नही होती है तो पूरे रूपान्तरण की चर्चा ही व्यर्थ होगी।

कुम्हार चाक पर मिट्टी का लोदा चढ़ाता है और कुछ ही समय मे रूपान्तरण शुरू हो जाता है। चाक घूमता है। मिट्टी के लोदे का रूप वदलता जाता है। यदि वह रूपान्तरण प्रारम्भ नही होता तो घड़ा कभी नही बन पाता। जैसे-जैसे चाक घूमता है वैसे-वैसे वह मिट्टी का पिण्ड अपने पिण्ड को छोडकर दूसरे आकार मे वदलना शुरू हो जाता है। यदि वह रूपान्तरण नही होता है तो साधना करने वाले के लिए भी प्रश्न होता है और दूसरो के लिए भी प्रश्न होता है। स्वय को तो महसूस होना ही चाहिए कि साधना से रूपान्तरण प्रारम्भ हो गया है। दूसरे उसे माने या न मानें, कोई महत्त्व की वात नही है। ग्राहक घड़ा चाहता है, मिट्टी का पिण्ड नही। घडा प्राप्त नहीं होता तव तक उसे विश्वास नही होता। मिट्टी के पिण्ड मे न पानी रखा जा सकता है और न अनाज। मिट्टी का पिण्ड जव पूरा रूपान्तरित होकर घड़ा वन जाता है तव वह पानी भी टिका पाता है और अनाज भी टिका पाता है।

व्यक्तित्व का रूपान्तरण साधना की निष्पत्ति है।

प्रवचन ५ | संकलिका

१. जुद्धारिहं खलु दुल्लहं । (आयारो, ५।४६)

   ० युद्ध के योग्य सामग्री निश्चित ही दुर्लभ है ।

२. अध्यात्म साधक को सघर्ष का सामना करना होता है ।

३. विवेक-चेतना जागने पर वह ज्ञाता-द्रष्टाभाव की ओर जाने के लिए प्रत्याख्यान करता है ।

४ उपादेय की प्रतिमा सामने होती है तब हेय पीछा नही करता ।

५ उपादेय को उपलब्ध होने पर वह सयत, जागृत और शान्त रहना चाहता है, तब आस्रव (वृत्तिया) युद्ध छेड देते हैं । उनसे निपटने के लिए अनेक साधनो का उपयोग आवश्यक है ।

० अध्यात्म की साधना भेद-विज्ञान की साधना है, अयोग की साधना है—

   ० शरीर और आत्मा का भेद ।
   ० इच्छा और आत्मा का भेद ।
   ० मूर्च्छा और आत्मा का भेद ।
   ० आवेग और आत्मा का भेद ।

ऊर्जा का विकास : तप

कायोत्सर्ग भेद-विज्ञान की साधना है। तोड़ते जाओ, भेद करते जाओ, शेष जो बचेगा, वह वास्तविक होगा, परमार्थ होगा, परम सत्य होगा। परम सत्य अभेद्य नही है। भेद करते जाओ— शरीर और चैतन्य का भेद, आकाक्षा और चैतन्य का भेद, प्रमाद और चैतन्य का भेद, उत्तेजना और चैतन्य का भेद, भेद ही भेद। शरीर से भिन्न, इच्छा से भिन्न, नीद से भिन्न, प्रमाद से भिन्न, आवेग से भिन्न। इस भिन्नता से आत्मोपलब्धि की ओर यात्रा होने लग जाती है। अस्तित्व उपलब्ध हो जाता है। हाथो का सयम करो, पैरो का संयम करो, वाणी का सयम करो, इन्द्रियो का संयम करो, अध्यात्म मे चले जाओगे। अध्यात्म मे जाने का रास्ता है—सयम। इस पथ पर सबसे पहले प्राप्त होता है—कायोत्सर्ग।

अध्यात्म की यात्रा मे सबसे स्थूल साधन है—शरीर। श्वास शरीर से भिन्न नही है। वह उसी का एक हिस्सा है, अग है। प्रवृत्ति के तीन स्रोत हैं—मन, वचन और शरीर। श्वास प्रवृत्ति का मूल स्रोत नही है। वह शरीर का ही एक अश है।

साधक कायोत्सर्ग करना चाहता है, काया को छोडना चाहता है, चचलता को मिटाना चाहता है, किन्तु प्रश्न होता है कि यह कैसे किया जाए? काया की चंचलता को कैसे मिटाया जाए? जब तक प्राण की ऊर्जा पूरे शरीर मे बह रही है, जब तक मन की चचलता पूरे शरीर मे है, तब तक शरीर की प्रवृत्ति को नही छोडा जा सकता, शरीर को स्थिर नही किया जा सकता, शात नही किया जा सकता। कायोत्सर्ग नही हो सकता। कायोत्सर्ग करने के लिए मन के घोडे को कही और बांधना होगा। इसे हिलती हुई खूटी से न बाधे। कायोत्सर्ग अपने-आप हो जाएगा। आप मन को भीतर ले जाएं। उसे चैतन्य के अथाह समुद्र मे डुबकिया लगाने दें। ढक्कन से ढके हुए इस ज्योतिपुज मे इसे जाने दें। जब मन इस ज्योतिपुज मे लीन होगा, जब मन चैतन्य के इस शान्त समुद्र मे डुबकिया लगायेगा, तब शरीर अपने आप शान्त होगा, स्थिर होगा। शरीर की सारी चंचलता प्राण-ऊर्जा की चचलता है। शरीर की सारी चचलता मन की चचलता है। यदि प्राण की धारा चैतन्य की ओर बहने लग जाती है, यदि मन की धारा चैतन्य की ओर प्रवाहित होने लग जाती है तो शरीर शात हो जाता है, क्योंकि चंचलता पैदा करने वाली प्राण की ऊर्जा उसे प्राप्त नही

हो रही है, मन की गति भी उसे प्राप्त नही हो रही है। तब शरीर शान्त और स्थिर हो जाता है। उसका उत्सर्ग हो जाता है। ऐसी स्थिति मे ही पूरा कायोत्सर्ग सधता है। यदि आप मन को ज्ञाता और द्रष्टा के साथ नही जोड़ते है, जो जानने वाला है और देखने वाला है, उसके साथ मन का योग नही करते है, तो काया का उत्सर्ग नही हो सकता, प्रवृत्ति का विसर्जन नही हो सकता।

कायोत्सर्ग के दो चरण हैं—एक है—शिथिलीकरण और दूसरा है—विसर्जन। शिथिलीकरण विसर्जन नही है। विसर्जन का अर्थ है—काया और चैतन्य के पृथक्त्व का स्पष्ट अनुभव। यह लगने लगे कि काया कही अलग पड़ी है और चैतन्य कही अलग पड़ा है। पिंजडा रह गया, पछी अलग हट गया, अनन्त आकाश मे उड़ने लग गया। ढक्कन पडा है और ज्योति उससे भिन्न हो गयी है। ऐसा कायोत्सर्ग तब होता है जब मन अध्यात्म में रम जाता है। उस समय हाथ, पैर, वाणी और समस्त इन्द्रियां अपने-आप संयत हो जाती है।

हम दोनो ओर से चले। बाहर से भी चले और भीतर से भी चले। बाहर से चले तब सबसे पहले हाथों का सयम करे, पैरो का सयम करे, वाणी का सयम करे, इन्द्रियो का सयम करे। जब हम भीतर से चले तब इस मुद्रा मे बैठ जाएं, जिससे मन की दिशा बदल जाये, प्राण की धारा बदल जाए और मन और प्राण की सारी ऊर्जा भीतर की ओर बहने लग जाए। यह बाहर से भीतर की ओर गति है। एक गति है—भीतर से बाहर की ओर और दूसरी गति है—बाहर से भीतर की ओर। यदि मन भीतर की ओर रम गया, यदि अस्तित्व की कोई झलक मिल गयी, यदि अस्तित्व मे मन रम गया तो शरीर के समस्त अवयव अपने-आप शान्त हो जाएगे। प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नही है, अपेक्षा नही है। चंचलता अपने आप मिट जाएगी। उस समय साधक 'सुसमाहितात्मा' बन जाएगा। आत्मा का वह स्वरूप प्रकट होगा, जो पहले कभी नही हुआ था। इस स्वरूप को आज तक आप या तो इन्कार करते रहे हैं या केवल मानते रहे हैं, किन्तु जानते नही रहे हैं।

दो प्रकार के लोग है। कुछ आत्मा को मानते है। कुछ आत्मा को नही मानते। कुछ लोगो ने यह मान लिया कि आत्मा है। यह मानने वाली बात अधिक नही टिकती। किसी ने प्रबल तर्को के द्वारा यह प्रतिपादित किया कि 'आत्मा नही है' तब आत्मा को मानने वाली बात टूट जाती है। केवल मानने का यही परिणाम होता है। मानकर चलने वाला सदा दूसरो के सहारे चलता है, वह दूसरे को ही मानकर चलता है। वह किसी व्यक्ति को मानता है, किसी ग्रन्थ को मानता है या किसी और को मानता है किन्तु वह

मानता है, जानता नही। मानने का मतलब है—परावलम्बन, दूसरों के सहारे चलना। अपने पैरो से नही चलना, दूसरो के पैरो से चलना, दूसरों के कधो पर बैठकर चलना। यह नितान्त परावलम्बन है। जानने की बात तब आती है जब कायोत्सर्ग की स्थिति प्राप्त होती है। जानने की स्थिति प्राप्त होती है तब कायोत्सर्ग अपने-आप सध जाता है।

कायोत्सर्ग आत्मा तक पहुचने का द्वार है। आत्मा की झलक मिलती है तो कायोत्सर्ग अपने-आप सध जाता है। अध्यात्म का अर्थ है—अपने अस्तित्व की उपलब्धि, अपने चैतन्य स्वरूप की उपलब्धि, ज्ञाता-द्रष्टाभाव की उपलब्धि।

हम जानते है, देखते है, किन्तु हमारा जानना भी शुद्ध नही है और देखना भी शुद्ध नही है। दही मे चीनी मिली हो तो न दही का स्वाद रहा और न चीनी का ही स्वाद रहा। तीसरे स्वाद की उत्पत्ति हो गई। दही का खट्टापन भी नही रहा और चीनी की मिठास भी नही रही। ऐसा ही कुछ चैतन्य के साथ हो रहा है। न चैतन्य का ही पूरा स्वाद प्राप्त है और न पुद्‌गल का ही पूरा स्वाद प्राप्त है। तीसरा मिला-जुला स्वाद प्राप्त है। इसे ही हम बहुत बडी उपलब्धि मान रहे है। यदि चैतन्य का शुद्ध स्वाद कभी प्राप्त हो जाए तो पता चल सकता है कि वह स्वाद कितना अनुपम है। एक बार भी यदि हम उस स्वाद तक पहुंच गए तो फिर वहां से लौटना नही होगा। साधक उसे छोड़ नही पाएगा। एक बार भी यदि उस ज्योतिपुज की झलक मिल जाए तो साधक उसके लिए पागल हो जाएगा। फिर वह प्राणो की बलि दे सकेगा, मृत्यु को सहर्ष स्वीकार कर सकेगा, पर उस अपूर्व अनुभूति को नही छोड सकेगा। उसके लिए वह अनुभूति ही सब कुछ होगी। यह है अध्यात्म का मार्ग। यह मार्ग कंटकाकीर्ण है, संघर्षो से भरा है। अध्यात्म के मार्ग पर बढने वाला साधक पग-पग पर सघर्ष करता जाता है। उसका मार्ग सीधा नही है, टेढा-मेढा है। यात्रा छोटी, यात्रापथ छोटा, सब कुछ छोटा है किन्तु बहुत टेढा-मेढा। इस मार्ग पर ही हमारी विवेक की चेतना जागती है। हमे अस्तित्व का बोध होता है और हेय-उपादेय की स्पष्ट दृष्टि विकसित होती है, प्रत्याख्यान की चेतना जागती है, अपने-आप सब कुछ छूटने लगता है। जो मनुष्य केवल छोडने को चलता है तो जिसे वह छोडना चाहता है, वह वस्तु उसके पीछे दौडती है, यह सच है। किन्तु विवेक का अर्थ केवल छोडना नही है। प्रत्याख्यान का अर्थ केवल छोडना नही है। प्रत्याख्यान तब होता है जब हेय और उपादेय—दोनो हमारे सामने होते हैं। दोनो प्रतिमाए हमारे सामने होती हैं। इन दोनो मे जो प्रतिमा आकर्षक होती है, वह हमे अपनी ओर खीच लेती है। प्रत्याख्यान तभी सधता है जब उपादेय की प्रतिमा आकर्षक होती है, शक्तिशाली होती है।

हेय अपने-आप छूट जाता है। उसे प्रयत्नपूर्वक छोड़ने की आवश्यकता ही उत्पन्न नही होती। यदि केवल हेय ही हो, उपादेय न हो तो मनुष्य क्या करेगा? वह मर जाएगा। उपादेय है तो हेय को छोड़ा जा सकता है। अच्छी वात सामने आती है तव बुरी वस्तु छूट जाती है। सुखद वस्तु आती है तव दु:खद वस्तु छूट जाती है। पहले लोग वैलगाडी में यात्रा करते थे। जव रेल और मोटरों का आविष्कार हुआ तव वैलगाडी छूट गयी। लोग रेल और मोटरो से यात्रा करने लगे। हवाई जहाज के आविष्कार ने सभी वाहनो को पीछे ढकेल दिया। यह होता है। अच्छी चीज बुरी चीज को पीछे ढकेल देती है। किसी के कहने की आवश्यकता नही होती।

प्रत्याख्यान से संयम की चेतना जागृत हो जाती है। संयम की चेतना से अपने आप मे लीन रहने की वात प्राप्त हो जाती है। साधक को लगता है कि अव भीतर रहना ही अच्छा है। मन भीतर की खूटी से वंध जाता है। मन चैतन्य के शात सागर मे डुवकिया लगाने लग जाता है। मन ज्योतिपुंज के प्रकाश मे इतना आकर्षण देखता है कि अव वह वाहर के अंधेरे में जाना पसंद नही करता, भीतर ही रहना चाहता है। ऐसी स्थिति मे एक भीषण संघर्ष खडा हो जाता है। भीतर के आस्रव, भीतर की वृत्तियां, भीतर के आवेग सघर्षरत हो जाते है। प्रमाद और विपय-कपाय अपना काम शुरू कर देते हैं। मूर्च्छा भी सक्रिय हो जाती है। राग द्वेष—ये दोनो अपनी रक्षा-पंक्तियां मजवूत करने लग जाते है। भयंकर युद्ध छिड जाता है। यह युद्ध साधक के लिए एक अवसर है। आचाराग मे कहा है—'जुद्धारिहं खलु दुल्लहं—युद्ध का यह अवसर वहुत ही दुर्लभ है। साधक को जमकर मोर्चा लेना है। यह वड़ा अवसर है। इसका लाभ उठाना है। ऐसा अवसर कभी-कभी प्राप्त होता है। एक ओर से राग-द्वेष आक्रमण करते हैं, दूसरी ओर से उनके सैनिक उत्तेजना, प्रमाद, कपाय आक्रमण करते हैं, साधक उन सवको तोड़कर ही आगे वढ सकता है। वह उन्हें समाप्त करके ही अस्तित्व तक पहुंच सकता है। जव साधक वहा तक पहुंच जाता है तव उसे लगता है- क्यो श्वास को देखें, क्यो शरीर के चैतन्य-केन्द्रो को देखें, क्यो अनशन करे, क्यो ऊनोदरी करे, क्यो संयम करे—यह सारा झंझट है। सीधा रास्ता है कि ज्ञाता-द्रष्टा-भाव को ही देखें, उसे ही देखते रहे। पहुच जाने वाले को लगता है कि यह सीधा रास्ता है, किन्तु जो अभी तक नही पहुंचा है, उसे यह रास्ता वहुत टेढा-मेढ़ा और कठिन लगता है। उसे पग-पग पर जूझना पडता है। सारे आक्रमण एक साथ होते हैं। उन आक्रमणों को विफल किए विना वह एक पैर भी आगे नही वढ़ सकता। साधना के प्रारम्भ मे इसका अनुभव नही होता। साधना के प्रारम्भकाल मे इन आस्रवों, वृत्तियों को भी खतरा नही होता कि उन्हें भी स्थान छोडना पड़े किन्तु जव साधक दृढ निश्चय के साथ

आगे बढ़ता है और उन सभी आस्रवो तथा वृत्तियो पर प्रहार करना प्रारम्भ करता है, उनके स्थायी आश्रयों को छुडाने का प्रयास करता है, तब वे सब क्रुद्ध साप की भाति फुफकारने लगते हैं, क्योंकि साधक ने उन्हें उखाड़ने का प्रयास किया है। जव तक उन्हे छेडा नही जाता तव तक वे अपना कार्य शांतभाव से करते रहते है। ज्यो ही उन्हे छेड़ा जाता है, वे क्रुद्ध होकर उभर आते है, फुफकारते है, भय दिखाते है। साप बांबी मे शात बैठा है। लोग आसपास से गुजर जाते है। साप नही फुफकारता। उसे थोडा-सा छोडे, वह क्रुद्ध होकर डसने को दौड़ता है। यही बात आस्रवो और वृत्तियों की है। इनके अनादिकालीन स्थायी स्थान को छुड़ाना सरल नही है। ज्यो-ज्यो साधक आगे बढता है, वृत्तियां और तीव्र होती है। जव साधक साधना के मध्य में पहुंचता है तव वे जमी हुई वृत्तिया, जमी हुई वासनाएं और उत्तेजनाएं, इतने तीव्र रूप से उभरती है कि साधक विचलित होने की स्थिति मे आ जाता है। यदि उस समय उसे कोई सहायक नही मिलता है तो वह साधना से च्युत हो जाता है। उस समय योग्य गुरु या योग्य सहायक की आवश्यकता होती है। वह समय खतरनाक होता है। उस समय जो वृत्तिया उभरती है, उनकी कल्पना ही नही की जा सकती। अनोखी-अनोखी वृत्तियां उभरती है। साधक वेचैन हो उठता है। वृत्तियां न उभरे, ऐसा नहीं होता। सभी साधकों का यही अनुभव है कि साधना के मध्यकाल मे वृत्तिया तीव्र होती है। उस समय उन पर नियंत्रण करना आवश्यक होता है।

इस युद्ध की स्थिति से निपटने के लिए अनेक साधनो का सहारा लेना पडता है। पहले से ही पूरी तैयारी करके चलना पडता है। उस तैयारी के अनेक साधन है—

१ श्वास को देखना।
२ शरीर को देखना।
३ चैतन्य-केन्द्रो को देखना।
४ अनशन करना।
५ उपवास करना।
६. कम खाना।
७. आसन करना।

ये सव तैयारी के साधन है। जो साधक इस साधन-सामग्री को साथ लेकर चलता है, वह कभी युद्ध मे नही हारता। वह भयंकर आक्रमण और प्रहारो को सहर्ष झेल लेता है। वह कभी पीछे नही हटता, आगे से आगे बढता चला जाता है। इसमे भी कुछ रहस्य है।

एक वैज्ञानिक तीस वर्षों से एक अनुसधान मे लगा हुआ था। उसने प्रतिपादित किया कि जो चबाकर खाता है, वह कम हिंसक होता है। बिना

चबाए खाने वाला अधिक हिंसक होता है। कहा से कहा का सम्बन्ध ! कहा हिंसा और कहा दातो से चबाना ! बड़ी विचित्र-सी बात लगती है। किन्तु उस वैज्ञानिक ने इतने प्रमाण प्रस्तुत किए है कि इस तथ्य को सहसा नकारा नही जा सकता।

सचित वृत्तियां निमित्तो को पाकर उभरती है। अगर निमित्तो को बदल दिया जाता है तो ये वृत्तिया शान्त हो जाती है। भोजन केवल शरीर को ही पुष्ट नही करता, उसका प्रभाव इन्द्रियो और मन पर भी होता है। भोजन के सूक्ष्म अणु जो रस रूप मे परिवर्तित होते हैं, वे इन्द्रियो, मन और वृत्तियो को प्रभावित करते हैं। भोजन का परिपाक कैसे होता है, यह महत्त्वपूर्ण बात है। चबाने का अर्थ है- उचित परिपाक के लिए प्रस्तुत करना। जितना अधिक चबाया जाएगा उतना ही अच्छा परिपाक होगा। उचित परिपाक होगा तो मल आंतो मे नही चिपकेगा। आंतो मे मल नहीं चिपकेगा तो सडांध पैदा नही होगी। सडांध के बिना अपान दूषित नही होगा। अपान दूषित नही होगा तो मन की स्वच्छता कभी नष्ट नही होगी। अपान दूषित नही होगा तो व्याकुलता नही होगी, बेचैनी नही होगी, बुरे भाव नही आएगे। बुरे भाव नही आएंगे तो हिंसा का भाव फिर कैसे आएगा ? यह चबाने से होने वाली निष्पत्ति है।

आहार का संयम तपस्या है। ऊनोदरी, रस-परित्याग—ये तप के प्रकार हैं। ये हमारे युद्ध के साधन हैं। यदि साधन-सामग्री पर्याप्त और दृढ़ होती है तो आक्रमणकारियो से सहजतया निपटा जा सकता है। यदि कोई साधक इन हथियारो से सज्जित होकर नही बढता है तो वह अपनी साधना से फिसल जाता है, च्युत हो जाता है।

ज्ञाता-द्रष्टाभाव तक पहुंचने के लिए, अस्तित्व तक पहुचने के लिए बहुत सज्जा की आवश्यकता होती है।

उपवास व्यर्थ नही है, ऊनोदरी व्यर्थ नही है, रस-परित्याग व्यर्थ नही है। भोजन का विवेक साधना का बहुत बड़ा अग है। यह भी काम्य नही है कि भोजन सर्वथा छोड़ दिया जाए। यह भी काम्य नही है कि भोजन के प्रति लापरवाही बरती जाए। हमे दोनो के मध्य से गुजरना है। बिलकुल कम भोजन करने से शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है। अधिक भोजन करने से आलस्य बढता है। शारीरिक शक्ति कम न हो तथा आलस्य भी न बढे, इसके लिए भोजन का संतुलन आवश्यक होता है। हमे साधनाकाल मे भी शरीर से काम लेना है। यदि उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है तो साधना मे आगे नही बढा जा सकता। जिस शरीर से काम लेना है, यदि उस पर भोजन का अधिक भार डाल देते है तो भी वह साथ नही देता। इस बेचारे शरीर पर हम उतना ही भार डालें, जिससे यह अपना काम सहजता से कर ले।

साधना मे अनाहार की नही, आहार-संयम की बात मुख्य है। ऊनोदरी, रस-परित्याग—ये आहार-संयम के अंग है। साधना के साथ इनका गहरा सम्बन्ध है।

एक साधक मेरे पास आया। वह अनेक दिनो से प्रेक्षा-ध्यान मे सलग्न था। उसने कहा—'आज पहली बार मुझे अपने अस्तित्व की झलक मिली, आत्मा को अनुभूति हुई। आत्मा को देखने से बढकर कोई दूसरा ध्यान नही है। यही होना चाहिए।'

मैने कहा—'बात ठीक है। आत्म-दर्शन तक पहुचना हमे इष्ट है। किन्तु यह यात्रा-पथ कुछेक घुमावो से गुजरता है। एक साथ इस मजिल तक नही पहुचा जाता। क्रमशः पहुचना होता है। जो साधक आज प्रथम कक्षा मे है, जो आज ही चले है, यात्रा-पथ पर पहला ही कदम उठाया है, वे ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा की एक साथ झलक कैसे पा सकते है ? उन्हे हम कहे कि अपने शरीर के भीतर ज्ञाता और द्रष्टा को देखे, ज्योतिपुज को देखे, चैतन्य के लहराते समुद्र को देखे, तो वे कहेगे कि शरीर के भीतर देखा, वहा चमडी है, चमडी के भीतर हड्डिया है, खून है, मज्जा है। न कोई ज्ञाता है और न कोई द्रष्टा। न कोई ज्योतिपुज है और न कोई चैतन्य का लहराता समुद्र। सब व्यर्थ हैं। वे निराश हो जाएंगे। हम उन साधकों को शनै:-शनै बढने दे। प्रत्येक स्तर से गुजरने दे। पहले स्थूल सवेदनो को पकडे। जब उन्हे पकड़ ले तब शरीर की गहराई मे जाकर सूक्ष्म संवेदनो को पकडे। स्थूल शरीर को पार करना कठिन है। उसको पार कर जाने पर सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है। वह है तैजस शरीर, आभावलय। उसे देखे। उसकी तरगो को पकडे। विभिन्न वर्णो से निर्मित इस आभावलय की विभिन्न तरंगो को देखे, पकडें। फिर आता है अतिम सूक्ष्म शरीर—कर्म-शरीर। कर्म परमाणुओ के विपाकरूप स्पदनो को पकडे। वही से सब कुछ बाहर आता है। जो बाहर मे घटित हो रहा है, वह मात्र प्रतिबिम्ब है। सारा का सारा मूल कर्म-शरीर मे घटित होता हैं। सूक्ष्म शरीर मे घटित होने वाली घटनाओ के आधार पर ही मृत्यु की घोषणा वर्षों पहले की जा सकती है। बीमारी की सूचना वर्षो पहले दी जा सकती है। आज का विज्ञान भी इस ओर अनुसंधान कर रहा है और उसे इस दिशा मे काफी सफलता भी मिली है।

आज जो बीमारी स्थूल शरीर मे दीख रही है, वह सूक्ष्म शरीर मे पहले ही घटित हो चुकी होती है। वहां से स्थूल शरीर मे अभिव्यक्त होने मे उसे काफी समय लग जाता है। मृत्यु की घटना सूक्ष्म शरीर मे घटित हो रही है। बाहर आने मे उसे समय लग सकता है। आज इतने सूक्ष्म यन्त्र विकसित हो चुके हैं कि सूक्ष्म शरीर मे घटित होने वाली मृत्यु, बीमारी आदि के फोटो लिए जा सकते हैं।

सूक्ष्म शरीर मे न जाने कितने स्पंदन, कितने संवेदन, कितने विपाक हो रहे हैं। सूक्ष्म शरीर बहुत बड़ा जंगल है। साधक को उस जंगल मे प्रवेश कर उन स्पदनो और सवेदनो को पकड़ना होगा। यदि मन को हम इतना सूक्ष्म, इतना पटु और इतना सवेदनशील बना सके तो फिर सूक्ष्म शरीर की दीवार को भेद कर आगे बढा जा सकता है। वहां पहुंचकर साधक अनुभव करेगा कि यह रहा ज्ञाता-द्रष्टा। वहा कोई सशय नही, कोई विपर्यय नही, कोई अस्पष्टता नही, कोई व्यवधान नही। वहा ज्योतिपुज के दर्शन होगे। चैतन्य का लहराता हुआ समुद्र आखो के सामने नाचने लगेगा। ज्ञाता-द्रष्टा का साक्षात्कार होगा।

साधक पहले चरण मे कहेगा—'मैं ज्ञाता-द्रष्टाभाव का साक्षात् करने के लिए यात्रा-पथ पर चला हूं।' जब वह मजिल तक पहुंच जाएगा, तब वह कहेगा –'मैंने ज्ञाता-द्रष्टाभाव का साक्षात् कर लिया।' किन्तु इतनी दूरी तय करने के लिए अनेक अनुभवो से गुजरना पडता है। जब कोई इस यात्रा-पथ पर चलना प्रारंभ करता है तब उसे धुंधला-सा अनुभव होता है। किन्तु जब वह आगे बढता है तब अनुभव स्पष्ट होता जाता है। वह उस स्थिति पर पहुच जाता है, जहा अस्पष्टता दूर, परोक्षता दूर, धूधलापन दूर। वहां अनुभव करने वाला और अनुभाव्य—दो नही रहते, एक हो जाते हैं।

उस दूरी तक पहुंचने के लिए हम ज्ञाता और द्रष्टा का अनुभव लेकर चलें।

प्रवचन ६ | संकलिका

१. संधि विदित्ता इह मच्चिएहिं। (आयारो, २।१२७)
२. अवि उड्ढं ठाणं ठाएज्जा। (आयारो, ५।८१)
   ० पुरुष मरणधर्मा मनुष्य के शरीर की सन्धि को जानकर कामासक्ति से मुक्त हो।
   ० घुटनो को ऊचा और सिर को नीचा कर कायोत्सर्ग करे।
३. यात्रा का उद्देश्य   चेतना का ऊर्ध्वगमन।
४. कामुकता और रसास्वादन—दो मौलिक वृत्तिया।
५. चेतना कामकेन्द्र मे उलझी रहती है।
६. आर्त्त-रौद्र ध्यान और अधर्म लेश्या का यही केन्द्र है।
७. नाभि सन्धिस्थल है।
८. हृदय से ऊर्ध्वयात्रा का प्रारम्भ।
९. ऊर्ध्वयात्रा होने पर वृत्ति उठेगी, तरग आएगी पर ऊर्जा का सहारा न मिलने पर विना फल दिए लौट जाएगी।
१०. स्थिरासन से ऊर्जा का व्यय कम होता है।
११. ऊर्जा के ऊर्ध्वगमन का मुख्य हेतु है तप।
१२ तप के तीन फलित—
   ० ऊर्जा का अधिक सचय।
   ० ऊर्जा का अल्प व्यय।
   ० ऊर्जा का ऊर्ध्वीकरण।

ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा

आत्मा एक ज्योतिपुज है। एक वहिन ने पूछा—'यदि वह ज्योतिपुज है तो उसका वर्ण कैसा है ?'

आत्मा एक ज्योतिपुज है। एक भाई ने पूछा—'यदि वह ज्योतिपुंज है तो दीये की भाति दिखाई क्यो नही देता ?'

आत्मा ज्योतिपुंज है तो उसका कोई वर्ण होना चाहिए। आत्मा ज्योतिपुज है तो वह जलते हुए दीपक की भाति दिखाई देना चाहिए। किन्तु न उसमे कोई वर्ण है और न वह जलता हुआ दिखाई देता है।

एक आदमी कमरे मे गया। अन्दर बिजली जल रही थी। कुछ ही क्षणो के पश्चात् बिजली चली गई। अधेरा छा गया। कुछ भी नही सूझ रहा था। कोई भी वस्तु दिखाई नही दे रही थी। बाहर खडे एक आदमी ने पूछा —'भीतर कौन है ?' उसने कहा—'मै हू।'

'मै हू'—यह कैसे देखा ? भीतर अधेरा है। कुछ भी दिखाई नही दे रहा है, फिर 'मैं हू' यह कैसे जाना ? यदि आत्मा ज्योतिपुज नही है तो कैसे दिखा कि मैं हू। यदि आत्मा ज्योतिपुज नही है, दीपक की भाति ज्योतिर्मय नही है तो कैसे दिखा कि 'मैं हू।' कितना ही सघन अन्धकार हो, व्यक्ति चाहे भूगृह मे खडा हो, किन्तु 'मैं हू'—यह दीप कभी नही बुझता। यह सदा जलता रहता है। 'मै हूं'—इतना-सा प्रकाश पर्याप्त है यह समझने के लिए कि भीतर कोई ज्योतिपुज है। यह प्रकाश की एक किरण पर्याप्त है। यदि हमारी यात्रा ज्योतिपुज की दिशा मे चले, हमारे प्राण की सारी ऊर्जा उसी ओर प्रवाहित हो तो एक न एक दिन उस ज्योतिपुज का साक्षात्कार अवश्य होगा। उसमे चाहे वर्ण हो या न हो, ज्वलनशीलता हो या न हो, वह साक्षात् होगा।

वह आज साक्षात् नही है, फिर भी उसके प्रति हम सशयशील नही है। उसकी कुछ रश्मिया हमे दीख रही है। पूरा ज्योतिपुज आखो के सामने नही है, किन्तु उसकी कुछ रश्मियो से हम अवगत हैं। उन कुछेक रश्मियो के आधार पर हम यह सहज अनुमान कर सकते हैं कि ज्योतिपुज है। जिस दिन हमारी यात्रा सम्पन्न होगी, हम मजिल तक पहुंच जाएगे, उस दिन हमारा यह अनुमान साक्षात् अनुभव मे बदल जाएगा। जो आज आभासमात्र है, वह अनुमान साक्षात् अनुभव मे बदल जाएगा। जो आज आभासमात्र है, वह पूरा प्रत्यक्ष हो जाएगा। हम यात्रा करे। नीचे से ऊपर की ओर यात्रा करें।

चेतना की ऊर्ध्वयात्रा, ऊर्जा का ऊर्ध्वगामी प्रवाह, प्राण की ऊर्ध्वगति—ये लक्ष्य तक पहुंचने के माध्यम है।

हमे यात्रा-पथ इस शरीर मे ही चुनना होगा। हमारे इस दृश्य शरीर में दो केन्द्र है—ज्ञानकेन्द्र और कामकेन्द्र। नाभि के ऊपर मस्तिष्क तक का स्थान ज्ञानकेन्द्र है, चेतनाकेन्द्र है और नाभि से नीचे का स्थान कामकेन्द्र है। हमारी चेतना इन दो वृत्तियो के आस-पास उलझी रहती है। जहां चेतना ज्यादा उलझी रहती है वहां चेतना का प्रवाह भी अधिक हो जाता है। ऊर्जा का मुख्य केन्द्र कामकेन्द्र है। सारी चेतना इसी के आसपास बिखरी हुई है। नाभि और जननेन्द्रिय—इसी के आस-पास मनुष्य की चेतना और ऊर्जा बिखरी पड़ी है। ज्ञानकेन्द्र में ऊर्जा बहुत कम है, क्योकि आज के मनुष्य की मौलिक वृत्ति है काम और इसलिए उसकी सारी चेतना, सारी ऊर्जा वही सिमटी पड़ी है। उसका ध्यान उधर ही ज्यादा जाता है। मानसशास्त्री कहते है—'मनुष्य में काम का जितना तनाव होता है उतना और किसी वृत्ति का नही होता। भय का तनाव कभी-कभी होता है। क्रोध का तनाव कभी-कभी होता है। ईर्ष्या और मान का तनाव कभी-कभी होता है। इसी प्रकार अन्य आवेगो का तनाव भी कभी-कभी होता है। किंतु काम का तनाव सबसे ज्यादा होता है, सघन होता है। उसकी जड़े बहुत गहरे मे है।' इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या—इन तीन अप्रशस्त या अधर्म लेश्याओ का केन्द्र भी यही होना चाहिए और यथार्थ मे यही है। उसकी अभिव्यक्ति का केन्द्र इसी शरीर मे होगा। इन तीन अधर्म लेश्याओ की अभिव्यक्ति के केन्द्र कामकेन्द्र से अपान देश तक है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान के केन्द्र भी ये ही हैं। जब चेतना यहां रहती है तब इष्ट का वियोग होने पर व्याकुलता उत्पन्न होती है। अनिष्ट का सयोग होने पर क्षोभ पैदा होता है। प्रियता, अप्रियता की अनुभूतियां उत्पन्न होती है। वेदना के आने पर व्याकुलता, वेदना को नष्ट करने की चेष्टाए, क्रूरता, ईर्ष्या, घृणा—आदि के स्पदन कामकेन्द्र के आसपास अनुभूत होते है। वे यही उभरते हैं। हमारे कामकेन्द्र की चेतना के आस-पास ही वे स्पदन क्रियान्वित होते हैं।

हमारी एक शक्ति है—प्राणशक्ति। एक ही प्राणशक्ति अनेक रूपो मे अभिव्यक्त होती है। उसके दस रूप बन जाते हैं। इद्रियो के साथ जब प्राण-ऊर्जा काम करती है तो पांच प्राण बन जाते है—स्पर्शन इंद्रिय प्राण, रसन इद्रिय प्राण, घ्राण इद्रिय प्राण, चक्षु इंद्रिय प्राण और श्रोत्र इन्द्रिय प्राण। वही प्राणधारा जब मन के साथ जुडती है तब मनोबल बन जाता है। जब वह वचन के साथ काम करती है तब वचनबल बन जाता है और वही जब काया के साथ जुड़ती है, तब कायबल बन जाता है। यही प्राणधारा जब

श्वास के साथ जुडती है, श्वास को गतिशील वनाती है तव श्वासप्राण वन जाता है। वही प्राण की ऊर्जा जव जीवन को टिकाए रखने में सक्रिय होती है तव आयुष्य प्राण वन जाता है, जीवनी-शक्ति वन जाती है। एक ही प्राण-धारा दस रूपो मे विभक्त हो जाती है। एक ही नदी की दस धाराए वन जाती हैं, दस प्रवाह वन जाते है।

जव प्राण की धारा नीचे की ओर प्रवाहित होती है, चित्त नीचे की ओर जाता है तव सारे अस्तित्व का; शरीर का और चेतना का केन्द्र काम-केन्द्र वन जाता है। उस कामकेन्द्र मे उलझी हुई चेतना के आसपास कृष्ण-लेश्या के विचार पनपते है, नीललेश्या के विचार पनपते है, कापोतलेश्या के विचार पनपते हैं। अधर्म के जितने विचार हैं, आर्त्त और रौद्र ध्यान की जितनी परिणतिया है, वे सारी इसी कामकेन्द्र के आसपास पनपती है।

कृष्णलेश्या का एक लक्षण है—अजितेन्द्रियता। जिसमे कृष्णलेश्या होती है वह अजितेन्द्रिय होता है। यह इसका सूचक है कि ऐसी वृत्ति काम-केन्द्र के आस-पास ही उत्पन्न होती है। कामकेन्द्र के पास जो चेतना है वह कृष्णलेश्या का ही परिणाम है।

जैन दर्शन ने छह लेश्याओ के आधार पर जिन तथ्यो का प्रतिपादन किया है, हठयोग ने उन्ही तथ्यो का छह चक्रो के आधार पर प्रतिपादन किया है। दोनो की अपनी-अपनी परिभाषाए है। यदि दोनो को परिभाषाओ से मुक्त कर दे तो तथ्य-प्रतिपादन अक्षरश. मिल जाता है। 'हठयोग तीन चक्रो को ऊपर और तीन चक्रो को नीचे मानता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपुर—ये तीन चक्र हृदय से नीचे होते हैं और अनाहत, आज्ञा और सहस्रार—ये तीन चक्र हृदय से ऊपर होते है।

जव मूलाधार चक्र सोया रहता है तव उत्तेजना वढती है। स्वाधिष्ठान चक्र सोया रहता है तव आदमी कामुक होता है। मणिपुर चक्र सोया रहता है तव आदमी मे ईर्ष्या, घृणा, क्रूरता के भाव पैदा होते हैं। तीन अप्रशस्त लेश्याओ के परिणाम से इनकी तुलना करें, सारी वातें ज्यो की त्यो मिल जाएगी।

तीन अप्रशस्त लेश्याओ के ये ही स्थान हैं। यहा से अधोयात्रा प्रारभ होती है, चेतना अधोयात्रा प्रारभ करती है। सारी प्राण ऊर्जा का प्रवाह नीचे की ओर होने लग जाता है।

एक रूपक है। जैन आचार्यों ने लोकपुरुष की कल्पना की। उन्होने लोक को पुरुष के रूप में चित्रित किया। लोक पुरुष के तीन भाग है—ऊर्ध्व-लोक, मध्यलोक और अधोलोक। ऊर्ध्वलोक मे हैं देवता, मध्यलोक मे हैं मनुष्य और अधोलोक मे हैं नैरयिक। मोक्ष ऊर्ध्वलोक मे है। हृदय मे हमारा ऊर्ध्वलोक प्रारंभ होता है। ऊर्ध्वलोक जहा देवताओ का निवास है, वहां सिद्ध

चेतना की ऊर्ध्वयात्रा, ऊर्जा का ऊर्ध्वगामी प्रवाह, प्राण की ऊर्ध्वगति—ये लक्ष्य तक पहुंचने के माध्यम है।

हमे यात्रा-पथ इस शरीर मे ही चुनना होगा। हमारे इस दृश्य शरीर मे दो केन्द्र है—ज्ञानकेन्द्र और कामकेन्द्र। नाभि के ऊपर मस्तिष्क तक का स्थान ज्ञानकेन्द्र है, चेतनाकेन्द्र है और नाभि से नीचे का स्थान कामकेन्द्र है। हमारी चेतना इन दो वृत्तियो के आस-पास उलझी रहती है। जहा चेतना ज्यादा उलझी रहती है वहा चेतना का प्रवाह भी अधिक हो जाता है। ऊर्जा का मुख्य केन्द्र कामकेन्द्र है। सारी चेतना इसी के आसपास बिखरी हुई है। नाभि और जननेन्द्रिय—इसी के आस-पास मनुष्य की चेतना और ऊर्जा बिखरी पड़ी है। ज्ञानकेन्द्र मे ऊर्जा बहुत कम है, क्योकि आज के मनुष्य की मौलिक वृत्ति है काम और इसलिए उसकी सारी चेतना, सारी ऊर्जा वही सिमटी पड़ी है। उसका ध्यान उधर ही ज्यादा जाता है। मानसशास्त्री कहते है—'मनुष्य मे काम का जितना तनाव होता है उतना और किसी वृत्ति का नही होता। भय का तनाव कभी-कभी होता है। क्रोध का तनाव कभी-कभी होता है। ईर्ष्या और मान का तनाव कभी-कभी होता है। इसी प्रकार अन्य आवेगो का तनाव भी कभी-कभी होता है। किंतु काम का तनाव सबसे ज्यादा होता है, सघन होता है। उसकी जड़े बहुत गहरे मे है।' इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या—इन तीन अप्रशस्त या अधर्म लेश्याओ का केन्द्र भी यही होना चाहिए और यथार्थ मे यही है। उसकी अभिव्यक्ति का केन्द्र इसी शरीर मे होगा। इन तीन अधर्म लेश्याओ की अभिव्यक्ति के केन्द्र कामकेन्द्र से अपान देश तक है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान के केन्द्र भी ये ही है। जब चेतना यहां रहती है तब इष्ट का वियोग होने पर व्याकुलता उत्पन्न होती है। अनिष्ट का सयोग होने पर क्षोभ पैदा होता है। प्रियता, अप्रियता की अनुभूतियां उत्पन्न होती है। वेदना के आने पर व्याकुलता, वेदना को नष्ट करने की चेष्टाएं, क्रूरता, ईर्ष्या, घृणा—आदि के स्पदन कामकेन्द्र के आसपास अनुभूत होते है। वे यही उभरते हैं। हमारे कामकेन्द्र की चेतना के आस-पास ही वे स्पदन क्रियान्वित होते हैं।

हमारी एक शक्ति है—प्राणशक्ति। एक ही प्राणशक्ति अनेक रूपो में अभिव्यक्त होती है। उसके दस रूप बन जाते हैं। इद्रियो के साथ जब प्राण-ऊर्जा काम करती है तो पाच प्राण बन जाते हैं—स्पर्शन इद्रिय प्राण, रसन इद्रिय प्राण, घ्राण इद्रिय प्राण, चक्षु इद्रिय प्राण और श्रोत्र इन्द्रिय प्राण। वही प्राणधारा जब मन के साथ जुडती है तब मनोबल बन जाता है। जब वह वचन के साथ काम करती है तब वचनबल बन जाता है और वही जब काया के साथ जुडती है, तब कायबल बन जाता है। यही प्राणधारा जब

श्वास के साथ जुडती है, श्वास को गतिशील वनाती है तव श्वासप्राण बन जाता है। वही प्राण की ऊर्जा जब जीवन को टिकाए रखने मे सक्रिय होती है तव आयुष्य प्राण वन जाता है, जीवनी-शक्ति बन जाती है। एक ही प्राण-धारा दस रूपो मे विभक्त हो जाती है। एक ही नदी की दस धाराए बन जाती हैं, दस प्रवाह बन जाते है।

जव प्राण की धारा नीचे की ओर प्रवाहित होती है, चित्त नीचे की ओर जाता है तब सारे अस्तित्व का; शरीर का और चेतना का केन्द्र काम-केन्द्र वन जाता है। उस कामकेन्द्र मे उलझी हुई चेतना के आसपास कृष्ण-लेश्या के विचार पनपते है, नीललेश्या के विचार पनपते है, कापोतलेश्या के विचार पनपते हैं। अधर्म के जितने विचार हैं, आर्त्त और रौद्र ध्यान की जितनी परिणतिया है, वे सारी इसी कामकेन्द्र के आसपास पनपती है।

कृष्णलेश्या का एक लक्षण है—अजितेन्द्रियता। जिसमे कृष्णलेश्या होती है वह अजितेन्द्रिय होता है। यह इसका सूचक है कि ऐसी वृत्ति काम-केन्द्र के आस-पास ही उत्पन्न होती है। कामकेन्द्र के पास जो चेतना है वह कृष्णलेश्या का ही परिणाम है।

जैन दर्शन ने छह लेश्याओ के आधार पर जिन तथ्यो का प्रतिपादन किया है, हठयोग ने उन्ही तथ्यो का छह चक्रो के आधार पर प्रतिपादन किया है। दोनो की अपनी-अपनी परिभाषाएं है। यदि दोनो को परिभाषाओ से मुक्त कर दे तो तथ्य-प्रतिपादन अक्षरशः मिल जाता है। 'हठयोग तीन चक्रो को ऊपर और तीन चक्रो को नीचे मानता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपुर—ये तीन चक्र हृदय से नीचे होते हैं और अनाहत, आज्ञा और सहस्रार—ये तीन चक्र हृदय से ऊपर होते है।

जब मूलाधार चक्र सोया रहता है तब उत्तेजना बढती है। स्वाधिष्ठान चक्र सोया रहता है तब आदमी कामुक होता है। मणिपुर चक्र सोया रहता है तब आदमी मे ईर्ष्या, घृणा, क्रूरता के भाव पैदा होते है। तीन अप्रशस्त लेश्याओ के परिणाम से इनकी तुलना करे, सारी बाते ज्यो की त्यो मिल जाएगी।

तीन अप्रशस्त लेश्याओ के ये ही स्थान हैं। यहा से अधोयात्रा प्रारभ होती है, चेतना अधोयात्रा प्रारंभ करती है। सारी प्राण ऊर्जा का प्रवाह नीचे की ओर होने लग जाता है।

एक रूपक है। जैन आचार्यो ने लोकपुरुष की कल्पना की। उन्होने लोक को पुरुष के रूप मे चित्रित किया। लोक पुरुष के तीन भाग है—ऊर्ध्व-लोक, मध्यलोक और अधोलोक। ऊर्ध्वलोक मे हैं देवता, मध्यलोक मे हैं मनुष्य और अधोलोक मे है नैरयिक। मोक्ष ऊर्ध्वलोक मे है। हृदय से हमारा ऊर्ध्वलोक प्रारंभ होता है। ऊर्ध्वलोक जहां देवताओं का निवास है, वहा सिद्ध

जीवो का निवास है, मुक्तात्माओ का निवास है। मध्यलोक मे मनुष्यो का निवास है। कटि से नीचे का भाग अधोलोक है। यह नरकावास है।

हृदय से ऊपर धर्म लेश्याओ का स्थान है और हृदय से नीचे अधर्म लेश्याओ का स्थान है।

हम देह-प्रेक्षा मे हृदय से प्रेक्षा प्रारंभ करते है। यह भी सकारण है। प्राणऊर्जा की यात्रा सबसे पहले ऊर्ध्व होनी चाहिए। उसका पूर्ण विकास होने पर भी अधोयात्रा मे कोई खतरा नही होता। देवता किसी कारणवश नीचे आता है तो कोई कठिनाई नही होती। उसकी तो मात्र एक यात्रा है। यदि चेतना नीचे ही उलझी रह जाती है तो बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है। यदि हम उस ज्योतिपुज का, परम तत्त्व का, पारमार्थिक तत्त्व का, परम सत्ता का साक्षात्कार चाहते है तो हमें ऊर्ध्वयात्रा करनी होगी। प्राण-ऊर्जा की ऊर्ध्व-यात्रा हुए बिना कुछ भी नही होता। निम्न प्रकार की वृत्तियो से छुटकारा नही हो सकता। व्यक्ति कितना ही सुने, माने और व्यवहार के स्तर पर जाने, फिर भी वह इन निम्नस्तरीय वृत्तियो से नही छूट सकता। ऊर्ध्वयात्रा प्रारंभ होते ही वृत्तियो मे परिवर्तन आने लग जाता है।

ऊर्ध्वयात्रा का प्रारम्भ साधना का पहला चरण है। इसी का नाम है तपस्या। ऊर्जा को एकत्रित कर ऊर्ध्वगामी बनाना ही तपस्या है। ऊर्जा के बिना कुछ नही हो सकता। उसका विस्फोट किए बिना कुछ भी निष्पन्न नही होता। जब तक विस्फोट की शक्ति नही होती तब तक कोई भी क्राति घटित नही होती। क्रातिकारी कार्य के संपादन के लिए विस्फोट की जरूरत होती है। विस्फोट के लिए ऊर्जा भडार की आवश्यकता होती है। ऊर्जा का सचय करे। ऊर्जा का व्यय कम करें। ऊर्जा का विस्फोट करें। ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी करे।

तपस्या का पहला प्रकार है—अनशन, भूखे रहना। भूख रहने से ऊर्जा अधिक उत्पन्न होती है। भोजन करने से भी ऊर्जा उत्पन्न होती है। किंतु वह ऊर्जा केवल हमारे शरीर-यत्र का सचालन मात्र कर सकती है। वह ऊर्जा कोशिकाओं को सक्रिय बना देती है। किन्तु चेतना के क्षेत्र मे विस्फोट करने के लिए वह ऊर्जा पर्याप्त नही है। उससे विस्फोट सपन्न नही होता। विस्फोट के लिए सूक्ष्म ऊर्जा अपेक्षित होती है। वह तपस्या और भावना के द्वारा उत्पन्न होती है। वह सूक्ष्म प्रयोगों के द्वारा उत्पन्न होती है। वह अन्न खाने से पैदा नही होती। तपस्या में भी यदि पानी नहीं लिया जाता है तो अधिक ऊर्जा पैदा होती है। गर्मी को सहने से और अधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है। ऊर्जा को उत्पन्न करने, ऊपर ले जाने, उसका व्यय कम करने का उपाय है—प्रवृत्ति कम करो, स्थिर अधिक रहो। जितनी प्रवृत्ति होती है, ऊर्जा का व्यय भी उतना ही होता है। यह केवल आध्यात्मिक जगत् की ही बात नहीं

है। शरीरशास्त्री भी इसी तथ्य को स्वीकार करते है। प्रवृत्ति अधिक, ऊर्जा व्यय अधिक। प्रवृत्ति कम, ऊर्जा का व्यय कम। चिकित्सक विश्राम का सुझाव देते हैं, उसके पीछे भी यही दृष्टिकोण है। विश्राम करने से शक्ति का व्यय कम होता है, ऊर्जा एकत्रित होती है।

कायिक प्रवृत्ति करते है, बोलते है तो ऊर्जा का व्यय होता है, इसलिए कहा गया—वाक्गुप्ति करो।

सोचते है तो ऊर्जा का और अधिक व्यय होता है, इसलिए कहा गया— मनोगुप्ति करो, निर्विचार रहो।

अध्यात्म के क्षेत्र में ऊर्जा के व्यय को कम करने के ये उपाय निर्दिष्ट है। गुप्तियो के द्वारा ऊर्जा का उत्पादन अधिक होता है। गुप्ति करो, ऊर्जा की आय अधिक होगी, व्यय कम होगा।

ऊर्जा को ऊपर कैसे ले जाया जा सकता है, यह एक प्रश्न है। बैठने की विभिन्न मुद्राएं ऊर्जा के ऊर्ध्वारोहण में सहायक बनती है। सामान्य आदमी यह नही सोच सकता कि पालथी मारकर बैठने से तथा पद्मासन या उकडू आसन में बैठने से क्या अन्तर आता हैं। बहुत अंतर आता है। ये सारे आसन विशिष्ट उद्देश्य से ही निर्णीत किए गए है। इनसे ऊर्जा का प्रवाह ऊपर की ओर जाने लगता है। उकडूं आसन से नीचे के स्नायुओ पर दबाव पड़ता है। गोदोहिका आसन से पीछे की ओर दवाव पडता है। ऊर्जा ऊपर जाने लगती है।

महावीर से पूछा—'भते ! ब्रह्मचर्य की साधना के लिए कुछ विशेष जानना चाहता हू।'

महावीर ने कहा—'उड्ढ ठाणं ठाएज्जा—खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करो।'

खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करने से ऊर्जा ऊपर की ओर जाती है, रक्त नीचे की ओर जाता है। सर्वांगासन, शीर्षासन, वृक्षासन, पद्मासन—इन सबसे ऊर्जा ऊपर की ओर जाती है। ध्यान के लिए जितने आसनों का विधान किया गया, वे सब ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाने के उपक्रम हैं। इनसे ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा, चित्त की ऊर्ध्वयात्रा होती है। इससे रूपान्तरण प्रारम्भ हो जाता है, एक विस्फोट होता है। इस विस्फोट के बाद ही चेतना ऊपर की ओर वहने लगती है।

इन तीन अधर्म लेश्याओ और तीन धर्म लेश्याओ के बीच पहले एक ऐसी दीवार खिंची रहती है कि सामान्य आदमी उसे तोड़ नही सकता। किंतु जब साधक प्रबुद्ध चेतना वाला हो जाता है, ऊर्जा के महत्त्व को समझ लेता है, ऊर्जा का संचय कर लेता है और ऊर्जा के द्वारा कभी विस्फोट करता है तब वह दीवार टूटती है और साधक ऊपर की ओर उठने लगता है। वहां तीन प्रशस्त लेश्याओ—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या का क्षेत्र आता

है । एक ज्योतिर्मय प्रकाश शुरू होता है ।

आयुर्वेद के ग्रंथ में दो महत्त्वपूर्ण वाक्य है—

- **हृदयं चेतनास्थानम्**—हृदय चेतना का स्थान है ।
- **तत्परमौजसः स्थानम्**—चेतना के बाद ओज का स्थान है ।

ये दोनो चेतना के परम स्थान हैं । यहां से ऊर्ध्वयात्रा शुरू होती है । लेश्या धर्म की बन जाती है । तेजोलेश्या ज्योतिर्मय पुरुष, चैतन्य पुरुष की यात्रा है । उस समय आर्त्त-रौद्र ध्यान समाप्त हो जाते है । धर्म ध्यान का प्रारम्भ हो जाता है । साधक पद्मलेश्या पर पहुच जाता है । पद्मलेश्या का रंग पीला होता है । आचार्य का ध्यान विशुद्धि चक्र पर किया जाता है । वहा पीले रग की कल्पना की जाती है । चेतना की यात्रा आगे बढ़ती है, साधक आज्ञा चक्र पर लाल रग के साथ ध्यान करता है । वहा का रंग है लाल । साधक और आगे बढ़ता है । वह सहस्रार चक्र पर ध्यान करता है । वह शुक्ल ध्यान का स्थान है । यह शुक्ललेश्या का स्थान है । यहा सब कुछ सात्त्विक ही सात्त्विक । प्रकाश ही प्रकाश और कुछ भी नही । चित्त की सारी वृत्तिया शात हो जाती है । चित्तवृत्तियो का उभार शात हो जाता है, कलुषताए शांत हो जाती है । शेष रहती है निर्मलता ।

यह ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा है । धर्मलेश्या प्रवेश-द्वार है । यह नही भूलना चाहिए कि धर्मलेश्या मे प्रवेश कर देने पर अधर्म लेश्याए सर्वथा समाप्त हो जाती है । वे समाप्त होती है किंतु एक साथ समाप्त नही होती ।

हमने अतीत मे वृत्तियों का, आस्रवो का इतना सचय कर रखा है कि ऊर्ध्वयात्रा करने पर भी उनका दवाव वरावर पड़ता रहता है । वृत्तियां वार-वार उभरती है, दवाव पड़ता है किन्तु परिणाम कुछ भी नही आता ।

कोई वृत्ति जागी । स्पंदन हुआ । तरगे चली और कामकेन्द्र के पास पहुची । कोई ऊर्जा नही मिली तो वापस लौट गयी । कोई परिणाम नही हुआ । वेकार हो गयी । ऊर्जा मिलने पर वह वृत्ति का काम करती है, अन्यथा आती है और विना फल दिए ही लौट जाती है । जव हमने ऊर्जा का सारा प्रवाह ऊपर की ओर कर दिया, ऊर्जा का भडार जो नीचे था वह खाली कर दिया और ज्ञानकेन्द्र मे भर दिया, फिर कोई भी वृत्ति परिणाम नही दे सकती । वृत्तियो की तरगे आती है और लौट जाती हैं । व्यक्ति पर उनका कोई असर नही होता । न कामवासना का असर होता है, न ईर्ष्या और घृणा का असर होता; न राग-द्वेप का असर होता है । सारी वृत्तिया वेकार । ऐसा लगता है कि वृत्तिया हैं किन्तु उन वृत्तियो मे फलने की शक्ति समाप्त हो गयी है ।

फलदान निमित्त-सापेक्ष होता है । विना निमित्त के कोई फल दे ही नही सकता । विपाकोदय तव होता है जब कोई निमित्त मिलता है । विना

निमित्त के विपाकोदय नही हो सकता। वह व्यर्थ चला जाता है। कोई परिणाम नही आता।

ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा का एक परिणाम है—वृत्तियो की फलदान-शक्ति को नष्ट कर देना। तब वे वृत्तिया स्वत नष्ट हो जाती हैं। जब तक उनको पोषण और सिचन मिलता रहता है तब तक वे पनपती रहती है। जब सिंचन ही बन्द हो जाता है तब उनका पनपना समाप्त हो जाता है। कुछ समय तक वे तरगें जाती-आती है। साधक जब आगे ही बढता चला जाता है तब एक दिन ऐसा आता है कि वे तरगे समाप्त हो जाती है। उधर उनका आवागमन मिट जाता है। यह सब होता है तप के द्वारा।

साधक को कहा गया है कि शरीर को प्रकपित कर दो, वृत्तियो को प्रकपित कर दो, कर्म-शरीर को प्रकपित कर दो। वृत्तियो के केन्द्र को इतना हिला दो कि उनका मूल उखड जाए और वे अपने स्थान से च्युत हो जाएं। राग का, द्वेष का, कपाय का, कपाय से उत्पन्न होने वाले आस्रवो का और आस्रवो से उत्पन्न होने वाली वृत्तियो का मूल उखड जाए।

आहार सज्ञा, भय सज्ञा, मैथुन सज्ञा और परिग्रह सज्ञा—ये चार कामनामूलक सज्ञाएं है। क्रोध सज्ञा, मान सज्ञा, माया संज्ञा और लोभ संज्ञा—ये चार मनोमूलक सज्ञाएं है। ये आठो समाप्त हो जाए। उनकी आसक्ति समाप्त हो जाए। उनको उखाडने का, मिटाने का एकमात्र उपाय है—तपस्या, ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन, ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा।

एक बात पर हमे ध्यान देना है। रसनेन्द्रिय और कामकेन्द्र का गहरा सम्वन्ध है। ध्यान की प्रत्येक प्रक्रिया मे यह ध्यान दिया जाता है कि वृत्तियो की चचलता को समाप्त करने के लिए जीभ को स्थिर करना आवश्यक है। साधक ध्यान करने वैठा है। बहुत विकल्प आ रहे है, चचलता है। उस समय यदि वह साधक जीभ को उलटकर तालु की ओर स्थिर कर देता है, तालु पर लगा देता है तो विचित्र प्रकार के स्पदन प्रारम्भ हो जाते है और विकल्प शात हो जाते है। विकल्पो को शांत करने का यह सुन्दर प्रयोग है। जव जीभ स्थिर होती है तव वृत्तिया शात होने लग जाती हैं। कामकेन्द्र और रसनेन्द्रिय का वहुत वडा सम्बन्ध है। साधना के ग्रंथो मे रसनेन्द्रिय को जीतने पर वल दिया गया है। यह निरर्थक नही है, सार्थक है। कामवासना पर विजय पाना है तो पहले रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करो। रसनेन्द्रिय का सयम करो।

पांच इन्द्रियो मे दो इन्द्रिया कठोर और अजेय मानी जाती है। एक है स्पर्शन इन्द्रिय और दूसरी है रसन इन्द्रिय। स्पर्शन इन्द्रिय का सीधा संवंध है कामकेन्द्र से और रसन इद्रिय का कुछ टेढा सम्बन्ध है कामकेन्द्र से। रसना का सयम और काम का सयम—दोनो साथ चलते हैं। जैसे ही

रसना का सयम होता है वहा के स्पदन जब कम होते है, स्पंदन जब विजित होते है तब कामवासना के स्पदन भी कम होने लग जाते हैं।

जैसे ही जीभ का सयम किया, आध्यात्मिक स्पंदन शुरू हो जाते हैं। ये स्पंदन हमारी पकड मे भी आते हैं। साधना करने वाले साधक को यह स्पष्ट अनुभव होगा कि ये स्पदन इतने सुखद होते हैं कि वे कामकेन्द्रो के स्पंदनो को भी पराभूत कर डालते है।

ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा मे रसनेन्द्रिय बहुत बाधक होती है। जब हम उसकी ऊर्जा को वहां से हटा लेते है और उसे स्थिर कर देते है तब वह बाधा समाप्त हो जाती है। रसलोलुपता नीललेश्या का परिणाम है। यह परिणाम समाप्त हो जाता है। ऐसा होने पर ही धर्मलेश्याए पूर्ण जागृत हो जाती है। ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा, प्राण की ऊर्ध्वयात्रा, चित्तवृत्तियो की निर्मलता, धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान की स्थिति—ये सब घटित होती हैं। सारी स्थिति ही बदल जाती हैं, रूपांतरण घटित होने लगता है। यह सब तपस्या का फल है।

तपस्या के द्वारा तीन बाते फलित होती है—

२. ऊर्जा का अधिक संचय।

२. ऊर्जा का अल्प व्यय।

३. ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा।

यह घटित होने पर ज्योतिपुज के साथ साधक का सपर्क स्थापित हो जाता है। वह रश्मि जो 'मैं हूं'—इतनी-सी प्रतीत होती थी, वह ज्योतिपुज मे मिल जाती है और तब 'मैं हू' बदल जाता है और केवल 'है' शेप रह जाता है। 'मैं' की बात समाप्त हो जाती है। जो रश्मिया बिखरी पडी थी, जो एक जालीदार ढक्कन से छन-छनकर बाहर फैल रही थी, वे सारी रश्मिया सिमटकर ज्योतिपुज मे लीन हो जाती है। उस समय ज्योतिपुज के साक्षात्कार का प्रश्न भी समाप्त हो जाता है। वहां कौन ज्योतिपुज और कौन मैं—यह भेद मिट जाता है। सब कुछ ज्योतिर्मय बन जाता है।

प्रवचन ७ | संकलिका

१. लोयं च पास विप्फंदमाणं (आयारो, ४।३७)

२. जे पज्जवजातसत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे ।

३. जे असत्थस्स खेयण्णे से पज्जवजातसत्थस्स खेयण्णे ।। (आयारो, ३।१७)

- ० देख, लोक चारो ओर प्रकंपित हो रहा है ।
- ० जो विषयो के विभिन्न पर्यायो में होने वाली आसक्ति के अन्तस् को जानता है, वह अनासक्ति के अन्तस् को जानता है । जो अनासक्ति के अन्तस् को जानता है, वह विषयो के विभिन्न पर्यायों में होने वाली आसक्ति के अन्तस् को जानता है ।

४. द्रव्य परिणामीनित्य होता है ।

५ ० स्वाभाविक स्पंदन—आत्मा मे चैतन्य के स्पदन ।
  ० निमित्तज स्पन्दन—कर्म या सूक्ष्म शरीर के स्पदन । प्राण या तैजस के स्पंदन ।

६ चैतन्य के स्पन्दन सूक्ष्मतम । कर्म के स्पन्दन सूक्ष्मतर ।
  प्राण के स्पन्दन सूक्ष्म । स्थूल शरीर के स्पदन स्थूल ।

७ मूर्च्छा या मोह के स्पन्दन सबसे अधिक होते हैं ।

८. श्वास के स्पदन से ऊर्जा उत्पन्न होती है । घार्षणिक विद्युत् तथा मस्तिष्क मे धारावाही विद्युत् ।

९ जब तक जीवनीशक्ति के स्पदन है तब तक प्राणी जीता है ।

१०. वासना का प्रतिपक्षी सवेदन—
  ० ऋण और धन विद्युत् का योग । प्राण और अपान का योग ।
  ० जीभ की ऋण और तालु की धन विद्युत् का योग ।

११. मज्जा—यही 'ग्रे मैटर' है । यही अवचेतन मन का स्तर है ।
  यही बिन्दु है । सूक्ष्म शरीर का इससे सम्बन्ध है ।

१२ प्राणधारा का सुषुम्ना मे प्रवेश होने पर सुख ही सुख, मन शात, आध्यात्मिक स्पंदन प्रारम्भ । यही आत्म-रमण या आत्म-रति है ।

१३ सुख-दुःख क्या है ? स्पंदन और मन या चेतना का योग ।

आध्यात्मिक सुख

द्रव्य परिणामीनित्य होता है। यदि वह नित्य ही हो तो हमे कुछ करने की जरूरत ही नही होती। उसमे परिवर्तन तभी होता है जब कि परिवर्तनशीलता है। कुछ उत्पन्न होता है और कुछ नष्ट होता है। आत्मा भी परिणामीनित्य है। उसमे दो प्रकार के स्पदन होते है। प्रत्येक पदार्थ मे दो प्रकार के स्पदन होते है। एक है स्वाभाविक स्पदन और दूसरा है निमित्तज स्पदन। चैतन्य का स्पदन स्वाभाविक होता है। यह निरन्तर होता रहता है। दूसरा स्पदन निमित्तो से उत्पन्न होता है। निमित्त अनेक है। एक निमित्त है—कर्म। कर्म से स्पदन उत्पन्न होते है। दूसरा निमित्त है—प्राण। प्राण से स्पदन उत्पन्न होते है। इस प्रकार हमारा अस्तित्व तीन प्रकार के स्पदनो से घिरा हुआ है—चैतन्य का स्पदन, कर्म का स्पदन और प्राण का स्पन्दन। स्पदनो का समुद्र तरगित है। ऊर्मियां ही ऊर्मिया। एक स्थिर अंश, पर वह भी पूरा अस्थिर। एक नित्य अश, पर वह भी पूरा अनित्य। इतना परिणमन है कि चारो ओर स्पदन ही स्पदन दिखाई दे रहा है। उस स्पदन मे अस्पदित अंश को खोज पाना भी सरल नही है।

चैतन्य के स्पंदन सूक्ष्मतम स्पदन है। कर्म के स्पदन या सूक्ष्म शरीर के स्पदन सूक्ष्मतर है। प्राण के स्पदन सूक्ष्म है। स्थूल शरीर के स्पंदन स्थूल है। हम सबसे पहले इन स्थूल स्पदनो को ही पकडते है। इनका ही हमे अनुभव होता है। इनको ही हम सुख या दुःख मानकर चलते है। स्थूल शरीर मे होने वाले स्थूल स्पदन ही हमारे लिए सुख-दुःख बने हुए हैं। उनसे परे जाकर सुख की कल्पना करना हमारे लिए सत्य भी नही है, सम्भव भी नही है। जब तक व्यक्ति चेतना के स्थूल स्तर पर जीता है तब तक यह कल्पना भी नही की जा सकती कि इससे परे भी कोई सुख हो सकता है।

श्वास के स्पदन होते है। उनसे विद्युत् उत्पन्न होती है। जीवनीशक्ति के स्पदन होते है, हम जीवित रहते है। हमारे जीवन की नियामक प्राणशक्ति है—आयुष्यप्राण। उसके भी स्पदन होते है। जब तक ये स्पदन होते रहते है तब तक सारे प्राणो के स्पदन होते है। पाच इन्द्रियो के स्पदन होते है। मन के स्पंदन और वाणी के स्पदन होते है। काया—शरीर के भी स्पदन होते है। इस प्रकार प्राण दस है। सबके अपने स्पदन हो रहे हैं। उन्ही के आधार पर हमारे जीवन का यह ढाचा चल रहा है।

आठ प्रकार के कर्म हैं। आठ प्रकार के स्पदन हैं। उनमे मोह के

स्पदन सबसे अधिक है। आवेग, उत्तेजना, भय, शोक, विषाद, घृणा, विकार, काम-वासना—ये सारे मूर्च्छा के स्पदन है, मोह के स्पंदन है। ये निरन्तर होते रहते है। ये कभी विराम नही लेते। ये अपने-आप कभी रुकते भी नही। इनके आधार पर कभी सुख का अनुभव होता है, कभी दु:ख का अनुभव होता है। इनमे कुछ स्पदन ऐसे होते है, जो सुख का अनुभव कराते है और कुछ स्पदन ऐसे होते है, जो दु:ख का अनुभव कराते है।

सुख-दु ख क्या है ? इसे समझना होगा। स्पदनो के साथ मन का योग सुख है और स्पंदनो के साथ मन का योग ही दु:ख है। स्पदनो के साथ यदि मन का योग नही होता है तो न सुख का अनुभव होता है और न दु.ख का अनुभव होता हैं। प्रिय स्पंदनो के साथ मन का योग होता है तो सुख और अप्रिय स्पदनो के साथ मन का योग होता है तो दु:ख। सुख-दु.ख की जो कल्पना है, वह मन के योग के साथ होती है। मन को न जोड़े। स्पदन होते रहे, कोई बात नही है। न सुख होगा और न दु ख।

स्पदन निमित्तज है। प्राण के स्पदन निमित्त से उत्पन्न होते है और कर्म के स्पंदन भी विपाक के निमित्त से ही आते है। स्पदन के निमित्त अनेक है। उनमे एक निमित्त है—चिंतन। चिंतन करते है, स्पदन प्रारम्भ हो जाते है। स्मृति होती है, स्पदन होने लग जाते है। एक घटना है। चार आदमी बुढिया के घर आए। बुढिया ने उन्हे छाछ पिलाई। चारो चले गए। बुढिया ने देखा कि छाछ के बर्तन मे सांप मरा पडा है। बुढिया ने सोचा—बेचारे चारो मर गए होगे। कुछ वर्ष वीते। वे चारो पथिक पुन उसी बुढिया के यहा ठहरे। बुढिया ने उन्हे आश्चर्य से देखा। पूछने पर बुढिया ने घटित घटना बता दी। चारो के स्मृति-कोष्ठ जाग गए। उनकी आखो के सामने जहर मिली छाछ के पान का दृश्य उपस्थित हुआ और वे चारों उसी क्षण मर गए। उनको विष ने नही मारा, किन्तु विष की स्मृति ने मार डाला। वे सचमुच मर गए।

चिंतन से, स्मृति से, कल्पना से स्पदन पैदा होते है। इनसे सुखद स्पदन भी पैदा होते है और दु:खद स्पदन भी पैदा होते हैं। भक्ति और जप का मार्ग जो विकसित हुआ, उसके पीछे भी स्पंदनो का ही सिद्धात काम करता है। कहा जाता है—अमुक प्रकार की ध्वनि करो, अमुक प्रकार के स्पदन पैदा करो। उच्चारण सहित जप करो, मंद जप करो, मौन जप करो, मानसिक जप करो और सूक्ष्म में जाकर प्राण का जप करो। यह स्पदनो के उत्पादन का ही सिद्धात है। मंत्र का सिद्धात भी ध्वनि का सिद्धांत है, स्पदनो का सिद्धात है। मंत्र की रचना करने वाले जानते थे कि किस प्रकार की ध्वनि से किस प्रकार के स्पदन पैदा होते है और उनका क्या प्रभाव होता है। ध्वनियो के विविध स्पंदनों के आधार पर ही समूचा मंत्र-शास्त्र विकसित

हुआ। सैकड़ो ग्रथ मत्र-शास्त्र पर लिखे गए। ऐसी कोई भी व्याधि, चाहे फिर वह शारीरिक हो या मानसिक, नही है, जिसके उपशमन के लिए कोई न कोई मंत्र निर्दिष्ट न किया हो। मत्र के द्वारा चिकित्सा की जाती है। मंत्र के द्वारा शक्ति का विकास किया जाता है। मत्र के द्वारा धन की प्राप्ति की जाती है। मंत्र के द्वारा अनिष्ट का निवारण किया जाता है। सुख-दु ख, लाभ-अलाभ—सबमे मंत्र का प्रयोग किया जाता है।

ध्वनि स्पदन पैदा करती है और वे नाना प्रकार के स्पदन नाना प्रकार की अवस्थाए पैदा करते है।

अनुभव भी स्पदन पैदा करते है। हम किसी अनुभव मे जाते हैं। एक विशिष्ट प्रकार का स्पदन प्रारम्भ हो जाता है।

ध्यान भी स्पदन पैदा करता है।

जितने आस्रव, उतने ही सवर। जितने बध के प्रकार उतने ही मोक्ष के प्रकार। जितनी बीमारिया उतनी ही औषधिया। इसी प्रकार स्पदन की उत्पत्ति के भी अनेक निमित्त है। जितने निमित्त, उतने ही प्रकार के स्पंदन। इसीलिए भक्तिमार्ग भी चल रहा है, श्रद्धामार्ग भी चल रहा है, ज्ञान और क्रियामार्ग भी चल रहा है। किसी भी मार्ग पर चलें। अमुक-अमुक प्रकार के स्पंदन पैदा करें और अमुक-अमुक प्रकार के स्पदनो को रोक दे, काम बन जाएगा।

अध्यात्म के क्षेत्र मे जब स्पंदनो का सूक्ष्मता से अध्ययन किया गया तो अनेक स्थापनाए हुई। एक स्थापना हुई—प्रतिपक्ष भावना की। स्पंदन पैदा करने का और सूक्ष्म स्तर तक पहुचने का एक मार्ग है—भावना। भावना का अर्थ है—वैसा हो जाना, ध्येय के अनुरूप हो जाना। प्रतिपक्ष स्पंदनो से बहुत सारी बाते घटित हो जाती है। क्रोध का प्रतिपक्षी है—उपशम। क्रोध है तो उपशम के स्पंदन पैदा करो। मान का प्रतिपक्षी है—मृदुता। मान है तो मृदुता के स्पदन पैदा करो। माया का प्रतिपक्षी है—ऋजुता। माया है तो ऋजुता के स्पदन पैदा करो। लोभ का प्रतिपक्षी है—संतोष। लोभ है तो सतोष के स्पदन पैदा करो। यह उपदेश नही, सत्य का प्रतिपादन है। इस 'प्रतिपक्ष' सवेदन के द्वारा 'पक्ष' के सवेदनो को नष्ट किया जा सकता है।

किसी को मोह हो रहा है, शोक हो रहा है, विषाद हो रहा है, एकत्व की अनुप्रेक्षा करो, एकत्व के स्पंदन पैदा करो, मोह के स्पदन समाप्त हो जाएगे।

एक स्त्री थी। उसका नाम था 'अतुकारीभट्टा'। उसमे क्रोध के इतने स्पदन होते कि सर्पिणी से भी वह अधिक फुफकारती। उसने उपशम की बात को समझा। उसका क्रोध शात हो गया। क्रोध का प्रतिपक्ष है उपशम। उपशम के स्पंदन क्रोध के स्पंदन को नष्ट कर देते हैं।

एक जिज्ञासा हो सकती है कि प्रतिपक्ष की भावना से 'पक्ष' के स्पंदन नष्ट हो जाते हैं तब हम खाने का कष्ट ही क्यो करे ? जब भूख के स्पदन होने लगे तब हम भोजन के स्पदनो का अनुभव करे, भूख शात हो जाएगी। क्या ऐसा हो सकता है ? हमे इसे समझना है। प्रतिपक्ष भावना का प्रयोग जीव-विपाकी स्थितियो मे ही किया जा सकता है। कुछ स्पदन ऐसे होते है, जिनका प्रभाव केवल पुद्गल पर ही होता है, हमारे शरीर पर ही होता है। कुछ स्पदन ऐसे होते है, जिनका प्रभाव चैतन्य पर भी होता है। मूर्च्छा के या मोह के जितने स्पदन है—ये सारे जीव-विपाकी है। इनका प्रभाव हमारे चैतन्य पर होता है। शुभ-अशुभ वेदनीय का प्रभाव पुद्गलो पर होता है। भूख को प्रति-सवेदी स्पदनो के द्वारा नही मिटाया जा सकता किंतु मूर्च्छा के स्पदनो को प्रतिसवेदी स्पदनो के द्वारा मिटाया जा सकता है।

प्रतिपक्षी स्पदनो को उत्पन्न करने की बात अध्यात्मशास्त्र मे विकसित हुई। जो भी स्पदन हो, उन्हे देखो-जानो। विपाक-विचय करो। देखो-जानो। तत्काल प्रतिपक्षी स्पदन शुरू करो। विषाद, घृणा, शोक, क्रोध—ये सारे समाप्त हो जाएगे।

किसी मे वासना के स्पंदन, काम के स्पदन होते है। काम के स्पंदन को समाप्त करने के लिए प्रतिपक्षी स्पंदन पैदा करते हैं। एक है 'पररसी' स्पदन और एक है 'आत्मरसी' स्पदन। एक है—विषय-रमण और एक है—आत्म-रमण। हमारी ऊर्जा, विद्युत्शक्ति, प्राणशक्ति जो मस्तिष्क मे होती है वह जब नीचे की ओर प्रवाहित होती है तब काम के स्पदन पैदा होते हैं। वे स्पदन सुख की अनुभूति कराते है। सुख का अनुभव स्पंदनो मे है, किसी वस्तु मे नही। ये स्पदन अन्य उपकरणो के द्वारा भी पैदा किए जा सकते हैं। दोनो मे कोई अन्तर नही आएगा।

कामकेन्द्र की ओर प्रवाहित होने वाली ऊर्जा से काम के स्पदन पैदा होते हैं। उनसे सुख की अनुभूति होती है। मनुष्य सुख मानता है। अब उन स्पदनो के प्रतिपक्षी स्पदन पैदा करने के लिए हमे उल्टा चलना पड़ेगा। हमे प्रतिसलीनता करनी पड़ेगी। मस्तिष्क की धन-विद्युत् है, पोजिटिव विद्युत् है, और कामकेन्द्र की ऋण विद्युत् है, नेगेटिव विद्युत् है। सहस्रार चक्र में जब प्राणधारा का प्रवाह चलेगा तब आत्मरसी स्पदन पैदा होगे। उन स्पदनो से जो सुख की अनुभूति होगी, वह अपूर्व होगी। इसकी तुलना मे कामकेन्द्र के स्पदनो से होने वाले सुख की अनुभूति नगण्य है। जो व्यक्ति उस अनुभूति तक पहुच जाता है, वह वहां से नीचे उतरना नही चाहता। घटो तक सुख की अनुभूति मे लीन रहता है। वहां से हटने के बाद भी विषाद नही होता। उसे उल्टा अधिक आनन्द, अधिक उल्लास और अधिक शक्ति का अनुभव होता है।

एक प्रश्न है—सुख क्या है ? ऋण विद्युत् का धन विद्युत् के साथ जो योग है, वह सुख है। यह सामान्य सुख नही, आध्यात्मिक सुख है। कामकेन्द्र की निषेधात्मक शक्ति है। उसका योग जब विधायक शक्ति के साथ होता है तब अध्यात्म सुख उत्पन्न होता है। तब विचित्र प्रकार के स्पदन पैदा होते है।

हमारे चैतन्य का और ज्ञान का केन्द्र है नाड़ी-संस्थान। यह समूचे शरीर मे परिव्याप्त है। किन्तु पृष्ठरज्जु के निचले सिरे से मस्तिष्क तक का स्थान चैतन्य का मूल केन्द्र है। आत्मा की अभिव्यक्ति का यही स्थान है। यही चित्त का स्थान है। यही मन और इन्द्रियो का स्थान है। संवेदन, प्रतिसवेदन, ज्ञान—सारे यही से प्रसारित होते है। शक्ति का भी यही स्थान है। ज्ञानवाही और क्रियावाही ततुओ का यही केन्द्र-स्थान है। मनुष्य ऊर्जा को अधोगामी करना जानता है, उर्ध्वगामी करना नही जानता। वह अपनी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी करे। केवल दिशा का ही परिवर्तन हुआ कि जो शक्ति नीचे की ओर जाती थी वह ऊपर की ओर जाने लगती है। इतना-सा ही अन्तर पडता है। मस्तिष्क की ऊर्जा का नीचे जाना भौतिक जगत् मे प्रवेश करना है। कामकेन्द्र की ऊर्जा का ऊपर जाना अध्यात्म जगत् मे प्रवेश करना है। ऊर्जा के नीचे जाने से पौद्गलिक सुख की अनुभूति होती है। ऊर्जा के ऊपर जाने से अध्यात्म सुख की अनुभूति होती है। यह केवल विद्युत् का परिवर्तन है। इसे कहा गया—अन्तर्मैथुन, आत्मरति, आत्मरमण। आत्मरमण की बात व्यर्थ नही है। प्रश्न होता है कि आत्मा अमूर्त्त है, दृश्य नही है, फिर आत्म-रमण कैसे ? प्रश्न ठीक है। इसके समाधान मे कहा गया कि आत्म-रमण का केन्द्र हमारे पास विद्यमान है। इसमे हम रमण कर सकते है।

शरीर मे सात धातुए है। सातवा धातु है—शुक्र, वीर्य। कहा गया है—**'मरणं विन्दुपातेन, जीवनं विन्दुधारणात्'**— विन्दु के पात से मरण होता है और विन्दु धारण से जीवन प्राप्त होता है। विन्दु क्या है—इसे ठीक समझना है। मस्तिष्क में जो प्राण ऊर्जा है, यह जो ग्रेमैटर (Grey matter) है, यह जो धूसर हिस्सा है, यही है विन्दु, यही है वीर्य। **सहस्रारोपरि विन्दुः'** सहस्रार के ऊपर विन्दु की अवस्थिति है। उस विन्दु के साथ जब शक्ति का मिलन होता है तब आत्म-रति पैदा होती है।

विन्दु के पात से मरण और विन्दु के रक्षण से जीवन—यह बात बिलकुल ठीक है। जब प्राण की ऊर्जा नीचे जाती है तब मनुष्य मरता है और जब प्राण की ऊर्जा ऊपर जाती है तब मनुष्य जीता है, अमर हो जाता है। वह आत्मा को प्राप्त कर लेता है। यह आत्मा के आरोहण का मार्ग है, अध्यात्म के विकास का मार्ग है। जब तक मनुष्य की चेतना नाभि के नीचे के केन्द्रो के आस-पास ही उलझी रहती है तब तक आरोहण नहीं होता। गुणस्थानो के क्रमारोहण की बात भी यही है। जब ऊर्जा का निम्नगामी प्रवाह

होता है तब मनुष्य पहले, दूसरे, तीसरे गुणस्थान मे ही रहता है। जब चौथा गुणस्थान आता है तो विवेक की प्रज्ञा जागती है और ऊर्जा नाभि के आस-पास आती है। फिर क्रमशः आरोहण होता है। साधक ऊपर उठता है। वह सुपुम्ना के मार्ग से मस्तिष्क के केन्द्र तक पहुचता है और धीरे-धीरे आगे वढता हुआ केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है, आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। यह मार्ग छोटा है। यात्रा भी छोटी है। परन्तु है बहुत ही महत्त्वपूर्ण। इसमे खपना पडता है। सुषुम्ना से चलना और सहस्रार तक पहुचना—इतना-सा करना है। रास्ता छोटा है। केवल चढाई ही चढाई है। आरोहण ही आरोहण है।

इस आरोहण मे श्रद्धा का होना अत्यन्त आवश्यक है। हम श्रद्धा को समझे। श्रद्धा क्या है? जब चेतना सहस्रार केन्द्र मे जाती है, उसमे लीन हो जाती है, उस चेतना का नाम है—श्रद्धा। श्रद्धा तीव्र लालसा है, तीव्र प्यास है। इतनी तीव्र प्यास कि वह समुद्र के समूचे पानी को पी लेने पर भी नहीं बुझती। इस गहरी प्यास का नाम है श्रद्धा। यह अवचेतन मन के स्तर पर होती है।

उपासक के लिए एक विशेषण आता है—'अट्ठिमिजपेम्माणु रागरत्ते। उपासक या श्रावक वह होता है जिसकी अस्थि-अस्थि और मज्जा-मज्जा मे धर्म का अनुराग प्रविष्ट हो जाता है। अस्थि और मज्जा मे धर्म का अनुराग कैसे प्रविष्ट होता है—यह एक प्रश्न है। क्या अस्थि और मज्जा के साथ श्रद्धा और भावना का कोई सबध है? अस्थि का एक अर्थ है—हड्डी और दूसरा अर्थ है—पृष्ठरज्जु। मज्जा का अर्थ भी मस्तिष्क और पृष्ठरज्जु का वह धूसर भाग है, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। श्रद्धा या भावना का वहां तक पहुचना ही धर्म के अनुराग का अस्थि-मज्जा मे प्रवेश करना है। यहां तक श्रद्धा के पहुच जाने पर वह दृढ हो जाती है, फलवती होती है।

जव तक श्रद्धा अवचेतन मन तक नही पहुचती, उसका कोई परिणाम नही होता। आज व्यक्ति एक दिशा मे श्रद्धा करता है, एक ओर आकर्षण करता है और दूसरे दिन उसकी श्रद्धा का प्रवाह किसी दूसरी ओर जाता है तो वह श्रद्धा नही है। इसे ही यदि श्रद्धा मान लिया जाए तो इससे बढ़कर और झूठ क्या हो सकता है।

एक व्यक्ति एक स्त्री के प्रति मोहित हो गया। उसने उसे कुछ वशीकरण प्रयोग सिखा दिया। वह स्त्री उसके प्रति अनुरक्त हो गयी। अव उस व्यक्ति के सिवा कोई दूसरा व्यक्ति दीखता ही नही था। वह उसके प्रति पागल हो गयी। घरवाले चिंतित हुए। एक मत्रविद् को वुलाया। उसने घरवालो से कहा—इसका अनुराग अस्थि-मज्जा तक पहुंच गया है। जव तक उसका परिशोधन नही होगा तव तक वह व्यक्ति ही इसे दीखता रहेगा। वह

इसके मन से हटेगा नही ।' मत्रविद् ने उस स्तर तक परिशोधन किया। अस्थि-मज्जा से उस अनुराग को निकाला और वह स्त्री पूर्ण स्वस्थ हो गयी।

जो वात अस्थि-मज्जा तक पहुच जाती है, फिर वह विस्मृत नही हो सकती। सुपुम्ना और सहस्रार—ये दोनो शक्तिशाली केन्द्र है। अनुभवी साधको ने इन्हें बहुत ही महत्त्व दिया है। जब यह श्रद्धा पैदा हो जाती है कि आध्यात्मिक सुख ही बडा सुख है और यह बात अवचेतन मन के स्तर पर पहुच जाती है तव अध्यात्म के स्पदनो का, चैतन्य के स्पंदनो का, धनात्मक विद्युत् या प्राण-ऊर्जा के स्पदनो का अनुभव होने लगता है। श्रद्धा स्थिर होती है, गति वदल जाती है।

भगवान् महावीर से पूछा गया—'धर्म की श्रद्धा से क्या होता है। उसका परिणाम क्या होता है।' भगवान् ने कहा—'धर्म-श्रद्धा से अनौत्सुक्य पैदा होता है। उत्सुकता समाप्त हो जाती है।' जिन स्पदनो के प्रति, पौद्-गलिक स्पदनों के प्रति उत्सुकता थी, वह धर्म की श्रद्धा जागने से मिट जाती है। सारी उत्सुकता समाप्त हो जाती है। उत्सुकता समाप्त होते ही अध्यात्म के स्पदनो का अनुभव होने लग जाता है। अध्यात्म के स्पदनो को अनुभव करने का एक उपाय है कामकेन्द्र की ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी वनाना। सकल्प करे और अपान देश के स्नायुओ को ऊपर की ओर उठाए। यदि यह प्रयोग १५-२० मिनट या आधा घटा तक चलता है तो आध्यात्मिक सुख के स्पदन प्रारम्भ हो जाते है।

जीभ की विद्युत् है—ऋणात्मक और सिर की विद्युत् है—धनात्मक। जीभ को तालु से लगाए। अपूर्व आनद का अनुभव होगा। आत्म-रति जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

ऋणात्मक और धनात्मक विद्युत् का योग और भावना का प्रयोग—ये आध्यात्मिक स्पदन पैदा करते हैं। जैसे-जैसे ये स्पदन गहरे होते जाते है, वैसे-वैसे पौद्गलिक स्पदन छूटते जाते हैं। ऐसा लगने लगता है कि मानो लोह छूट रहा है और स्वर्ण मिल रहा है, झोपडी छूट रही है और प्रासाद मिल रहा है।

यह विषय तर्क का नही है, अनुभव का है। तर्क के द्वारा यहा तक नही पहुचा जा सकता। चाहे वृहस्पति भी आ जाए, वे भी अपनी प्रखर प्रज्ञा से इस तथ्य को समझा दें, फिर भी श्रोता विना अभ्यास के वहा तक नही पहुच सकता। यह अनुभव का मार्ग है। अभ्यास करते जाओ, वहा तक पहुच जाओगे। अभ्यास-काल मे अनेक अवरोध आ सकते हैं, रुकना भी पडता है, पीछे हटना होता है, फिर भी यही एकमात्र मार्ग है अध्यात्म-सुख के अनुभव का।

समूचे विश्व के पौद्गलिक सुखो को हम राशीकृत कर लें फिर भी वे

शुद्ध चैतन्य के स्पदनो से उत्पन्न सुख की तुलना मे नगण्य है। अध्यात्म के सुखो की बात सुनने मे अच्छी लग सकती है और साथ ही साथ चित्त मे संशय भी पैदा कर सकती है, उत्साह उत्पन्न भी कर सकती है और नाना प्रकार के विकल्पो को उभार भी कर सकती है। ये सारी स्थितिया है। ये होती हैं। भाषा के माध्यम से कहने वाला, चाहे फिर केवली हो या तीर्थंकर या सामान्य साधक, दोनो स्थितियो से बचा नही सकता। सुनने वाले कुछ लोगो का मन प्रेरणा से भरेगा तो कुछ लोगो का मन सशय से व्याप्त होगा। दोनो बाते हो सकती है। प्रेरणा पाकर चलने वाले का भी एक ही मार्ग है—अनुभव का और सशय को मिटाने का भी एक ही मार्ग है—अनुभव का। इसके सिवाय कोई रास्ता नही है। साधना का एकमात्र प्रयोजन यही है कि वे स्पदन पकड मे आ जाएं, रास्ता खुल जाए और यह स्पस्ट अवभासित हो कि ऐसा भी सुख है, जिसका बाहर से कोई नाता नही है।

जो अध्यात्म के स्पदनो को जानता है वह बाहर के स्पदनो को जानता है और जो बाहर के स्पदनो को जानता है वह भीतर के स्पदनो को जानता है। दोनो को जानकर ही वह भीतर के स्पदनो के प्रति अनुरक्त हो सकता है। वह साक्षात् कर लेता है कि ये स्पदन अधिक सुखद, अधिक निरपवाद, अधिक लाभदायी और अधिक आनन्दमय है। वह उसी ओर चल पडता है।

प्रवचन ८ | संकलिका

१. आयंकदंसी न करेई पावं (आयारो, ३।३३)
२. समत्तदंसी न करेई पावं (आयारो, ३।२८)
३. जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे ।
   जे अणण्णारामे, से अणण्णदंसी । (आयारो, २।१७३)
   - जो हिंसा आदि मे आतक देखता है, वह पाप नही करता ।
   - जो समत्वदर्शी है, वह पाप नही करता ।
   - जो अनन्य मे रमण करता है, वह अनन्य को देखता है ।

४ खोज अपने से ही प्रारम्भ करे, जीवन से ही प्रारम्भ करे ।
५. श्वास से जी रहे है, शरीर मे जी रहे है, मन और चित्त से यात्रा चल रही है, चैतन्य से प्रकाश मिल रहा है ।
६ बंद, खुली या अधमुदी आखो से देखे—नासाग्र पर, वस्तु पर—स्पदन ।
७ उपलब्ध होगे—
   ० प्रज्ञा ० द्रष्टाभाव ० साक्षित्व ० साम्य ० माध्यस्थ ।
८. क्या देखे ?—
   - क्रोधदर्शी —क्रोध को देखे ।
   - आतकदर्शी—विपाक को देखे ।
   - समत्वदर्शी—साम्य को देखे ।
   - अनन्यदर्शी—केवल आत्मा को देखे ।
   - परमदर्शी—केवल परम को देखे ।
   - नैष्कर्म्यदर्शी—अकर्म को देखे ।
   - लोकदर्शी—शरीर को देखे ।

सत्य की खोज

प्रेक्षा-ध्यान की उपसपदा स्वीकार करने वाला साधक प्रतिज्ञा करता है—'सच्चव्वतं उवसंपज्जामि'—सत्य का व्रत स्वीकार करता हूं। ध्यान का सारा प्रयोजन है—सत्य की खोज। जो व्यक्ति ध्यान नही करता, वह सत्य की खोज की दिशा मे आगे नही बढ़ सकता। हमारे चारो ओर इतने सत्य है, इतने सूक्ष्म सत्य है, जिन्हे स्थूल-दृष्टि से नही देखा जा सकता। उन्हे स्थूल मन से भी नही पकड़ा जा सकता। वे स्थूल चेतना के विषय नही बनते। उन्हे जानने-देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, सूक्ष्म मन की आवश्यकता है और सूक्ष्म चेतना की आवश्यकता है। ध्यान के बिना दृष्टि को सूक्ष्म नही किया जा सकता, मन को पटु और सूक्ष्म नही बनाया जा सकता। ध्यान के बिना चेतना भी सूक्ष्म नही बन सकती। चेतना पर राग-द्वेष और मल के आवरण जमे हुए है। वे जब तक नही टूटते तब तक चेतना मे सूक्ष्मता नही आ सकती। इसलिए ध्यान की साधना करने वाला सबसे पहले सत्य की खोज करता है और वह सत्य की खोज अपने से ही प्रारम्भ करता है। वह सत्य को बाहर नही खोजता, अपने मे ही खोजता है।

हम सबसे पहले श्वास की प्रेक्षा करते है, श्वास को देखते है। हमारे जीवन का पहला तत्त्व है—श्वास। हम श्वास से जी रहे है। इसलिए सबसे पहले हमारी सत्य की खोज श्वास से ही प्रारम्भ हो रही है। हम शरीर मे जी रहे है, इसलिए हमारी सत्य की खोज का दूसरा विषय बनता है—शरीर, शरीर प्रेक्षा। हमारी जीवन-यात्रा मन से चलती है, विचार से चलती है, विकल्प से चलती है, चिन्तन से चलती है। हम विचार की प्रेक्षा करते हैं, मन की प्रेक्षा करते है, विकल्पो की प्रेक्षा करते हैं, चिंतन की प्रेक्षा करते हैं।

हमारे अस्तित्व के मूल मे है—चैतन्य। यह सब चैतन्य के द्वारा चलता है। चैतन्य के द्वारा मन चलता है, शरीर चलता है और श्वास चलता है। सबके मूल मे है—चैतन्य। इसलिए हम चैतन्य की प्रेक्षा करते हैं। हमारे सत्य की खोज के आयाम आगे से आगे बढ़ते जाते हैं। वे मुख्य रूप से चार है। पहला आयाम है—श्वास। दूसरा आयाम है—शरीर। तीसरा आयाम है—मन, चित्त, बुद्धि। चौथा आयाम है—शुद्ध चैतन्य, आत्मा। ये सारे के सारे आयाम सत्य की खोज के आयाम हैं।

प्रश्न होता है कि श्वास ऐसा कौन-सा बड़ा सत्य है, जिसके लिए हम

खोज प्रारभ करे। श्वास वडा सत्य है। श्वास भीतर जाता है। उसके साथ अनेक द्रव्य भीतर जाते है। प्राणतत्त्व भी भीतर जाता है। जिस किसी ने प्राण की साधना की है, वह जानता है कि श्वास के साथ प्राण की ऊर्जा किस रूप मे भीतर जाती है, उसके कितने आकार बनते है और वे आकार निरंतर आंख के सामने घूमते रहते है। आख खुली होती है तब भी दिखाई देते है और आख वन्द होती है तव भी दिखाई देते हैं।

वहुत वर्षो से मन मे एक प्रश्न उठता था कि ओकार को इतना महत्त्व क्यो दिया गया ? साधको ने उसे ईश्वर का प्रतिरूप माना। यह क्यो ? अनेक ग्रन्थ देखे, पढे। हमारे मन मे एक ग्रन्थि है, वही तक ग्रन्थो की वात समझ मे आती है। वह वात ग्रन्थि को पार कर आगे नही जाती। ग्रन्थो के आधार पर वात समझ मे आयी कि ओंकार शक्तिशाली बीजमत्र है। इसमे अपूर्व शक्ति है। इसकी ध्वनि से अमुक-अमुक परिणाम आते है। यह सब कुछ जान लिया। किन्तु जो बात समझ मे आनी चाहिए थी, वह ग्रन्थो मे कही नही मिली। अभ्यास करते-करते वह वात स्पष्ट होती गई। अनुभव से वह प्रत्यक्ष होती गई। जव व्यक्ति प्राण की साधना मे चलता है तव आकाश मण्डल मे व्याप्त प्राण के परमाणु आकार लेना शुरू करते है। वे इतने आकारों मे सामने आते है कि उनकी गणना नही की जा सकती। आकार वदलते रहते है। वदलते-वदलते जो अंतिम आकार होता है, वह ओकार की प्रतिकृति होता है। प्राणधारा का यह आकार साधक के सामने अभिव्यक्त होता है। यह ग्रन्थ की वात नही कर रहा हू, यह मेरे अनुभव की बात है।

ओकार प्राणशक्ति का विशेप रूप है। जव प्राणशक्ति का पूरा विकास होता है और जव वह हमारे भीतर प्रवेश करती है तव ओकार का रूप धारण कर लेती है। प्राणधारा का विशेप आकार या सस्थान है—ओकार। इसी-लिए इसे इतना महत्त्व दिया गया है।

हमारे जीवन का पूरा क्रम, हमारी सारी प्रवृत्तियां प्राणशक्ति या प्राणऊर्जा के द्वारा संचालित होती हैं। यदि प्राण की ऊर्जा नही है तो फिर या तो मुक्त आत्मा की अवस्था होगी या फिर अचेतन पत्थर की अवस्था होगी। मुक्त आत्मा मे प्राण के स्पंदन नही होते। उसमे केवल चैतन्य के स्पदन मात्र होते हैं। अचेतन पत्थर मे न चैतन्य के स्पंदन होते है और न प्राण के स्पदन होते हैं।

वोलना, चलना, देखना, इन्द्रियो का गतिशील होना, मन का गति-शील होना, वुद्धि का क्रियाशील होना—ये सव प्राणऊर्जा के कार्य हैं। उनकी सक्रियता की पृष्ठभूमि में प्राण का प्रवाह कार्य करता है। इद्रिया अचेतन हैं। प्राणऊर्जा का योग पाकर वे सचेतन हो जाती हैं। मन अचेतन है। प्राण-ऊर्जा के प्रवाह से वह सचेतन हो जाता है। शरीर अचेतन है। प्राणऊर्जा के

प्रवाह से वह सचेतन हो जाता है।

प्राणशक्ति का बडा स्रोत है—श्वास। श्वास के साथ केवल रासायनिक द्रव्य ही नहीं जाते, प्राणधारा भी जाती है, प्राणशक्ति भी जाती है। जितना गहरा श्वास लेते है उतनी ही अधिक प्राणशक्ति जाती है। सकल्प जितना पुष्ट होता है, प्राणशक्ति का प्रवाह भी उतना ही अधिक हो जाता है। जब हम श्वास-दर्शन करते है, प्राणशक्ति और अधिक बढ जाती है। शक्ति के विकास का एक बडा सूत्र है—श्वास। जो चमत्कार या प्रदर्शन आज देखने मे आते है, वे सारे श्वास के स्तर पर घटित होने वाले प्रदर्शन है, प्राणिक प्रदर्शन हैं। श्वास के आधार पर मोटर या ट्रक को भी छाती पर से निकाला जा सकता है। श्वास का प्रयोग न हो तो सारा शरीर चरमरा जाता है। हड्डिया टूट जाती है। श्वास मे अथाह शक्ति है। आत्मा की अनन्त शक्ति का एक अश श्वास के द्वारा प्रदर्शित होता है। आत्मा मे अनन्त शक्ति है, अनंत वीर्य है, यह सच है। श्वास इसे प्रमाणित करता है।

श्वास को हम कहा देखते है ? हम देखना तो जानते ही नही। हम जिस दुनिया मे रह रहे है, उस दुनिया में देखने, जानने जैसा कोई तत्त्व है ही नही। वहां केवल बौद्धिक व्यायाम है, मन और बुद्धि का कार्य है। सोचो, विचारो, समझो। बस, दुनिया समाप्त। यह है हमारी दुनिया।

श्वास का स्तर चेतना का निम्नतर स्तर है। यदि यही हम रुक जाते है तो चेतना का मूल स्तर बहुत दूर छूट जाता है। आत्मा स्वतत्र द्रव्य है। स्वतत्र द्रव्य वह होता है जिसमे कोई विशेष गुण हो। वैसे द्रव्य द्रव्य है। गुण-विशेष ही विभाजक रेखा है। वह एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करता है। यदि यह विभाजक रेखा न हो तो द्रव्यो को विभाजित नही किया जा सकता। उनकी संख्या नही हो सकती। आत्मा का विशेष गुण है—चैतन्य। यह विभाजक रेखा है। यह गुण आत्मा मे ही मिलता है, दूसरे द्रव्यो मे नही। यदि यह सामान्य गुण होता, आत्मा मे भी मिलता और दूसरे द्रव्यो मे भी मिलता, पुद्गल मे भी मिलता तो आत्मा नाम के द्रव्य का स्वतत्र अस्तित्व प्रस्थापित नही किया जा सकता। आत्मा नाम के द्रव्य की स्वतंत्र प्रस्थापना तभी की जा सकती है जब उसमे कोई स्वतंत्र गुण हो, विशिष्ट गुण हो, विभाजक गुण हो। चैतन्य गुण आत्मा मे ही है, दूसरे द्रव्य मे नही है। इसलिए आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है।

चेतना का मूल स्वभाव है—जानना और देखना। ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव। इन्हे हम एक भी कह सकते है और दो भी कह सकते हैं। कोई अन्तर नही आता। हम जब अपने अस्तित्व मे होते हैं, आत्मा की सन्निधि में होते हैं तब केवल जानना और देखना—दो ही बाते घटित होती हैं। किंतु जब बाहर आते है, अपने केन्द्र से हटकर परिधि मे आते हैं तब साथ मे और

कुछ जुड़ जाता है, मिश्रण हो जाता है। इसे पुन· शुद्ध कर पाना कठिन हो जाता है। मिश्रीकरण सरल होता है, शुद्धीकरण कठिन होता है। पुद्‌गलो का मिश्रण होते ही जानना, देखना छूट जाता है। राग-द्वेष की धारा मिलते ही जानना, देखना छूट जाता है। शेष रहता है—सोचना, विचारना, चिंतन करना, मनन करना। आज की दुनिया मे वह आदमी बडा माना जाता है जो अच्छा सोच सकता है, चिंतन कर सकता है, मनन कर सकता है, सलाह दे सकता है। उस आदमी को पहचाना ही नही जा सकता, जो केवल जानता-देखता है, जो केवल ज्ञाता-द्रष्टा है। जो अपने घर मे है, जो आत्मा की सन्निधि मे है, उसको कौन पूछे ? इस दुनिया में जो कुछ घटित होता है वह परिधि मे घटित होता है। इसका परिणाम यह हुआ कि जहां सोचने-विचारने का प्रश्न आया वहा 'अत्थि सत्थ परेण पर'—एक शस्त्र को काटने के लिए दूसरा शस्त्र तैयार हुआ और दूसरे शस्त्र को निस्तेज करने के लिए तीसरा शस्त्र आया और शस्त्रो की यह परपरा आगे से आगे चलती गई। उसे कही विराम ही नही मिला। यही सोचने पर घटित होता है। एक ने इतना सोचा तो दूसरे ने उससे आगे सोचा। पहले ने जो तर्क दिए, दूसरे ने उन सबको काट डाला। नए तर्क सामने आ गए। तीसरे ने उनको भी काट डाला। तर्कवाद वढता ही गया। खडन-मडन का कही अन्त ही नही आया। जानने-देखने की वात छूटी और सोचने विचारने का क्रम बढा। उसके साथ-साथ शत्रुता का भाव पनपा। जहा सत्य को खोजने की वात है वहा मैत्री ही होगी, शत्रुता नही होगी। शत्रुता तव होती है जव सत्य की खोज नही होती, सत्य की काट-छाट होती है। चिंतन-मनन सत्य की खोज के साधन नही हैं। वे सत्य को तोडने-मरोडने के साधन है। ये साधन जिसके पास अधिक होते है, वह विश्वविजेता वन जाता है। जो इन साधनो से शून्य है, वह पराजित हो जाता है।

मध्यकालीन दार्शनिक ग्रन्थो मे जय-पराजय का एक चक्र मिलेगा, व्यवस्था मिलेगी। सत्य की खोज वहा दृष्टिगोचर नही होगी। सत्य की खोज और जय-पराजय की वात का कोई मेल नही है। सत्ता के प्रश्न मे जय-पराजय की वात समझ मे आ सकती है। भौतिक पदार्थों की छीना-झपटी मे जय-पराजय की वात समझ मे आ सकती हैं। किन्तु जहा केवल सत्य का निरूपण हो, सत्य की खोज हो, वहा कैसी जय और कैसी पराजय ? दर्शन का मूल अर्थ था—देखना। दर्शन तो छूट गया और तर्कशास्त्र दर्शन वन गया। अनुमान दर्शन वन गया। परोक्ष दर्शन वन गया। कहा प्रत्यक्ष और कहा परोक्ष ? कहा साक्षात्कार और कहा अनुमान ? इसी दर्शन ने सारे विवादो को जन्म दिया है। यह वुद्धि के सहारे चलने वाला दर्शन था। वुद्धि के द्वारा प्रस्थापित किए गए विवाद कभी समाप्त नही हो सकते। ये विवाद तभी

समाप्त हो सकते है जब यथार्थ दर्शन शुरू होता है। अध्यात्म की चेतना जागृति होती है, देखना प्रारम्भ होता है।

श्वास को देखना अध्यात्म की दिशा का पहला चरण है। पहला चरण मूल्यवान् होता है। सही दिशा मे उठाया गया पहला कदम मजिल तक पहुचाने वाले असख्य कदमो की श्रृखला का एक अश होता है। वही मजिल का आदि कदम है। मूल्य इस बात का नही है कि आदमी कितना चलता है। मूल्य इस वात का होता है कि उसका चलना किस दिशा मे हो रहा है। सही दिशा मे चल रहा है या विपरीत दिशा मे चल रहा है ? विपरीत दिशा भटकाती है, मजिल तक कभी नही पहुचा पाती। उसकी ओर वढने वाले हजारो-लाखो कदम भी भटक जाएगे। सही दिशा मे उठाया गया एक-एक कदम मंजिल की दूरी कम करता है। एक दिन ऐसा आता है कि अन्तिम कदम मजिल को छू लेता है।

श्वास को देखने का अर्थ है—दर्शन की बात पर आ जाना। यहा सोचना छूट जाता है। केवल देखना शेप रहता है। यही दिशा है। देखना शुरू करते ही विचारो पर, विकल्पो पर प्रहार होने लग जाता है। वे बेचारे टूटने लगते है। विकल्पो से हट कर अविकल्प पर और चिन्तन से हटकर अचिंतन पर कदम वढने लगते है। यह हमारा पहला प्रस्थान होता है।

दूसरा प्रस्थान है—शरीर-दर्शन, शरीर-प्रेक्षा। यह वात वड़ी विचित्र लगती है कि जिस शरीर मे हम जी रहे हैं, जो हमारा सबसे निकट का मित्र है, उसे हम क्या देखे ? उसके भीतर क्या देखे ? ये प्रश्न तभी होते है जब तक हम देखना प्रारंभ नही करते। देखना प्रारभ करते ही सारे प्रश्न समाहित हो जाते है। शरीर मे बहुत कुछ है देखने को। देखते रहे। कभी पूरा नही होता। प्रतिदिन नए-नए अनुभव होते रहेगे। फिर लगेगा कि शरीर मे इतना है देखने को कि वह कभी पूरा ही नही होता। बीमारी का पता लगाने के लिए चिकित्सक भी तो शरीर के भीतर ही देखता है। जो चिकित्सक जितनी अधिक निपुणता और सूक्ष्मता से शरीर के भीतर देख पाता है, वही बीमारी का सही निदान कर सकता है। चिकित्सक नब्ज पर अपनी अंगुलिया टिकाता है। नाडी की धडकन को वह पकड़ता है। अन्यान्य सूक्ष्म उपकरणो से वह शरीर मे होने वाली चंचलताओ को पकडता है, सूक्ष्म स्पंदनो को पकडने का प्रयत्न करता है और फिर उन स्पदनो के आधार पर बीमारी के मूल को पकडकर निदान प्रस्तुत करता है। वह सारे शरीर को देख जाता है। उसे पता लग जाता है कि शरीर मे क्या घटित हो रहा है। केवल चिंतन के आधार पर ऐसा नही हो सकता। चिकित्सक देखने की गहराई मे जाकर ही सूक्ष्मतम कारणो को पकड़ पाता है। देखने की गहराई मे चाहे वह उपकरणो के माध्यम से ही क्यो न जाए, यह वात दूसरी है। बिना गहराई मे गए, जो

पाना होता है वह नही पाया जाता। ध्यान के द्वारा भी गहराई मे जाया जा सकता है और उपकरणो के माध्यम से भी गहराई में जाया जा सकता है। ध्यान दर्शन है, देखने की प्रक्रिया है।

चौकीदार ने मालिक से कहा—'कल आप ट्रेन से सफर करने वाले है। इसे आप स्थगित कर दे। कल प्रवास करना श्रेयस्कर नही है।'

मालिक बोला—'भोले हो तुम। बहुत आवश्यक कार्य है। कंपनी के सारे अधिकारी वहां एकत्रित हो रहे है। बहुत महत्त्वपूर्ण निर्णय हमे लेने हैं। मैं न जाऊ तो वे सारे निर्णय नही ले पाएगे। मुझे अवश्य ही जाना होगा।'

पहरेदार ने कहा—'मै इस महत्त्व को समझता हू। परन्तु निषेध करने का भी एक प्रबल हेतु है। कल ही मुझे एक सपना आया था कि जिस ट्रेन से आप जाएगे, वह दुर्घटना ग्रस्त होगी। मेरे कहने से रुक जाइए।'

मालिक ने सोचा—'प्रवासकाल मे इस पहरेदार ने अपशकुन कर दिया। चलो, आज रुक जाऊ।'

मालिक रुक गया।

दूसरे दिन ट्रेन दुर्घटनाग्रस्त हो गई। अनेक व्यक्ति मर गए।

मालिक ने पहरेदार को बुलाकर कहा—'तुमने मेरी जान बचाई। इसके लिए मै तुम्हे एक हजार रुपए इनाम मे देता हूं और साथ ही साथ तुम्हे नौकरी से बर्खास्त करता हू।'

पहरेदार यह सुनकर स्तब्ध रह गया। एक ओर पुरस्कार और दूसरी ओर नौकरी की समाप्ति।

मालिक ने कहा—'मैने तुम्हे सपने लेने के लिए यहा नौकर नही रखा है, चौकीदारी करने के लिए रखा है।'

जागरण का सबसे बड़ा सूत्र है—देखना। प्रत्यक्ष सबसे बडा प्रमाण है। परोक्ष प्रमाण नही हो सकता। सब प्रमाण प्रत्यक्ष से छोटे है। अनुमान प्रमाण उससे छोटा है, स्मृति प्रमाण उससे छोटा है, आगम प्रमाण उससे छोटा है। आगम भी हम उसको मानते है, जिसने सत्य को साक्षात् देखा है और फिर कहा है। ऐसे व्यक्ति का कथन आगम बनता है और वही हमे मान्य होता है। आगम का प्रामाण्य भी दर्शन के आधार पर है। अनुमान भी प्रमाण तब बनता है जब उसकी पृष्ठिभूमि मे दर्शन हो। यह मैंने पहले देखा है कि जहा-जहा धूम होता है वहा-वहां अग्नि होती है। देखते-देखते यह बात जब पुष्ट होती है तब व्याप्ति बनती है। दर्शन के बिना व्याप्ति नहीं बनती। व्याप्ति प्रत्यक्षमूलक होती है, परोक्षमूलक नही। ज्ञान की सारी धारा प्रत्यक्ष से प्रवाहित होती है, परोक्ष से नही।

शरीर की प्रेक्षा करें। शरीर मे मे क्या-क्या घटित हो रहा है, उसे देखे। प्रत्येक क्षण शरीर मे कुछ-न-कुछ घटित होता है। उसकी विपश्यना करें, प्रेक्षा

करे। सत्य समझ में आने लगेगा। भीतर का सत्य स्पष्ट होगा तो बाहर का सत्य छिपा नही रह पाएगा।

प्रश्न होता है– कैसे देखें—देखने की प्रक्रिया क्या है ? प्रेक्षा तीन प्रकार से की जा सकती है—खुली आखो से, आखे बंद रखकर और अध-खुली आंखो से।

देखने का एक स्रोत है—आख। आख बंद करके भी प्रेक्षा की जा सकती है। आख बद कर दी। भीतर के दर्शन की शक्ति को उद्घाटित कर दिया। एक स्रोत खोल दिया, जो आंख से भी बडा है, दर्शन की शक्ति को हमने खोल दिया और देखना प्रारम्भ कर दिया। आख बन्द करके भी देखा जा सकता है और बहुत गहराई तक देखा जा तकता है। जो खुली आंखो से दिखाई नही देता, वह आखे बंद कर देने पर प्रज्ञा से देखा जा सकता है।

खुली आखो से भी देखा जा सकता है। यह अनिमेष प्रेक्षा है। अपलक आखें, स्थिर आखे। पलक नही झपकाना है। अनिमेष प्रेक्षा से भी वस्तु के अन्तस्तल तक पहुचा जा सकता है। अनिमेष प्रेक्षा प्रारम्भ की। सामने एक चेहरा है, उसे देखना प्रारम्भ किया। आधा घंटा देखते रहे। चेहरे के हजारो रूप सामने आएगे। अन्त मे एक ज्योतिपुंज-सा दीखने लगा। प्रकाशपुज सामने रहेगा। यह अनुभव की बात है, सुनी-सुनाई बात नही है।

प्रेक्षा का तीसरा प्रकार है—अधखुली आखों से देखना। इसका केन्द्र बिन्दु होता है—अपना ही नासाग्र। जालधर बन्ध कर अपने ही नासाग्र को देखना प्रारम्भ करें। आधा घण्टा तक प्रयोग करने पर आपको विचित्र-सा अनुभव होगा। नासाग्र, जो मात्र चमडी का एक टुकडा था, वह भी कितना प्रकाशमय, ज्योतिर्मय है—यह तभी ज्ञात होगा।

जब हम देखते है तब अनेक नए-नए पर्याय सामने आते हैं, नए-नए अनुभव होते हैं।

देखना है वहा विचारना नही है और विचारना है वहा देखना नही है।

देखने की तीन बाते हैं—मृदु, मध्य और अधि। देखना तरल है, मृदु है तो देखने के साथ-साथ चिन्तन भी चलेगा। यदि देखना थोडा सघन होता है, मध्य होता है तो विचार कम आएगे। देखना अधिक चलेगा, विचार कम चलेंगे। जब देखना 'अधि' अत्यन्त सघन हो जाएगा तब विचार समाप्त हो जाएगे। वहा केवल देखना ही शेष रहेगा।

देखना सघन होना चाहिए। विकल्पो को समाप्त करने का यही एकमात्र साधन है।

एक व्यक्ति ने कहा—'सर्दी लग रही है। ठिठुर रहा हूं।' दूसरे ने कहा—'जाओ, कपड़ा ओढ लो।' वह घर मे गया और मलमल की चादर

ओढ़ आया । आकर बोला—'कपडा ओढ लिया फिर भी ठंड लग रही है ।' उसने कहा – 'भले आदमी ! मैंने कपडा ओढने के लिए कहा था । इस ठिठुरन से बचने के लिए कैसा कपड़ा ओढना है, यह विवेक तो तुम्हे होना ही चाहिए । मलमल से ठड नही रुकती । वह रुकती है मोटे कपडे से, ऊनी कपडे से । जब तक मोटा कपडा या ऊनी कपडा नही ओढा जाएगा, ठड रुकेगी नही ।'

यही बात देखने के विपय मे है । देखना भी चल रहा है और विचार भी चल रहा है, यह नही होना चाहिए । देखने मे केवल देखना ही चले । यह तभी संभव है जब देखना सघन हो ।

एक प्रश्न है—किसे देखे ? क्या देखे ? अच्छा-बुरा जो भी आए उसे देखे । क्रोध आए तो उसे भी देखो । मान आए तो उसे भी देखो । वास्तव मे जो क्रोध को देखता है, वही मान को देखता है । क्रोध हमारी सबसे स्थूल वृत्ति है । यह सबके समक्ष प्रत्यक्ष होती है । मान छिपा रहता है । प्रकट कम होता है, क्रोध तत्काल प्रकट हो जाता है । क्रोध को देखो, मान को देखो । इसका पूरा चक्र है । देखते-देखते दु ख तक चले जाओ । दुःख को देखना प्रारम्भ करो । अपायो को देखो, हेतुओ को देखो । आतंक को देखो । परिणाम को देखो । क्रोध का परिणाम है—दु ख । दुःख को देखो । सुख को भी देखो । सुख के स्पदनो को देखो । दु.ख के स्पदनो को देखो । जो भी अच्छा या बुरा है, उसे देखो । श्वास को देखो । शरीर को देखो । समत्व को देखो । तटस्थता को देखो । अनन्यदर्शी को देखो । उसको देखो, जहा दूसरा कोई नही है । चेतना के उस शुद्ध स्वभाव को देखो जहा जानने-देखने के सिवाय कुछ भी नही है । वही परम दर्शन है । उसके आगे कुछ भी नही है । देखने मे यह भेदरेखा मत खीचो कि इसे देखूगा और उसे नही देखूगा । अच्छे को देखूगा, बुरे को नही देखूगा । देखने के क्षेत्र मे अच्छा या बुरा कुछ भी नही होता । ये विकल्प होते हैं—सोचने विचारने के क्षेत्र मे । जो भी आए, देखते रहो । देखते-देखते वह बिन्दु आ जाएगा जहां हम अपने शुद्ध चैतन्य के अनुभव मे, ज्ञान और दर्शन की समग्रता मे पहुच जाएगे । यह यात्रा का अन्तिम बिन्दु है । यहा यात्रा सपन्न हो जाती है ।

देखने के अभ्यास के बिना जागरण फलित नही होता, अप्रमाद फलित नही होता । अप्रमाद और जागृति हमारी बुद्धि की पटुता को बढाती है, स्मृति की पटुता को बढाती है, विवेक-चेतना को स्पष्ट करती है । इन सबके मूल मे काम करता है देखना । इसीलिए हम सही रूप मे देखने का प्रयत्न करें और साथ-साथ अनुप्रेक्षा भी करें ।

प्रवचन ६ | संकलिका

१. से एगे संविद्धपहे मुणी, अण्णहा लोगमुवेहमाणे । (आयारो, ५।५०)

   ○ केवल वही मुनि अपने पथ पर आरूढ रहता है, जो विषय-लोक और हिंसा-लोक को भिन्न दृष्टि से देखता है, लोक-प्रवाह की दृष्टि से नही देखता ।

२ अध्यात्म चेतना के जागरण का प्रयत्न गुरुतर दायित्व ।

३. अध्यात्म चेतना नही जागती तव सव दोप दूसरो पर ।
   उसके जागने पर सारा दायित्व अपने पर ।

४ अध्यात्म की साधना से प्रज्ञा जागती है ।
   प्रज्ञा जागती है तव भ्रातिया टूटती हैं, सत्य उपलब्ध होता है ।

   ○ सुख-दु ख का दायित्व स्वय पर है ।
   ○ सुख भीतर भी है और वह अधिक महत्त्वपूर्ण है ।
   ○ शाति भीतर भी है ।
   ○ स्वास्थ्य भीतर भी है ।
   ○ दीर्घायु की कुजी अपने हाथ मे है ।

दायित्व का बोध

जो व्यक्ति अध्यात्म की चेतना मे प्रवेश करता है, अध्यात्म की चेतना के जागरण का प्रयास करता है, वह अपने पर बहुत बडा उत्तरदायित्व लेता है। इतना बडा दायित्व कि दुनिया मे कोई भी व्यक्ति उतना बडा दायित्व नही उठाता। एक पूरे साम्राज्य को चलाने वाले सम्राट् पर भी उतना दायित्व नही होता जितना बडा दायित्व होता है उस साधक पर, जो चेतना के जागरण मे लगा हुआ है। यह कैसे? एकात मे, एक कोने मे बैठकर अपने भीतर झाकने वाला, अपने-आपकी साधना करने वाला बडा दायित्व कैसे लेता है? यह तर्क-संगत नही, किन्तु विरोधी बात है।

साधना का मार्ग तर्क का मार्ग नही है, अनुभव का मार्ग है, देखने का मार्ग है, दर्शन का मार्ग है।

साधक का दायित्व गुरुतर कैसे है—इसे हम समझे। प्रत्येक व्यक्ति सुख-दु ख का दायित्व दूसरो पर डालता है। चाहे सम्राट् हो या अन्य कोई—सब अपने-आपका बचाव करते हुए दायित्व दूसरो पर डाल देते हैं। सारा दोप दूसरो मे देखते हैं, स्वय निर्लिप्त रह जाते हैं किन्तु अध्यात्म की साधना करने वाला, चेतना के जागरण की साधना करने वाला, सारा दायित्व अपने पर लेता है। चाहे वह सुख का दायित्व हो या दु ख का, वह दायित्व अपने पर लेता है, दूसरो पर नही थोपता। कोई शत्रुता करता है तो साधक सोचता है कि कही न कही मेरी ही भूल हुई है। कितना बडा दायित्व है यह? ऐसा दायित्व वही व्यक्ति उठा सकता है, जो अध्यात्म के क्षेत्र मे प्रवेश करता है। आप सारे इतिहास को देखिए, जिन लोगों ने बाहर की दुनिया मे विचरण किया है, उन्होने हमेशा दूसरो पर ही दोपारोपण किया है। सत्ता बदलती है तो नई सत्ता पुरानी सत्ता पर दोपारोपण करती है। बाह्य जगत् मे रहने वाला दूसरो के कधो पर भार डालकर स्वय हलका रहना चाहता है। अध्यात्म का साधक दायित्व को ओढकर भारी रहता है। वह अपना दायित्व दूसरो पर कभी नही डालता।

अध्यात्म साधना की पहली परिणति है—दायित्व को ओढने का बोध, दायित्व को लेने का साहस।

अध्यात्म साधक की भ्रांतिया सबसे पहले टूटती हैं। वह असत्य से दूर और सत्य के निकट होता है। सामान्यतया आंखें बन्द करने का अर्थ

होता है--नही देखना, सो जाना। बाहरी दुनिया मे आखे बन्द करने के दो ही अर्थ होते है सो जाना या नही देखना। अध्यात्म के क्षेत्र मे ये अर्थ वदल जाते है। ठीक विपरीत हो जाते है। साधक की भ्राति टूट जाती है। उसके लिए आखे बन्द करने का अर्थ होता है—जागना। आख बन्द करने का अर्थ होता है – भीतर झाकना, भीतर की गहराइयो को देखना। अर्थ बदल जाता है।

जो बाह्य जगत् मे जीता है, वह मानता है कि सुख वाहर मे है। अध्यात्म साधक की वह भ्रांति टूट जाती है। वह मानने लगता है कि सुख वाहर नही, भीतर है। जिसने कभी अध्यात्म का स्पर्श ही नही किया, वही बाहर सुख की कल्पना कर सकता है। जिसने एक बार भी अध्यात्म के सुख का स्पर्श कर लिया, उसे बाहर मे कभी सुख नही लगता। भीतर के सुख की तुलना मे वाहर के सारे सुख नगण्य है। साधक जब भीतर का थोड़ा मार्ग तय करता है तब उसे लगता है कि जो सुख के स्पंदन यहा हैं, वे बाहर दुर्लभ है। जो रग यहा दीखते है, उनका अस्तित्व बाहर है ही नही। भीतर मे जब सुख के स्पदनो की अनुभूति होने लगती है तब साधक आत्मविभोर होकर उसी मे खो जाता है। उसका सारा सम्पर्क अध्यात्म से होता है, बाहर से सारे सम्पर्क टूट जाते है। वह उसमे इतना तन्मय हो जाता है कि अपना भान ही भूल जाता है।

जिस व्यक्ति ने भीतर जाने का प्रयास ही नही किया, जिसने भीतरी द्वार का उद्घाटन ही नही किया, वह कभी यह अनुभव नही कर सकता कि भीतर मे क्या कुछ घटित हो रहा है। यह तर्क के द्वारा समझाया नही जा सकता। इसका अनुभव ही किया जा सकता है। जो इस मार्ग से नही गुजरा है, उसके सामने तर्क व्यर्थ है, मौन श्रेयस्कर है।

अध्यात्म साधना की दूसरी परिणति है—भ्रान्तियो का टूट जाना।

चिकित्सा की भाति साधक भी पहले विवेक करता है और फिर प्रत्याख्यान। विवेक का अर्थ है—पृथक् करना और प्रत्याख्यान का अर्थ है—छोडना। जब प्रत्याख्यान होता है तब सयम की चेतना जागती है। संयम अर्थात् अपने मे रहो। कम बोलो। कम घूमो। प्रवृत्ति कम करो। इसका परिणाम यह होता है कि साधक की प्रतिरोधात्मक शक्ति वढ जाती है। जिसमे प्रतिरोधात्मक शक्ति प्रवल होती है, वह वाहर से कम प्रभावित होता है। वाहर के कीटाणु उस पर आक्रमण नही कर पाते। उस साधक में लड़ने की क्षमता जाग जाती है। इससे दो लाभ होते हैं—वाहर के कीटाणु निष्प्रभ होते हैं और भीतर के कीटाणु नष्ट होने लगते है।

मानसिक स्वास्थ्य और शारीरिक स्वास्थ्य— दोनो अपेक्षित होते हैं सुखी जीवन के लिए। जो मानसिक स्वास्थ्य की साधना नही करता, वह

शारीरिक स्वास्थ्य को कैसे बनाए रख सकता है ? अध्यात्म की साधना करने वाले साधक की यह भ्रान्ति टूट जाती है कि स्वास्थ्य केवल शारीरिक ही होता है। उसे मानसिक स्वास्थ्य वहुत ऊचा लगता है। अध्यात्म की साधना से दोनो प्रकार के स्वास्थ्य सधते है। यह शारीरिक रोगों से मुक्ति दिलाती है और साथ ही साथ आन्तरिक रोगो को भी नष्ट करती है।

मनुष्य स्वास्थ्य चाहता है, दीर्घायु चाहता है, सुख और शान्ति चाहता है। अध्यात्म की साधना से ये सारी बाते फलित होती हैं। एक प्रश्न होता है कि अध्यात्म चेतना से दीर्घायु कैसे मिल सकती है ?

अल्पायु का सबसे बडा कारण है—राग-द्वेष का अध्यवसाय। जितने भी मानसिक आवेग हैं, वे सव अल्पायु के कारण वनते है। वे आयुष्य को क्षीण करते चले जाते हैं। भीतर ही भीतर काटते चले जाते है। अध्यात्म का मार्ग अध्यवसायो को रोकने का मार्ग है। राग-द्वेप कम करो, समभाव रखो, तटस्थ रहो। आने वाले स्पदनो की उपेक्षा करो। प्रिय-अप्रिय भाव से वचो। अध्यात्म की साधना से अध्यवसाय निर्मल वनते है। वे अनजाने ही आयुष्य को लम्वा कर देते है।

श्वास-प्रेक्षा का आध्यात्मिक मूल्य है—मन का जागरण और व्यावहारिक मूल्य है—प्राण-ऊर्जा का वढ जाना। दीर्घश्वास का प्रयोग होता है तव घर्षण वढता है। घर्षण से प्राण ऊर्जा वढती है, प्राणशक्ति वढती है। कायोत्सर्ग से भेदज्ञान पुष्ट होता है, शरीर की जडता समाप्त होती है, सुख दु:ख मे सम रहने की वृत्ति जागती है, चेतना जागती है, प्रज्ञा जागती है।

हम शरीर-प्रेक्षा को ठीक से समझें। लोग शरीर को निस्सार मानते हैं। उसे केवल हाड-मांस का समूह मानते है। उसमें केवल निस्सार को ही देखते है। सार जैसा उन्हे कुछ लगता ही नही। आत्मा का निवास शरीर मे है। आत्मा ज्ञानमय है, दर्शनमय है, चेतनामय है। यही सार है। इसका हमें वोध होना चाहिए। चैतन्यमय आत्मा सवसे वडा सार है।

इस जगत् का सवसे वडा सार तत्त्व हमारे शरीर के भीतर है। उसके दर्शन से जैविक-रासायनिक परिवर्तन होते हैं, अन्तःस्रावी ग्रन्थियो के रसायन वदलते हैं। नाडी-सस्थान पर नियत्रण स्थापित होता है। मूर्च्छा टूटती है और चैतन्य जागृत होता है। आत्मा का अस्तित्व किसी शरीर के माध्यम से ही प्रकट होता है। जो शरीर को देखना नही जानता, उसके अन्तर्भाव मे अवस्थित चैतन्य-केन्द्रो का दर्शन करना नही जानता, वह अपने अस्तित्व को भी नही जानता। जिसे अपने अस्तित्व का वोध नही होता, उसे दायित्व का वोध नही होता।

प्रेक्षा-ध्यान की निष्पत्तियां

व्यावहारिक	आध्यात्मिक
० दीर्घश्वास-प्रेक्षा से—	
प्राण-ऊर्जा जागृत होती है	प्रज्ञा जागृत होती है।
० समवृत्तिश्वास-प्रेक्षा से —	
नाडी-संस्थान शुद्ध होता है।	संकल्पशक्ति जागती है।
० देह-प्रेक्षा से—	
रासायनिक क्रिया बदलती है।	प्रज्ञा जगती है।
स्वास्थ्य पर अनुकूल प्रभाव	मूर्च्छा टूटती है।
होता है।	चैतन्य जागृत होता है।
० कायोत्सर्ग से—	
देह की जडता नष्ट होती है।	चैतन्य और पुद्गल का भेद-ज्ञान स्पष्ट होता है।
हल्कापन	सुख दुःख मे मध्यस्थता आती है।
मति की जडता नष्ट होती है।	
० अनुप्रेक्षा से—	
सूक्ष्म विद्युत् उत्पन्न होती है।	प्रज्ञा जागती है।
व्यवहार का परिवर्तन होता है।	सघन मूर्च्छा टूटती है।

शारीरिक	मानसिक
स्वास्थ्य	स्वास्थ्य
प्रतिरोधात्मक शक्ति।	संयम
रोग के अणुओ का निकलना।	क्रोध आदि के विकल्पो को क्षीण करना।
विश्राम।	नैष्कर्म्य।
स्वास्थ्य-सिद्धि।	स्वास्थ्य-सिद्धि।

: २ :

शक्ति-जागरण

उपसंपदा

साधना-केन्द्र साधना का स्थल है । यहा साधक खाली आते है और भरकर जाते है या यो कहे कि भरे हुए आते हैं और खाली होकर जाते हैं । दोनो वाते सभव हैं । जो भरकर आए हैं, उन्हे खाली होकर जाना है और जो खाली होकर आए है, उन्हे भरकर जाना है। अध्यात्म-साधना खाली होने का भी प्रयत्न है और भग्ने का भी प्रयत्न है । जो वमनीय है, जो परित्याग के योग्य है, उसे छोडना है और जो भरने योग्य है, उसे भरना है ।

साधना की आधारभूमि है उपसपदा। इसके पाच सूत्र है । पहला सूत्र है—भावक्रिया ।

भावक्रिया का एक अर्थ है–वर्तमान मे जीना । हमारा अधिकाश समय अतीत की उधेडवुन मे या भविष्य की कल्पना मे बीतता है। समय का नव्वे प्रतिशत भाग—ये दोनो काल खा जाते है । आदमी मुश्किल से समय के दस प्रतिशत भाग मे वर्तमान मे रह पाता है । अतीत भी वास्तविक नहीं है और भविष्य भी वास्तविक नही है । वास्तविक है वर्तमान । उसमे आदमी वहुत कम रहता है । वह या तो स्मृति मे उलझा रहता है या कल्पना के मधुर स्वप्न देखता है । वर्तमान उसके हाथ से छूट जाता है । वह उसे पकड़ ही नही पाता । वास्तविकता यह है कि जो कुछ घटित होता है, वह होता है वर्तमान मे । किन्तु आदमी उसके प्रति जागरूक नही रहता । भावक्रिया का अर्थ है–वर्तमान मे रहना ।

भावक्रिया का दूसरा अर्थ है—जानते हुए करना । हम जो भी करते है, वह पूरे मन से नही करते । मन के टुकडे कर देते है । काम करते है, पर मन कही भटकता रहता है । वह काम के साथ जुडा नही रहता ।

कार्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित हुए विना उसका परिणाम अच्छा नही आता । इसमे शक्ति अधिक क्षीण होती है, अनावश्यक व्यय होता है और काम पूरा नही होता । अत: हम जिस समय जो काम करे, उस समय हमारा शरीर और मन—दोनो साथ-साथ चले । दोनो की सहयात्रा हो ।

भावक्रिया का तीसरा अर्थ है—सतत अप्रमत्त रहना । ध्येय के प्रति सतत अप्रमत्त और जागरूक रहना ।

उपसपदा का दूसरा सूत्र है—क्रिया करना, प्रतिक्रिया न करना । आदमी प्रतिक्रिया का जीवन जीता है । वह कपड़ा पहनता है, ओढता है, इसलिए कि उसे सर्दी लगती है, उसे लज्जा को ढकना है । अत कपडा पहनना

या ओढना भी प्रतिक्रिया है, क्रिया नही। आदमी खाता है। वह भी प्रतिक्रिया है, क्रिया नही। भूख लगती है, पेट मे पीडा होती है, उसे शात करने के लिए आदमी खाता है। खाना, पीना, कपडे पहनना—ये सब स्वतंत्र क्रियाए नही है, प्रतिक्रियाए है। अध्यात्म-साधना का अर्थ है—प्रतिक्रिया से बचना। प्रत्येक व्यक्ति का स्वतत्र अस्तित्व है, उसकी स्वतत्र सत्ता है। उसका स्वतत्र अस्तित्व और सत्ता तब स्थापित होती है जब वह स्वतंत्र क्रिया करे। यदि उसकी सारी प्रवृत्तिया प्रतिक्रियात्मक ही होती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह पूर्ण स्वतंत्र नही है। वह अपनी स्वतत्रता का स्वय ही खडन कर रहा है। वह पूर्ण परतंत्रता को घोषित करता है और दूसरो के हाथ का एक खिलौना मात्र बन जाता है। साधक को ऐसा नही होना चाहिए। वह क्रिया करे, प्रतिक्रिया नही।

आज का आदमी स्वतत्र बुद्धि से काम नही कर रहा है। वह बाह्य वातावरण, परिस्थिति और आसपास के कार्य-कलापो से प्रभावित होकर कार्य करता है। यह प्रतिक्रिया है, क्रिया नही। वह आवेग या उत्तेजना के वशीभूत होकर कार्य करता है, वह भी प्रतिक्रिया है।

सारा का सारा इद्रिय-व्यवहार प्रतिक्रियात्मक होता है। हम आख से देखते है और कान से सुनते है, किंतु कोई संस्कार प्रतिक्रिया पैदा कर रहा है इसलिए यह देखना और सुनना स्वतत्र क्रिया नही है, प्रतिक्रियात्मक क्रिया है। स्वतंत्र चेतना से देखना या सुनना ही स्वतत्र देखना या सुनना है।

उपसपदा का तीसरा सूत्र है—मैत्री। साधक का पूरा व्यवहार मैत्री से ओतप्रोत हो। उसमे मैत्री की भावना का पूर्ण विकास हो। किसी व्यक्ति को सांप काटे और वह सोचे—'कितना अज्ञानी है! नही समझ पा रहा है। व्यर्थ ही क्रोध के वशीभूत होकर दूसरो को कष्ट देता है! इसका भी कल्याण हो। इसे सही दृष्टि मिले। इसका क्रोध शांत हो। यह किसी को न काटे।' इस प्रकार साप पर भी जो गीले नेत्रों से करुणावृष्टि करता है, वह सबका मित्र होता है। उसमे मैत्री का विकास चरम विन्दु पर है। यह तभी सभव है जब व्यक्ति प्रतिक्रिया से सर्वथा मुक्त हो जाता है। अन्यथा गाली के प्रति गाली, ईट का जवाब पत्थर से, 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' ' 'ये सब बाते चलती हैं। इन्हे रोका नही जा सकता। इन्हे केवल वही व्यक्ति रोक सकता है, जिसने इस सचाई को समझ लिया है कि स्वतत्र अस्तित्व का धनी आदमी प्रतिक्रिया का जीवन न जीए। वह क्रिया का जीवन जीए। यह सचाई जब हृदयगम हो जाती है तब मैत्री स्वय फलित होती है।

उपसंपदा का चौथा सूत्र है—मिताहार। परिमित भोजन का महत्त्वपूर्ण स्थान है साधना मे। भोजन का प्रभाव केवल स्वास्थ्य पर ही नही होता, ध्यान और चेतना पर भी उसका प्रभाव होता है। आदमी अनावश्यक बहुत

खाता है। इसके पीछे देशगत, परम्परागत, समाजगत या भोजन के ज्ञान का अभाव-- कुछ भी कारण हो सकता है। यह चल रहा है। अनावश्यक भोजन विकृति पैदा करता है। खाया हुआ पचता नही क्योकि उसको पचाने वाला रस पूरी मात्रा मे नही मिलता। भोजन उतना ही पचता है, जितना उसे पाचन-रस प्राप्त होता है। शेष व्यर्थ हो जाता है। उससे अनेक विकृतिया पैदा होती है। उससे सड़ाध पैदा होती है। मल आतो मे जम जाता है। सारा नाडी-मंडल दूषित हो जाता है। मन और विचार भी दूषित होते है। आदमी स्वस्थ चिंतन नही कर पाता। चेतना पर आवरण आता चला जाता है। हम यह प्रयत्न करते है कि हमारी चेतना की निर्मलता हो, मन की निर्मलता हो, शक्ति का जागरण हो। यह तभी सभव है जब हमारा नाड़ी-सस्थान शुद्ध होता है, निर्मल होता है। जब काच साफ होगा तब ही उसमे निर्मल प्रतिविम्ब पडेगा, उससे प्रकाश बाहर आएगा। जब नाड़ी साफ नही, नाडी-सस्थान निर्मल नही, उसके बिना हमारी चेतना का प्रकाश बाहर कैसे आएगा ? कोई रास्ता नही है दूसरा। वह प्रकाश भीतर-ही-भीतर दबा रह जाएगा, विकसित नही हो पाएगा।

जिस व्यक्ति को केवल जीभ का स्वाद लेना है, वह भोजन के प्रति अ-जागरूक रह सकता है। जो व्यक्ति अपने मन और मस्तिष्क को विकृत रखना चाहता है, वही भोजन के प्रति लापरवाह रह सकता है। उसको केवल अपनी जीभ को ही सतुष्ट करना होता है। जिस व्यक्ति का यह ध्येय हो कि मस्तिष्क को बहुत काम मे लेना है, सुप्त शक्तियो को जागृत करना है, शक्तियो से काम लेना है, कोई-न-कोई बड़ा काम कर दिखाना है, वह व्यक्ति खाने के प्रति कभी लापरवाह नही हो सकता। स्वाद उसके लिए गौण है। वह भोजन करता है केवल शरीर के पोषण के लिए, स्वाद के लिए कभी नही खाता।

साधक ने एक विशिष्ट मार्ग पर चलने के लिए कदम बढाए है। जीभ को सन्तोष देना उसका ध्येय नही। उसका ध्येय है—शक्तियो को जागृत करना, गति करना, उपलब्धि करना। इसलिए साधक को भोजन के प्रति पूर्ण जागरूक रहना चाहिए।

उपसपदा का पाचवां सूत्र है—मितभाषण या मौन। बोलना इसलिए जरूरी होता है कि हम जन-संपर्क में हैं। बोले बिना रहा नही जाता। किंतु कम बोलना साधना है। मैं नही कहता कि जीवन-भर मौन रहे। अनावश्यक न बोले। बोलना पडे तो धीमे बोले। हम रहस्यो को ढूढने के लिए साधना मे प्रवृत्त हुए हैं। इसलिए बात भी अरहस्यमय क्यो ? रहस्य की भाषा बोलें, गुप्त भाषा बोले। कान के पास धीरे से कुछ कहे।

भगवान् महावीर का सारा व्यवहार 'अबहुभाषा' से ओतप्रोत था।

वे अवहुभाषी थे । यह नही कहा गया कि भगवान् बोलते ही नही थे । यह कहा गया है कि भगवान बहुत नही बोलते थे । यह मध्यम मार्ग अच्छा है । इससे व्यवहार भी नही टूटता और शक्ति का अनावश्यक व्यय भी नही होता ।

कुछ व्यक्ति मौन कर लेते है । मन मे विचारो का तूफान उठता है । वे उसे रोक नही पाते । फिर पन्ने के पन्ने भर डालते है । यह कैसा मौन ! सारी शक्ति लिखने मे खर्च कर देते है । मौनी साधक इगितो मे सारी बात कर डालते है । एक मिनट की बात को वे इगितो से पाच मिनट मे समझा पाते है । शक्ति का कितना अपव्यय ! इससे अच्छा है बोलना । मित भाषण साधना का महत्त्वपूर्ण अग है । इससे शक्ति सचित होती है ।

प्रेक्षा-ध्यान की साधना का ध्येय है—मन को निर्मल बनाना । साधना के पहले दिन ही यह ध्येय प्रतिमा स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठापित हो जानी चाहिए। मन कषायो से मलिन रहता है । कषायो से मलिन मन मे ज्ञान की धारा नही वह सकती । हमारे भीतर ज्ञान होते हुए भी वह प्रकट नही होता, क्योंकि बीच मे मलिन मन का पर्दा आ जाता है, अवरोध आ जाता है । मन की निर्मलता होते ही ज्ञान प्रकट होता है, उसका अवरोध समाप्त हो जाता है । वह पारदर्शी बन जाता है ।

जब मन की निर्मलता होती है तब शाति का अनुभव स्वत होने लगता है । साधना की पहली निष्पत्ति है—आनद की अनुभूति । साधना का प्रारम्भ होता है—तेजोलेश्या से । तेजोलेश्या का पहला लक्षण है—आनद की अनुभूति । जैसे ही तेजस् की विद्युत्धारा हमारे शरीर मे प्रवाहित होती है, आनंद की रश्मिया फूट पडती है । जितना आनद है, जितना सुख है, वह सब विद्युत्कृत है । तेजोलेश्या आती है तब सुख के स्रोत फूट पडते है । तेजोलेश्या से आनंद, पद्मलेश्या से शाति और शुक्ललेश्या से निर्मलता, वीतरागता प्राप्त होती है ।

हमारा ध्येय आनद की प्राप्ति नही है । आनंद प्राप्त होगा, किन्तु वह ध्येय नही है । आनन्द हमारा आलबन बनेगा । हमें आनन्द भी मिलेगा, शांति भी मिलेगी । किन्तु हमे इनको पारकर आगे जाना है । हमे पहुचना है मन की निर्मलता तक । यह हमारी ध्येय-प्रतिमा है । यह हमारे सामने रहे ।

ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व भावना करें । भावना का अर्थ है—कवच का निर्माण । हम अपने चारों ओर अण्डाकार कवच का निर्माण करें । इससे बाहर का प्रभाव सक्रात नही होगा । जो कुछ करना होगा, वह सुचारु रूप से चलेगा । कोई बाधा नही आयेगी । कवच का निर्माण कैसे हो—यह एक प्रश्न है । साधक अपने स्थान पर बैठे और 'अर्हं' 'अर्हं' का मानसिक जप करे और साथ-साथ यह कल्पना करे कि अर्हं की रश्मिया चारो ओर फैल रही है । वे

सघन हो रही है। कवच का निर्माण हो रहा है। थोडे समय बाद यह अनुभव होने लगेगा—जैसे समूचे शरीर के बाहर दो-तीन फुट की दूरी तक कवच बन गया है। उसमे साधक सुरक्षित बैठा है। यह भावना-योग साधना का बहुत बड़ा आलम्बन है।

उपसपदा के पाच सकल्पो का स्वीकार, ध्येय-प्रतिमा का निर्माण और भावना योग अर्थात् कवच-निर्माण की प्रक्रिया का उपयोग—ये सब ध्यान-साधना की प्रारभिक तैयारिया है।

प्रवचन ११ | संकलिका

१. जीवन की दो धाराए—(१) शक्तियुक्त धारा (२) शक्तिशून्य धारा ।
२. शक्ति अविकसित । ० शक्ति अप्रयुक्त ।
३. शारीरिक शक्ति—जो प्राणशक्ति शरीर के माध्यम से प्रकट ।
४. मानसिक शक्ति—जो प्राणशक्ति मन के माध्यम से प्रकट ।
५ शक्ति प्रत्येक पदार्थ मे—
चेतन मे चेतना, आनद और शक्ति का समन्वय ।
६. मनुष्य विकसित चेतना वाला अत. शक्ति का विकास कर सकता है ।
७ विकसित शक्ति खतरनाक : उसका सम्यक् उपयोग, उसका दिशा-दर्शन अध्यात्म द्वारा ।
८ हम सूक्ष्म से परिचय प्राप्त करे ।
९ शक्ति जागरण का पहला सूत्र—सूक्ष्म की शक्ति से परिचित होना ।
१०. स्थूल शरीर की सूक्ष्म रचना—
- ० मस्तिष्क मे एक खरब न्यूरॉन ।
- ० ज्ञान-तंतु—एक लाख मील लबे ।
- ० कोशिकाए—साठ खरब ।

११. शक्ति विकास के तीन आयाम—
- ० शक्ति को जगाना ।
- ० शक्ति को संभालना ।
- ० शक्ति का सही उपयोग करना ।

१२ अध्यात्म-योग के तीन उपाय—
- ० प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन ।
- ० चिंतन और अचिंतन का सतुलन ।
- ० वाक् और मौन का सतुलन ।

शक्ति-जागरण : मूल्य और प्रयोजन

जब से मनुष्य चिंतन करता रहा है तब से वह मूल तत्त्व को खोजता रहा है। मूल तत्त्व की खोज पाच हजार वर्ष पहले भी चलती थी, पचीस सौ वर्ष पहले भी चलती थी और आज भी चल रही है। यह आगे भी अनन्त काल तक चलती रहेगी।

सत्य अनन्त है। अनन्त सत्य को सदा खोजा जा सकता है। पचीस सौ वर्ष पहले की घटना है। एक राजा था। उसका नाम था प्रदेशी। एक महामेधावी मुनि केशीकुमार वहां आये। राजा उनकी उपासना मे गया। राजा ने मुनि से कहा—'महाराज! आत्मा नही है। चेतन तत्त्व का अस्तित्व नही है। जो शरीर है, वही आत्मा है। आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न नही है। जो प्रत्यक्ष है, वही सत्य है। शरीर प्रत्यक्ष है। उससे अतिरिक्त आत्मा नही है। अचेतन ही वास्तविक है। वह भी अनन्त शक्तिशाली होता है। कुछ अचेतन तत्त्वो का योग होता है और चेतना निर्मित हो जाती है। कुछ क्षण ऐसे आते है और एक दिन चेतना खडित हो जाती है, अचेतन रह जाता है। चेतना जैसा कुछ है ही नही। राजा ने एक उदाहरण से अपने मत की पुष्टि करते हुए कहा—'एक बालक है। उसकी शक्ति विकसित नही है। वह धनुष पर बाण नही चढा सकता। वही बालक जब तरुण हो जाता है, उसके सारे अवयव विकसित हो जाते हैं, वह शक्ति-सपन्न हो जाता है, तब वह सुगमता से धनुष पर बाण चढा सकता है और दूर तक बाण फेंकने मे सफल हो जाता है। यदि आत्मा और शरीर भिन्न होते हैं तो यह अन्तर आ नही सकता क्योकि बालक मे भी वही आत्मा है और तरुण मे भी वही आत्मा है। इसलिए आत्मा और शरीर भिन्न नही हैं, एक ही हैं।'

मुनि केशीकुमार ने कहा—'राजन्! तुम्हारी बात मे जो सचाई है मैं उसे स्वीकार करता हू। किन्तु एक बात मैं पूछना चाहता हू कि धनुष खडित है, प्रत्यचा टूटी हुई है तो क्या कोई उस धनुष पर बाण चढा सकेगा? बाण चढाने वाला तरुण है, समर्थ है, शक्तिशाली है, फिर भी वह उस धनुष पर बाण नही चढा पाता। यदि धनुष अखंडित है, प्रत्यंचा टूटी हुई नही है तो फिर कोई भी युवा उस पर बाण चढा सकता है। धनुष पुराना है, उससे बाण नही फेका जा सकता। धनुष नया है, उससे बाण फेंका जा सकता है। इसका तात्पर्य है कि बालक के उपकरण पर्याप्त नही हैं। वह धनुष पर बाण नही चढा सकता। युवा के उपकरण पर्याप्त है, वह धनुष पर

वाण चढ़ा सकता है। यह अन्तर उपकरणो की पर्याप्तता या अपर्याप्तता का है, आत्मा का नही। बच्चे की आत्मा और युवा की आत्मा में कोई अन्तर नही है। किन्तु बच्चे के उपकरण अभी अपर्याप्त है जैसे टूटे हुए धनुष के उपकरण अपर्याप्त है। नए धनुष के उपकरण पर्याप्त हैं। युवा के उपकरण पर्याप्त होते हैं।'

प्रश्न है उपकरण का, आत्मा का प्रश्न नही है। इस घटना से हम यह समझ सकते है कि हमारा जीवन तीन आयामो मे चलता है—आत्मा, शरीर और शरीर की शक्ति। आगमो मे कहा गया है कि हमारा जीवन 'त्रिदंडी' है—एक दण्ड है शक्ति, एक है शरीर और एक है आत्मा। आत्मा बहुत दूर है। मै क्षेत्रीय दूरी की बात नही कर रहा हू। आत्मा इतना भीतर है, इतना भीतर कि वह चर्मचक्षुओ से दीखता ही नही। वहा हमारी पहुच नही है।

हम इन तीन आयामो में जीते हैं—आत्मा, शरीर और शक्ति। हमारी एक कठिनाई है। हम स्थूल को वहुत जानते हैं, सूक्ष्म को नही जानते। हम सूक्ष्म को जानने का प्रयत्न भी कहा करते हैं? इसीलिए नही करते कि हमारा उससे परिचय नही है। जिससे परिचय नही होता, उसके विषय मे कुछ भी नही जाना जा सकता। जिससे परिचय होता है, उसी के विषय मे हम कुछ जान सकते है। हम सूक्ष्म से अपरिचित है।

दर्शनशास्त्र मे एक प्रश्न बहुत चर्चित होता रहा है कि सूक्ष्म का अस्तित्व है या नही? जो इन्द्रियो के द्वारा दिखाई दे रहा है, वही है या उससे परे भी कुछ है? इस चर्चा से दो शब्द प्रस्तुत हुए—इंद्रियगम्य और अतीन्द्रियगम्य अथवा हेतुगम्य और अहेतुगम्य।

कुछ दार्शनिको ने उसे ही सत्य माना, जो इन्द्रियगम्य है। जो इद्रिय-गम्य होता है, वह निश्चित ही हेतुगम्य होता है। उसे सिद्ध करने के लिए हेतु और तर्क दिए जाते है। हेतु और तर्क उसको गम्य कराने मे सक्षम होते है, इसलिए वह हेतुगम्य कहलाता है। इस रेखा पर दार्शनिको की एक विचार धारा चलती रही।

दर्शन की दूसरी विचारधारा ने इससे आगे वढकर कहा—सत्य अतीन्द्रियगम्य भी है। जो दीखता है, वही सत्य नही है, जो नही दीखता, वह भी सत्य है। इद्रियो से परे भी सत्य का अस्तित्व है। उसका साक्षात्कार इद्रियो से नही होता। वह अतीन्द्रिगम्य होता है। हेतु और तर्क उसके क्षेत्र मे प्रवेश नही कर सकते। वह अहेतुगम्य और अतर्कगम्य होता है। प्रश्न प्रस्तुत हुआ—अतीन्द्रियगम्य को कैसे जाना जा सकता है? उसके साधन क्या है? समाधान दिया गया—जो अतीन्द्रिय द्रष्टा ऋषि हैं, जिनकी अतीन्द्रिय शक्ति विकसित हो चुकी है, जिन्होने सूक्ष्म सत्य का साक्षात् कर लिया है, उनके कथन के द्वारा ही उस सूक्ष्म सत्य को जाना जा सकता है।

भौतिक जगत् मे भी सारे स्थूल पदार्थों को हम इन इन्द्रियो से कहां देख या जान पाते हैं ? कुछ स्थूल पदार्थो को हम देख लेते है, जान लेते है, किन्तु ऐसे अनन्त स्थूल पदार्थ है, जिन्हे हम देख नही पाते, जान नही पाते। भौतिक वैज्ञानिको ने इनको देखने के लिए सूक्ष्म उपकरणो का निर्माण किया और उन उपकरणो ने कुछ सूक्ष्म पदार्थो को देखने का रास्ता खोल दिया।

शरीर के भीतर हम इन स्थूल आखो से नही झाक सकते। एक्सरे का आविष्कार हुआ। शरीर की अतल गहराइयो तक उसकी पहुंच हुई और आज शरीर के भीतर हम अणु-अणु मे झांक सकते हैं। एक्सरे भी एक प्रकार से अतीन्द्रिय ही है। जो बात इन्द्रियो द्वारा नही जानी जाती, वह इन सूक्ष्म उपकरणो द्वारा जान ली जाती है।

हमारा यह शरीर स्थूल है किन्तु इसमे भी गजब की सूक्ष्मता है। हमारा मस्तिष्क हमारे शरीर का केवल दो प्रतिशत भाग है किन्तु इस छोटे से मस्तिष्क मे एक खरब 'न्यूरॉन्स' है। ये सारे 'न्यूरॉन्स' स्वतत्र है। प्रत्येक की स्वतत्र इकाई है। सबका स्वतत्र अस्तित्व है।

इस शरीर मे साठ खरब कोशिकाए है। प्रत्येक कोशिका अपना-अपना काम करती है, अपनी विद्युत् पैदा करती हैं। प्रतिक्षण कोशिकाए नष्ट हो रही हैं, नयी कोशिकाओ का निर्माण हो रहा है। प्रत्येक कोशिका मे अनेक सस्कार सगृहीत है। इनमे सूक्ष्म शरीर से उपलब्ध सस्कार प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। सभी प्रकार के सस्कारो को वहन करना इनका कार्य है।

इस शरीर मे ज्ञानततुओ का एक जाल बिछा हुआ है। यदि इनको एक रेखा मे बिछाया जाए तो एक लाख वर्ग मील तक पहुच जाते हैं। हमारा यह संस्कार केवल पचीस हजार वर्गमील मे आ जाता है। ज्ञानततु इससे चार गुना अधिक तक पहुच जाते है। ये ज्ञानततु हमारी विद्युत् के संवाहक है।

शरीर की यह सरचना भी स्थूल ही है। इसकी भी हमे पूरी जानकारी नही है। हमारा ज्ञान सीमित है। हम शरीर के कुछ एक भाग को ही स्थूल रूप से जानते हैं। उसकी सूक्ष्मता से आज भी हम अनभिज्ञ है।

जब हम स्थूल शरीर के बारे मे भी पूरा नहीं जानते तब सूक्ष्म शरीर को जानने की बात बहुत दूर रह जाती है। जब सूक्ष्म शरीर नही जाना जाता तब आत्मा को जानने की बात बहुत ही दूर रह जाती है।

हम अपनी सुप्त चेतना को जागृत करना चाहते हैं, अपनी शक्तियो के स्रोतो को उद्घाटित करना चाहते हैं। इसका पहला सूत्र है—सूक्ष्म से परिचित होना। जो व्यक्ति सूक्ष्म से परिचित नही होता, वह अपनी शक्ति का जागरण नही कर सकता। शक्ति के जागरण के लिए सूक्ष्म से संबध स्थापित करना होता है, उससे परिचित होना पडता है।

यदि हमे सूक्ष्म से परिचित होना है, उसके साथ सपर्क स्थापित करना है तो सबसे पहले हम स्थूल को सम्यक् प्रकार से जानें। बाहर का दरवाजा खोले बिना भीतर के दरवाजे तक नहीं पहुंचा जा सकता। पहले सोपान पर चढ़े बिना पचीसवे सोपान तक नही पहुंचा जा सकता। हमे स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति करनी होगी।

ध्यान मे हम श्वास का आलवन लेते है। यह पहला सोपान है। इससे स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति प्रारम्भ हो जाती है। श्वास ही एक ऐसा तत्त्व है, जो बाहर भी आता है और भीतर भी जाता है। दूसरा ऐसा कोई भी साधन नही है, जो बाहर भी रहे और भीतर भी रहे। मन है पर वह स्वयं इतना चंचल है कि उसे आलवन नही बनाया जा सकता।

एक बच्चा खेल रहा था। धूप थी। परछाई मे बच्चे ने अपनी चोटी देखी। वह उसे पकड़ने दौडा। ज्यो-ज्यों वह आगे बढता, परछाई भी आगे बढ़ जाती। इधर-उधर दौडता रहा। चोटी पकड मे नही आयी। एक समझदार आदमी ने कहा—'बच्चे ! परेशान क्यो हो रहे हो ? चोटी ऐसे हाथ नही आएगी। तुम अपना हाथ अपने सिर पर रखो, चोटी पकड़ मे आ जाएगी।' बच्चे ने हाथ उठाया। चोटी पर रखा। अब उसने परछांई मे देखा कि चोटी हाथ आ गई है।

मन भी परछांई की चोटी है। हम उसे जितनी बार पकड़ने का प्रयत्न करेंगे, वह आगे से आगे भागता चला जाएगा। मन को वश मे करने का प्रयत्न करते हैं तो मन दूर भागता जाता है। मन को स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं तो मन और अधिक चंचल होता है। न जाने कितने लोगो ने मन को वश मे करने का प्रयत्न किया पर मन कभी उनके वश मे नही आया। इस चोटी को पकड़ने का प्रयत्न किया पर यह चोटी कभी पकड़ मे नही आई। इन व्यर्थ प्रयत्नो से घबराकर हजारो-हजारो व्यक्ति निराश होकर मन को वश मे करने की बात ही भूला बैठे हैं। वे यह धारणा बना चुके हैं कि मन को वश मे नही किया जा सकता।

कुछेक मनोवैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि मन को पाच सेकेण्ड से अधिक स्थिर नही किया जा सकता। उसका स्वभाव ही है चचलता। स्वभाव को कैसे बदला जा सकता है ?

मनोवैज्ञानिको की यह बात सही है किंतु योग के आचार्यों ने मन को वश मे करने का एक उपाय भी बताया है। वह उपाय है—श्वास। श्वास को पकडते ही मन पकड मे आ जाता है। इतना सरल, सीधा हो जाता है कि उसकी चचलता मिट जाती है। इसीलिए हमने इस प्रक्रिया मे श्वास को आलम्बन बनाया है। श्वास वह यात्री है, जो बाहर की यात्रा भी करता है और भीतर की यात्रा भी करता है। यह वह दीप है, जो भीतर को भी

प्रकाशित करता है और बाहर को भी प्रकाशित करता है। यदि हम भीतर की यात्रा करना चाहे तो हमारे पास एकमात्र उपाय है कि हम मन को श्वास के रथ पर चढा दे और उसके साथ-साथ भीतर चले जाएं। हमारी अतर्यात्रा प्रारम्भ हो जाएगी। हम अन्तर्मुखी हो जाएंगे। हम आध्यात्मिक बन जाएगे।

आध्यात्मिक बनने का सबसे सरल उपाय यह है कि श्वास के साथ मन को जोड देना, दोनो का योग कर देना। यह है शक्ति-जागरण का पहला सूत्र। यह है नये प्रस्थान का आरम्भ बिन्दु।

मन श्वास के साथ जुड गया। अन्तर्यात्रा प्रारम्भ हो गई। अब प्रश्न है शक्ति के जागरण का। इस प्रश्न को समाहित करने के लिए हमे शक्ति के स्वरूप को समझना होगा।

विश्व में जितने तत्त्व है, सब मे शक्ति है। कोई भी ऐसा तत्त्व नही है, जो शक्ति-शून्य हो। जो शक्ति-शून्य है, वह तत्त्व नही हो सकता।

दर्शनशास्त्र मे सत् और असत्—इन दो तत्त्वो की चर्चा है। सत् वह है, जिसमे अर्थ क्रियाकारित्व है। असत् वह है, जिसमें अर्थ-क्रियाकारित्व नहीं है। दो शब्द है—वृक्ष-कुसुम और आकाश-कुसुम, वृक्ष का फूल और आकाश का फूल। दोनो मे अन्तर क्या है ? एक सत् है, एक असत् है। एक का वास्तविक अस्तित्व है और एक केवल कल्पनामात्र है। वृक्ष का फूल सत् है क्योकि वह वास्तविक है। वह वास्तविक इसलिए है कि उसमे अर्थक्रिया है। उसमे निरन्तर क्रिया चलती है। उसमे शक्ति है। वह चल रही है। जिसमे प्रतिक्षण शक्ति चल रही है, वह सत् है, वास्तविक है। आकाश-कुसुम मे कोई क्रिया नही होती। उसकी कोई शक्ति नही है। वह असत् है। शक्ति सत् का लक्षण है। प्रश्न होता है—क्या चेतन का लक्षण भी शक्ति है ? यहां एक बात और जुड जाती है। जिसमे शक्ति है, वह सत् है और जिसमे शक्ति और चेतना—दोनो होते हैं, वह चेतन है। परमाणु मे शक्ति है किंतु चेतना नही है। आत्मा मे शक्ति भी है और चेतना भी है।

शक्ति और चेतना का योग—यह हमारी विशेषता है। इसीलिए हम चेतनावान् हैं, सवेदनशील है। हम अनुभव करते है, सवेदन करते हैं और अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं। आज के विज्ञान ने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया है—एक परमाणु मे इतनी शक्ति है कि यदि उसका विस्फोट हो जाए (किन्तु ऐसा कभी नही होता है) तो सारा ससार नष्ट हो सकता है। परमाणु मे अनन्त शक्ति होती है। आत्मा मे भी अनन्त शक्ति होती है। परमाणु मे कभी विस्फोटक होता नही, यह जागतिक सचाई है, यूनिवर्सल ट्रूथ है।

परमाणु मे जब इतनी शक्ति है तब कल्पना करे कि चेतना मे कितनी शक्ति होगी। शक्ति भी अनन्त और चेतना भी अनन्त। दोनो का योग है

मनुष्य मे। अब उसके सामर्थ्य का अन्दाजा लगाया जा सकता है। शक्ति के इस अक्षय भण्डार का स्वामी मनुष्य क्या नही कर सकता ? धर्म को साधना, मन को पकड़ना—ये तो प्रारम्भिक वाते है। हमारी साधना मन को पकडने की साधना नही है, मन को समाप्त करने की साधना है, अमन होने की साधना है।

कुछ प्राणी समनस्क होते है और कुछ अमनस्क। कुछ प्राणियो को मन प्राप्त है और कुछ प्राणियो को मन प्राप्त नही है। समनस्क प्राणी सज्ञी कहलाते हैं और अमनस्क प्राणी असज्ञी।

मनुष्य समनस्क प्राणी है। उसे संज्ञा उपलब्ध है। उसका मन विकसित है किंतु एक अवस्था ऐसी होती है, जिसमे मनुष्य 'नो-सज्ञी नो-असज्ञी' बन जाता है। वह 'नो-मन' बन जाता है, मन नष्ट हो जाता है, समाप्त हो जाता है। मन उत्पन्न ही नही होता। उस अवस्था मे केवल चेतना शेष रहती है। यह शक्ति के विस्फोट का परिणाम है, शक्ति की निष्पत्ति है। मनुष्य अपनी इस अनन्त शक्ति को पहचाने और उसको विकसित करे।

शक्ति का विकास प्रयत्न-सापेक्ष है। जितनी भी साधनाए चलती है, वे सब शक्ति के विकास के लिए ही हैं। साधना इसलिए होती है कि सुप्त चेतना जागे, सुप्त शक्तियो का विकास हो। मनुष्य मे शक्ति है पर जब तक वह सुप्त रहती है तब तक कोई निष्पत्ति नही आती। साप कुडली लगाकर बैठा है। शांत है। किसी को उसका भय नही सताता। जब वही साप फुफकारता है, तब सारा वातावरण भय से काप उठता है। बुझी हुई आग पर बच्चा भी पैर रखकर चल पडता है। जब वह आग धधकती है तब बडे-बडे भी उसके पास जाने से झिझकते है।

जब शक्तिया सोई हुई रहती है तब मनुष्य बुझी हुई आग की भाति निष्क्रिय जीवन जीता है। जब शक्तियो का जागरण होता है तब वही मनुष्य प्रज्वलित अग्नि की भाति दीप्त होकर क्रियाशील जीवन जीने लगता है। यह सारा अन्तर सुपुप्ति और जागृति का है। यह सारा अन्तर सुप्त शक्तियो का और जागृत शक्तियो का है।

हमारा सारा प्रयत्न एक दिशागामी है। हम सुप्त शक्तियो को जगाने के लिए ही साधना से गुजरते है। हम चाहते हैं कि जो चेतना सुप्त है, वह जाग जाए। शक्ति के जागने से बहुत-से अनुभव होने लगते हैं। दबी हुई बीमारिया बाहर आती हैं और उनका अनुभव होने लगता है। बीमारिया थी, व सुप्त पडी थी। शक्ति का थोडा-सा विस्फोट हुआ, ध्यान-साधना के द्वारा शक्ति का कुछ जागरण हुआ और बीमारियो का अनुभव होने लगा। साधक को लगता है कि ये बीमारिया, पीडाए और व्यथाए ध्यान ने उद्भूत हैं। नही, ये तो शरीर के तह मे पहले से ही मौजूद थी, आज उनका उभारमात्र हुआ

है। शक्ति के जागरण को सभालना भी बहुत कठिन होता है।

एक साधक मेरे पास आया। उसने कहा—'मैंने आपकी कुछेक पुस्तके पढी। ध्यान प्रारम्भ किया। जप करने लगा। एक दिन मे १५-१५ हजार जप करने प्रारम्भ किए। प्रारम्भ मे कुछेक कठिनाइयो से गुजरना पडा। मस्तिष्क पागल-सा लगने लगा। कुछ समय वीता। अव ऐसी स्थिति वन गई है कि ध्यान और जाप करने से अपूर्व आनन्द आता है, इसलिए उसे किए विना भी नही रहा जाता और करता हू तो कभी-कभी इतनी भयकर स्थिति वन जाती है कि उसे सभाल पाना भी कठिन होता। कभी-कभी पागल-सा हो जाता हूं। जव शक्ति जागती है तव अघटित घटनाए घटित होती हैं और कभी-कभी दुर्घटना भी घटित हो जाती है। शक्ति को जगाना, शक्ति को सभालना और शक्ति का सही उपयोग करना—इन तीनो आयामो से हमे सोचना होगा।

सवसे पहले हम शक्ति को जगाएं। शक्ति की जागृति किसी अनुभवी साधक की देख-रेख मे करनी चाहिए। अन्यथा जो सोई हुई शक्ति जागती है, वह उस साप की भाति फुफकारती है, जिस सांप पर किसी का पैर पड गया हो। मनुष्य घवरा जाता है। वह न शक्ति को संभाल पाता है और न अपने-आपको ही संभाल पाता है। वह दुविधा मे डूव जाता है। यदि कोई सही मार्ग-दर्शक होता है तो वह इस स्थिति को सभाल लेता है, अन्यथा दुर्घटना घटित हो जाती है।

दूसरी वात है— शक्ति को संभालना। शक्ति को संभालने मे साधक सक्षम हो। समय-समय पर वह अपनी साधना मे हेर-फेर करे और उस शक्ति को सजोने मे प्रयत्नशील रहे।

तीसरी वात है—शक्ति का सही उपयोग। जव शक्तिया जागती हैं तव अनेक उपलब्धिया होती हैं। कभी-कभी साधक इन उपलब्धियो मे भटक जाता है। वह चमत्कार की चकाचौंध मे अपनी साधना को विस्मृत कर देता है। साधक प्रदर्शन मे फसकर कभी पानी पर चलता है, कभी आकाश में अधर टिका रहता है और कभी और कुछ दिखाता है। साधना का भाव धूमिल हो जाता है, लक्ष्य छूट जाता है।

लोग वहुत वार पूछते हैं—'इतने वर्ष साधना की, उससे क्या चमत्कार प्राप्त हुए?' मैं कहना चाहता हू कि चमत्कार का नाम ही झूठ है। वह कोरी छलना है। चमत्कार कोई है ही नहीं। सारा है प्रकृति का नियम। जो प्रकृति के नियम को नही जानते, वे उसे चमत्कार कह देते हैं।

हम अपने शरीर को ठोस मानते हैं। क्या यह मानना सही है? शरीर ठोस कहा है? यदि शरीर ठोस होता तो सर्दी उसके भीतर कैसे प्रवेश करती। गर्मी कैसे अन्दर जाती? पसीना भीतर से वाहर कैसे आता? दूसरी

वस्तुओ का प्रभाव भीतर कैसे जाता ? इतनी सारी वस्तुओ का संक्रमण कैसे होता ? शरीर ठोस नही है। विज्ञान के छात्र जानते है कि विश्व के सभी पदार्थों को कूट-पीसकर यदि एक गोली बनाई जाए तो वह एक छोटी-सी ही गोली बन पाएगी।

वस्तुत: ठोसता बहुत कम है, पोल ही पोल है। हमारा शरीर पुद्‌गलो का पिंड है। एक-दूसरे परमाणु के बीच इतना व्यवधान है कि हम उसकी कल्पना भी नही कर सकते। शरीर असख्य परमाणुओ का पिंड है। एक-एक परमाणु के बीच बहुत बड़ा व्यवधान होता है। इसका साक्षात् अनुभव हमे शरीर-प्रेक्षा से प्राप्त होता है। शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास पुष्ट होने पर शरीर ठोस होने की भ्रांति टूट जाती है। हमे परमाणु-परमाणु के बीच विद्यमान विरलता का अनुभव होने लगता है। हमे एक-एक कण अलग-अलग दीखने लगता है। जब हम एक-एक कोशिका को पृथक्-पृथक् देखने का अभ्यास करेगे तो शरीर की ठोसता की भ्राति मिट जाएगी। हमे लगेगा कि शरीर रूई के पुज जैसा है, समुद्र के फेन जैसा है। यदि यह विरलता की अनुभूति हो जाती है और प्रत्येक कोशिका पर हमारा ध्यान होने लगता है तब समुदाय, घनत्व या एकत्व की बात टूट जाती है। इसके टूटते ही लघुत्व अपने-आप आ जाता है। हल्कापन आते ही शरीर ऊपर उठ जाता है, अधर मे लटक जाता है। घनत्व की भावना के कारण ही हम जमीन पर टिके हुए हैं। जब विरलता की भावना पुष्ट हो जाती है तब शरीर ऊपर उठ जाता है। यह कोई चमत्कार नही, प्रकृति का नियममात्र है।

स्पर्श आठ है—शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, हल्का-भारी और कर्कश-मृदु।

इनमे स्निग्ध-रूक्ष और शीत-उष्ण—ये चार स्पर्श मौलिक हैं। शेष चार स्पर्श सयोग से बनते हैं। अत हल्का-भारी—यह वस्तु का मूल धर्म नही है। यह संयोग के कारण होता है। परमाणुओ की स्थूल परिणति के कारण तथा अपनी अनुभूति के कारण ऐसी स्थूलता आती है। यदि यह परिणति बदल जाए तो स्थूलता समाप्त हो जाती है, गुरुता समाप्त हो जाती है, लघुता भी समाप्त हो जाती है, तब न कोई हल्का होता है और न कोई भारी। केवल अगुरुलघु।

जादूगर अनेक चमत्कार दिखाते हैं। जादूगर के लिए कोई चमत्कार नही है। चमत्कार उसके लिए है, जो जादू नही जानता। जब साधारण व्यक्ति भी जादू के नियम जान लेता है तब उसके लिए चमत्कार जैसी कोई बात नही रहती।

कुछेक रसायनो का प्रयोग कर सफेद पन्नो पर कुछ लिखा। अक्षर नही दिखेंगे। पन्ने को पानी मे डूबोते ही अक्षर अभिव्यक्त हो जाएगे। देखने

वाले को आश्चर्य-सा लगेगा किन्तु जो व्यक्ति इस विधि को जानता है, उसके लिए कोई चमत्कार नही है।

जिस दिन पहली बार आग जली होगी, न जाने कितना बडा चमत्कार लगा होगा! अरे! यह क्या? यह प्रकाश! यह ताप! आज आग चमत्कार की वस्तु नही है, क्योकि सभी उसके नियम को जानते हैं।

ध्यान कोई चमत्कार नही है। अध्यात्म कोई चमत्कार नही है। केवल प्रकृति के नियमो की समझ है। जो नियमो को समझ लेता है, वह बहुत सारी नयी बाते करने मे सक्षम होता है। सामान्य आदमी उन्हे नही कर सकता। जो नियमो को नही जानता, वह चमत्कार की भ्रातियो मे पलता रहता है।

योग कोई चमत्कार नही है। यह अध्यात्म विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया है। मनुष्य शरीर से काम लेता है, वाणी और मन से काम लेता है। योग मे कुछ नया करना नही होता। शरीर, वाणी और मन से काम लिया जाता है। किन्तु वहा एक बात स्पष्ट समझ लेनी होती है कि किन-किन कारणो से शक्ति सुप्त रहती है और किन-किन कारणो से वह जागती है? जिन-जिन कारणो से सुप्त रहती है, क्षीण होती है, उन कारणो को रोकना होता है, नष्ट करना होता है। इतना करने से योग सध जाता है, हमे केवल सतुलन स्थापित करना पडता है।

शरीर से काम लेना है, किन्तु ऐसी स्थिति भी आनी चाहिए कि शरीर से कोई काम न ले। शरीर से प्रवृत्ति करनी है तो शरीर से निवृत्ति भी करनी है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का सतुलन।

वाणी से काम लेना है तो मौन भी करना है। वाक् और मन का संतुलन।

सोचना है तो नही भी सोचना है। चिंतन और अचिंतन का सतुलन।

इस सतुलन के स्थापित होते ही योग सध जाता है, शक्ति-जागरण का मार्ग खुल जाता है, शक्ति को क्षीण करने के मार्ग बंद हो जाते हैं। सक्रियता को अवरुद्ध करते ही शक्ति का व्यय रुक जाता है। शक्ति अर्जित होने लगती है और भीतर विस्फोट होने लगता है। शक्ति जाग उठती है।

प्रवचन १२ | संकलिका

१ मृत्यु के साथ तीन तत्त्व निकलते है—
   ○ आत्मा   ○ कर्मशरीर   ○ तैजस शरीर।
   ○ एक अमूर्त, दो मूर्त।
   ○ शरीर में प्रतिक्षण परिवर्तन।
   ○ पूरी शृखला है जीवन की—जीव से शरीर, शरीर से वीर्य, वीर्य से योग, योग से प्रमाद और प्रमाद से कर्म-बध।
   ○ समूची सृष्टि के विस्तारक दो तत्त्व—जीवयुक्त शरीर या जीव-मुक्त शरीर।

२ शक्ति-जागरण के तीन सूत्र—
   दीर्घश्वास-प्रेक्षा, समवृत्तिश्वास-प्रेक्षा, सूक्ष्मश्वास-प्रेक्षा।

३ श्वास का सबध प्राण से, प्राण का संबंध सूक्ष्म प्राण से और सूक्ष्म प्राण का संबध सूक्ष्म शरीर से।

४ श्वास को पकड़ना समूची प्रक्रिया को पकड़ना है।

५ शरीर मे अनेक संवादी-केन्द्र हैं। उन पर मन को एकाग्र करने से विभिन्न शक्तियो का विकास होता है।

शक्ति-जागरण के सूत्र

वर्तमान युग ने शल्य-चिकित्सा मे कीर्तिमान स्थापित किए है। मनुष्य (प्राणियो) के शरीर की चीर-फाड़ जितनी इस युग मे हुई है उतनी अतीत मे नही हुई। यदि हुई हो तो भी उसका विशद उल्लेख प्राप्त नही है। आज के शल्य-चिकित्सक ने शरीर के प्रत्येक हिस्से को खोलकर देख लिया है, जान लिया है। उससे कोई भी हिस्सा अज्ञात नही है। समूचे शरीर की चीर-फाड़ कर लेने पर भी उसे शरीर के अतिरिक्त कुछ भी नही मिला। बहुत सूक्ष्म निरीक्षण के बाद भी कुछ उपलब्ध नही हुआ। इसके आधार पर यह धारणा बनी कि शरीर मे शरीर के अतिरिक्त और कुछ है ही नही।

प्राचीनकाल की बात है। महाराज प्रदेशी ने आत्मा के विषय मे कुछ प्रयोग किए थे। वह आत्मा को प्रत्यक्ष देखना चाहता था, जानना चाहता था। उसने जीवित शरीर को तोला, मृत शरीर को तोला। वह जानना चाहता था कि आत्मा का वजन कितना है? वह भारहीन है या भारयुक्त! वर्तमान के वैज्ञानिको ने भी इस दिशा मे प्रयत्न किया है। उनके पास सूक्ष्मतम उपकरण है। प्राचीन मान्यता मे कुछ अन्तर आया है। महाराज प्रदेशी के पास सूक्ष्म उपकरण नही थे। वह किसी निष्कर्ष पर नही पहुच सका।

उसने दूसरा प्रयोग किया। आदमी के टुकड़े-टुकडे कर दिए। प्रदेशी पास मे बैठा रहा। वह यह देखना चाहता था कि यदि शरीर मे आत्मा नाम का कोई तत्त्व होगा तो वह अवश्य ही किसी अवयव से बाहर निकलेगा। वह देखता रहा। कुछ भी नही दीखा।

प्रयोग पहले भी होते थे। प्रयोग आज भी होते है। किन्तु आज भी यह प्रश्न असमाहित ही है कि आत्मा है या नही? उसमे भार है या नही? वह दृश्य है या नही?

रूस के डॉक्टर किरलियान दम्पत्ति के अन्वेषण से एक नए तथ्य को अभिव्यक्ति मिली। उन्होने ऑरा का फोटो लिया। ऑरा या आभामडल स्थूल दृष्टि से दृश्य नही होता। उसके लिए अति सवेदनशील कैमरे की आवश्यकता होती है। उसी कैमरे के द्वारा किरलियान दम्पत्ति ने फोटो लेकर यह प्रतिपादित किया कि प्रत्येक प्राणी के चारो ओर आभामंडल होता है।

डा० जे० सी० ट्रस्ट ने भी आभामडल के फोटो लिये। उसमे एक नई दिशा का उद्घाटन हुआ कि स्थूल शरीर के अतिरिक्त भी इसमें कुछ

और है। सूक्ष्म का एक आयाम खुला। आज वैज्ञानिक सूक्ष्म शरीर के फोटो लेने में भी सफल हो चुके है।

एक व्यक्ति मर गया। मरते ही उसके फोटो लिये गए। कुछ धुधले और कुछ चमकीले द्रव्य थे। वह संभवत· तैजस शरीर था, सूक्ष्म शरीर था। जब प्राणी मरता है तब शरीर मे से तीन तत्त्व निकलते हैं—आत्मा, कर्म-शरीर और तैजस शरीर। कर्मशरीर और तैजस शरीर—ये आत्मा को कभी नही छोडते। ये सदा आत्मा के साथ रहते है। ये तब तक आत्मा के साथ रहते है जब तक कि आत्मा पूर्णरूप से बंधन-मुक्त नही हो जाती। अनादि-काल से ये साथ हैं और अनन्तकाल तक साथ रह सकते हैं। तीनो तत्त्व साथ निकलते हैं। इनमे कभी वियोग नही होता। ऐसा नही होता कि आत्मा अकेला निकल जाए, कर्मशरीर और तैजस शरीर पीछे रह जाएं। कर्मशरीर निकल जाए और तैजस शरीर रह जाए—ऐसा कभी नही होता। तीनो साथ-साथ रहते हैं और साथ-साथ ही शरीर से निकलते है। तीनो का घनिष्ट संबध है। वह कभी टूटता नही।

एक प्रश्न होता है कि तैजस शरीर के फोटो ले लिए गए, परन्तु कर्म शरीर के फोटो क्यो नही लिए गए ? जैन दर्शन की व्याख्या के अनुसार कर्म शरीर के फोटो नही लिए जा सकते। यह सभव भी नही है। तीन है—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और आत्मा। उनका संबध इस प्रकार है—आत्मा, कर्म शरीर, तैजस शरीर और स्थूल शरीर। स्थूल शरीर के परमाणु स्थूल है। वे हमारी पकड़ मे आ जाते है। उसके पश्चात् आता है तैजस शरीर। वह स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म है। फिर है कर्म शरीर। वह तैजस शरीर से भी सूक्ष्म है। फिर है आत्मा। वह सूक्ष्मतम है, अमूर्त्त है, अपौद्गलिक है। स्थूल शरीर से चलते हैं तो सूक्ष्मता आगे से आगे बढती जाती है। स्थूल शरीर को देखा। तैजस शरीर को देखना उससे कठिन हुआ। तैजस शरीर को देखा। कर्म शरीर को देखना कठिन हो गया। मान लें कि कर्म शरीर को भी देख लिया तो भी आत्मा को देख पाना असभव है, क्योकि वह अमूर्त है। दीखता वही है, जो मूर्त है। चाहे फिर वह स्थूल हो, सूक्ष्म हो या सूक्ष्मतम हो।

शरीर के अणु-अणु को देख लिया। हड्डियां, मांस, मज्जा, रक्त आदि दिखाई दिए। और आगे बढे। सूक्ष्मता मे प्रवेश किया। वृत्तियो के केन्द्रो की जानकारी हुई। कुछ और आगे बढ़े और सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को न मानने की वात समाप्त हो गई। अतीन्द्रिय द्रष्टाओ ने जो प्रत्यक्ष किया था, जिन्होने सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को स्वीकारा था, आज का विज्ञान सूक्ष्म उपकरणो से वहां तक पहुंच गया। उसने तैजस शरीर के अस्तित्व को स्वीकार लिया। आत्मा को मानने की वाधा पूर्णतः समाप्त नही हुई है। विज्ञान

उस दिशा में गतिशील है परन्तु अभी वह किसी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर नही पहुच पाया है। अतीन्द्रिय द्रष्टाओ की दृष्टि से आत्मा की स्वीकृति में कोई बाधा नहीं है किन्तु विज्ञान के आधार पर उसे पूर्ण स्वीकृति देना संभव नही है।

साधना का प्रयोजन है स्थूल शरीर को भेद कर सूक्ष्म शरीर तक पहुचना। हम पहले स्थूल शरीर के प्रकपनो को देखे, स्थूल शरीर मे होने वाले रासायनिक परिवर्तनो को देखे, स्थूल शरीर मे घटित होने वाले जैविक परिवर्तनो को देखें और ग्रन्थियो के स्रावों को देखे-समझे।

शरीर मे प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, एक पर्याय प्रकट हो रहा है, दूसरा पर्याय नष्ट हो रहा है। यह उत्पाद और व्यय का चक्र निरंतर चल रहा है। इस चक्राकार पर्याय के स्रोत को हम देखे। इतना ही देखना पर्याप्त नही है। यह तो केवल स्थूल को देखना ही हुआ। हमे सूक्ष्म को भी देखना है। हम देखने की अपनी शक्ति को इतना विकसित करे कि किसी उपकरण या यत्र की सहायता के बिना भी हम तैजस शरीर को साक्षात् देख सके, आभामडल को देख सके, कर्म शरीर को भी देख सके। उसमे होने वाले कर्म-विपाको को भी देख लें। इन सबको देखकर हम उसको भी देख ले जहा देखने वाला और देखना दो नही रहते, द्रष्टा और दृश्य एक हो जाते हैं। हम चलते-चलते अपने चैतन्य के मूल स्वरूप मे चले जाएं, उसमें अवस्थित हो जाए। बहुत लम्बी यात्रा है। अभी हमने यात्रा का प्रारम्भ ही किया है। हमे बहुत दूर पहुचना है। हम उत्साह, वीर्य और शक्ति को बढ़ाए, जिससे यात्रापथ निर्बाध हो सके और हम यात्रा को आनंदपूर्वक संपन्न कर लक्ष्य तक पहुंच सकें।

भगवान् महावीर से पूछा—'भते ! प्रमाद किससे प्रवाहित होता है?'
'वत्स ! प्रमाद योग—प्रवृत्ति से प्रवाहित होता है।'
'भते ! योग किससे प्रवाहित होता है ?'
'वत्स ! योग वीर्य से प्रवाहित होता है।'
'भते ! वीर्य किससे प्रवाहित होता है।'
'वत्स ! वीर्य शरीर से प्रवाहित होता है।'
'भते ! शरीर किससे प्रवाहित होता है ?'
'वत्स ! शरीर जीव से प्रवाहित होता है।'

आगे प्रश्न के लिए अवकाश नही रहा। प्रश्न समाप्त हो गया। जीव ने शरीर, शरीर से वीर्य, वीर्य से योग, योग से प्रमाद और प्रमाद से कर्मबंध —यह एक पूरा चक्र है, पूरी शृंखला है।

वेदांत ने यदि इस बात को स्वीकृति दी कि चेतन अचेतन से पैदा होता है, तो यह सापेक्ष-दृष्टि से सही हो सकती है। भगवान् महावीर ने और क्या

कहा ? वे कहते है—जीव से शरीर उत्पन्न होता है। इसका अर्थ हुआ—चेतन से अचेतन उत्पन्न होता है। सापेक्ष दृष्टि से देखेगे तो कठिनाई नही है। निरपेक्ष दृष्टि से देखेगे तो कठिनाई आएगी, अन्यथा नही। जीव से अजीव (शरीर) उत्पन्न होता है, यह सापेक्ष कथन सत्य है।

शरीर का निर्माता कौन है ? शरीर का निर्माता एकमात्र जीव है। जीव ने अपने-आप शरीर का निर्माण किया है। यदि जीव न हो तो शरीर का निर्माण हो नही सकता। शरीर पर्याप्ति, आहार पर्याप्ति, भाषा, मन और श्वास—इन सबका निर्माता है जीव। ये सब पौद्‌गलिक हैं किन्तु केवल पुद्‌गल इनका निर्माण नही कर सकते। केवल पुद्‌गल न शरीर का निर्माण कर सकते है, न भाषा का निर्माण कर सकते है, न आहार, मन और श्वास का निर्माण कर सकते है। ये सब पौद्‌गलिक है, किन्तु इनका निर्माता पुद्‌गल नही है। आकाश मे वे पुद्‌गल व्याप्त है, जिन्हे भाषा के रूप मे, मन के रूप मे, श्वास के रूप मे, शरीर के रूप मे और आहार के रूप मे बदला जा सकता है। किन्तु वे पुद्‌गल स्वय इन सब रूपो मे परिवर्तित नही हो सकते। जीव ही उनको इन रूपो में परिवर्तित कर सकता है। जीव बहुत बड़ी सृष्टि है। सूक्ष्म से स्थूल का निर्माण जीव ही करता है। जितने भी दृश्य पदार्थ है, चाहे वे स्थूल हो या सूक्ष्म, सबका घटक जीव है। जो पुद्‌गल हमारे उपयोग मे आ रहे है, वे सब जीव के ही व्यक्त शरीर हैं। हम खाते हैं तो जीव के शरीर को ही खाते है। हम पहनते है तो जीव के शरीर को ही पहनते है। जिस पर बैठते है, सोते हैं, वे सब जीव के ही शरीर है।

हमारे सामने दो ही पदार्थ है—जीवयुक्त शरीर या जीवमुक्त शरीर। सृष्टि का सारा विस्तार जीव से ही हुआ है, किन्तु सृष्टि का विस्तार करने वाला यह जीव पर्दे के पीछे रहता है। ईश्वरवादी भी यही मानते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया किन्तु वह स्वयं पर्दे के पीछे रहता है। यदि गहराई से देखे तो दोनो बातों मे बहुत कम अन्तर है। जीव ईश्वर है। वह कर्ता है। उसने ही सारा निर्माण किया है।

हमें जीव तक पहुचना है, उस द्रष्टा और ज्ञाता तक पहुचना है, जो पर्दे के पीछे है। किन्तु वहां तक पहुंचने के लिए पैरो मे शक्ति चाहिए। पगु पहाड पर नही चढ़ पाता। पगु लम्बी यात्रा नही कर पाता। पैरो मे पर्याप्त शक्ति चाहिए। पैरो की सुविधा के लिए हम जिन वाहनो का उपयोग करते है, वे भी शक्तिशाली होने चाहिए। शक्ति चाहे पैरो की हो या वाहन की। शक्ति की प्रमुखता है। शक्तिहीन कुछ नही कर पाता।

प्रश्न है—शक्ति को जागृत कैसे करे ? शक्ति-जागरण के सूत्र कौन-से है ? हम शक्ति-जागरण के सूत्रों को खोजे। उन्हे उपलब्ध कर शक्ति को जागृत करें।

शक्ति-जागरण का पहला सूत्र है दीर्घ श्वास-प्रेक्षा। यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसे समझने के लिए श्वास की जड़ को समझना जरूरी है। जो जड को नही समझता, वह फूल के रहस्य को भी नही समझ सकता। जिसका ध्यान जड की ओर जाता है, जो जड को समझ लेता है, उसके लिए सव वाते सरल हो जाती है।

श्वास का सबध है प्राण से, प्राण का सबध है पर्याप्ति से अर्थात् सूक्ष्म प्राण से और पर्याप्ति का सम्बन्ध है कर्मशरीर से। श्वास की जड है कर्मशरीर। श्वास इससे जुडा हुआ है। जब आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करती है, उस अन्तराल काल मे उसके दो शरीर होते हैं—एक तैजस शरीर और दूसरा कार्मण शरीर। इन दोनो शरीर के माध्यम से आत्मा अन्तराल की यात्रा करती है, और अपने उत्पत्ति-स्थान तक पहुच जाती है। उत्पत्ति के पहले क्षण मे आत्मा कर्मशरीर के द्वारा आहार ग्रहण करती है। उसे कर्मशास्त्रीय भाषा मे ओज आहार कहते हैं और विज्ञान की भाषा मे उसे ऊर्जा का आहार कह सकते है। हमारा जीवन तब तक रहता है जब तक ओज आहार है, ऊर्जा का आहार है। जब ओज आहार समाप्त हो गया, ऊर्जा समाप्त हो गई तो लाख उपाय करने पर भी जीवन टिकता नही, समाप्त हो जाता है। इसके बिना प्राणी जी नही सकता। यही है जीवनी शक्ति, जो जीवन टिकाए रखती है।

ओज आहार या ऊर्जा के आहार का सचय जीव पहले ही क्षण मे पूरा कर लेता है। उसके पश्चात् स्थूल शरीर का निर्माण होता है। हमारे स्थूल शरीर का जितना विकास होता है, उसमे जितनी नाडिया बनती हैं, जितने चक्र और जितने प्रकार के संस्थान बनते है, वे सबके सब संवादी हैं, मूल नही है। उनका मूल है कर्मशरीर मे। कर्मशरीर मे जितने स्रोत हैं, जितने शक्ति-विकास के केन्द्र है, जितने चैतन्य-केन्द्र हैं, उनका सवादी है यह स्थूल शरीर। यदि किसी प्राणी के कर्म शरीर मे एक इन्द्रिय का विकास है तो स्थूल शरीर की सरचना मे केवल एक स्पर्शन इद्रिय का ही विकास होगा, शेष इद्रियो का स्थान नही बनेगा। उनके केन्द्र नही बनेंगे। उनके गोलक निर्मित नही होंगे। न आख का निर्माण होगा, न कान का निर्माण होगा, न नाक का निर्माण होगा और न जीभ का निर्माण होगा। यदि कर्मशरीर में दो इन्द्रियो का विकास है तो स्थूल शरीर मे दो इन्द्रियो के सस्थान बनेंगे, यदि कर्मशरीर मे पांच इन्द्रियो का विकास है तो स्थूल शरीर मे पाचो इन्द्रियो के संस्थान बन जाएगे और यदि मन का विकास है तो स्थूल शरीर मे मस्तिष्क का निर्माण होगा। जिन जीवो मे मन का विकास नही है, उनके पृष्ठरज्जु भी नही होता और मस्तिष्क भी नही होता। पृष्ठरज्जु और मस्तिष्क उन्हीं मे होता है जिनमे मन का विकास होता है। इस प्रकार रचना का सारा उपक्रम

सूक्ष्म शरीर के आधार पर होता है। इसीलिए हम यह कह सकते हैं कि सूक्ष्म शरीर है 'बिम्ब' और स्थूल शरीर है 'प्रतिबिम्ब'। सूक्ष्म शरीर है 'प्रमाण' और यह स्थूल शरीर है 'सवादी प्रमाण'।

आज के शरीरशास्त्रियो ने शरीर मे अवस्थित ग्रन्थियो के विषय मे वहुत सूक्ष्म विश्लेपण किया है। कोई आदमी बौना होता है। इसका कारण है कि थाइरायड ग्रंथि के हारमोंस संतुलित नही है। इसी प्रकार लम्बा होना, सुन्दर या असुन्दर होना, स्वस्थ या बीमार होना, बुद्धिमान् या बुद्धिशून्य होना, विश्लेषण की शक्ति होना या न होना, जितने भी हमारे शारीरिक, मानसिक या मस्तिष्कीय परिवर्तन होते हैं, वे सब भिन्न-भिन्न ग्रथियो के स्राव पर निर्भर हैं। ग्रन्थियो के स्राव इन सबको नियत्रित करते है। इनके ह्रास या विकास मे ये ही निमित्त हैं।

कर्मशास्त्रीय भाषा मे हम इसे समझे। आठ कर्मो मे एक कर्म है—नामकर्म। उसकी अनेक प्रकृतियां है, विभाग है। मनुष्य लम्बा या बौना होता है—संस्थान नामकर्म के कारण। इसी प्रकार सुन्दर-असुन्दर होना, सुस्वर वाला या दुःस्वर वाला होना, सुभग या दुर्भग होना—यह सव नामकर्म की विभिन्न प्रकृतियों के कारण होता है। अध्यात्म के तत्त्ववेत्ताओ ने कर्मशरीर के आधार पर सारा विश्लेषण किया। नामकर्म का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे शरीर का सारा निर्माण, यश-अपयश, आदेश अनादेश—यह सब नामकर्म के आधार पर होता है। सूक्ष्म शरीर मे जिस प्रकार के रस-विपाक हो रहे हैं, उन रस-विपाको के आधार पर शरीर का सारा चक्र चलता है।

हम दोनो—कर्मशास्त्रीय विश्लेषण और शरीर-शास्त्रीय विश्लेषण को मिलाकर देखे। हमे प्रतीत होगा कि दोनो का स्वर एक है। दोनों एक ही वात वता रहे है। केवल भूमिका का भेद मात्र है। कर्मशास्त्रीय भूमिका शरीरशास्त्रीय भूमिका से ऊपर है। कर्मशास्त्र के वेत्ताओ ने मूल विम्व को देखकर प्रतिपादन किया और शरीरशास्त्र के वेत्ता प्रतिविम्व को देखकर प्रतिपादन कर रहे है। वे विम्व की भापा मे वोले और ये प्रतिविम्व की भापा मे वोल रहे हैं। काच मे प्रतिविम्व पड़ता है किन्तु प्रतिविम्व वही होगा, जो मूल विम्व है। इसमे अन्तर कैसे आएगा ? विम्व कुछ है, प्रतिविम्व कुछ और ही आए, यह नही हो सकता। जो विम्व है उसी का प्रतिविम्व आएगा। कर्मशास्त्रियों ने विम्व की भापा मे सारा प्रतिपादन किया और शरीर-शास्त्रियो ने प्रतिविम्व की भापा मे सारा प्रतिपादन किया। दोनो मे भापा का अंतर हो सकता है, तथ्य का नही। शरीरशास्त्री हारमोस, सिक्रिशन ऑफ ग्लैंड्स—ग्रथियो का स्राव कहते हैं। कर्मशास्त्री कर्मों का रस-विपाक, अनुभाववध कहते हैं। वह भी रस और यह भी रस। भापा भी मिल गई।

सूक्ष्म शरीर के द्वारा जो विपाक होता है, उसका रसस्राव ग्रंथियो के द्वारा होता है और वह हमारी सारी प्रवृत्तियो को संचालित करता है, प्रभावित करता है। यदि हम उसे उचित रूप मे जान लेते है तो हम स्थूल शरीर तक कभी नही रुकेंगे, और आगे बढेगे। साधना का यही प्रयोजन है कि हम आगे से आगे बढते जाए, स्थूल शरीर पर ही न रुकें, सूक्ष्म शरीर तक पहुच जाए। हमे उन रसायनो तक पहुचना है जो कर्म के द्वारा मिश्रित हो रहे हैं। वहा भी हम न रुके, आगे बढे और आत्मा के उन परिणामो तक पहुंचे, जो उन स्रावो को मिश्रित कर रहे है।

स्थूल या सूक्ष्म शरीर उपकरण है। मूल है आत्मा के परिणाम। हम सूक्ष्म शरीर से आगे बढकर, आत्म-परिणामो तक पहुचे।

उपादान और निमित्त को समझे विना साधना को ठीक से नही समझा जा सकता। उपादान को समझना होगा, निमित्त को भी समझना होगा, परिणामो को समझना होगा। मन के परिणाम, आत्मा के परिणाम निरतर चलते रहते हैं। आत्मा के परिणाम यदि विशुद्ध चैतन्य केन्द्रो की ओर प्रवाहित होते हैं तो परिणाम विशुद्ध होते हैं और यदि वे ही आत्म-परिणाम वासना की वृत्तियो को उत्तेजना देने वाले चैतन्य-केन्द्रो की ओर प्रवाहित होते है तो परिणाम कलुषित होते हैं। जो चैतन्य-केन्द्र क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्तियो को उत्तेजित करते हैं, जो चैतन्य-केन्द्र आहारसंज्ञा, भयसज्ञा, मैथुनसज्ञा और परिग्रहसंज्ञा को उत्तेजना देते हैं, यदि उन चैतन्य-केन्द्रो की ओर आत्म-परिणाम की धारा प्रवाहित होगी तो उस समय वही वृत्ति उभर आएगी, वैसे ही विचार वनेंगे।

आज यह परम आवश्यक हो गया है कि इस ओर गहरी खोज हो। खोज के द्वारा यह स्पष्ट हो जाए कि शरीर के किस भाग मे मन को प्रवाहित करने से अच्छे परिणाम आ सकते हैं और शरीर के किस भाग मे मन को प्रवाहित करने से वुरे परिणाम आ सकते हैं। यदि यह सारा स्पष्ट हो जाए तो हम हमारी सारी प्रवृत्तियो पर नियत्रण पा सकते हैं और तव हम अपनी इच्छानुसार शुभ लेश्याओ मे प्रवेश कर सकते हैं, अशुभ लेश्याओं से दूर रह सकते हैं। किन्तु यह स्थिति अन्वेपण-सापेक्ष है।

आज ऐसे वैज्ञानिको की आवश्यकता है, जिनकी अध्यात्म मे आस्था हो, रुचि हो और जिनमे साथ ही साथ वैज्ञानिक पद्धति का स्पष्ट वोध हो, वैज्ञानिक तथ्यो की अवगति हो। ऐसे वैज्ञानिक यदि शरीर के प्रत्येक अवयव की छानवीन करें, आत्मा के परिणाम की दृष्टि मे और वृत्ति की दृष्टि से, तो वहुत वडा काम हो सकता है।

मैंने एक प्राचीन ग्रन्थ देखा। वह गुजराती-मिश्रित राजस्थानी भाषा मे लिखा हुआ था। उनमे महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रतिपादित थे। उनमे लिखा था—

नाभि कमल की अनेक पखुडियां है। जब आत्मपरिणाम अमुक पखुडी पर जाता है तब क्रोध की वृत्ति जागती है, जब अमुक पंखुडी पर जाता है तब माया की वृत्ति जागती है, जब अमुक पखुडी पर जाता है तब वासना उत्तेजित होती है और जब अमुक पखुडी पर जाता है तब लोभ की वृत्ति उभरती है।

जब आत्म-परिणाम नाभि-कमल से ऊपर उठकर हृदय-कमल की पंखुड़ियो पर जाता है तब समता की वृत्ति जागती है, ज्ञान का विकास होता है, अच्छी वृत्तिया उभरती है।

जब आत्म-परिणाम दर्शन-केन्द्र पर पहुचता है तब चौदह पूर्वों के ग्रहण करने की क्षमता जागती है।

जब आत्म-परिणाम ज्ञान-केन्द्र पर पहुचता है तब केवल ज्ञान की क्षमता जागृत हो जाती है। अमुक स्थान पर आत्म-परिणाम पहुंचता है तो अवधिज्ञान की क्षमता जागती है।

यह सारा प्रतिपादन किस आधार पर किया गया है—यह निश्चय-पूर्वक नही कहा जा सकता। किन्तु इस प्रतिपादन मे एक बहुत बडी सचाई का उद्घाटन होता है कि शरीर में अनेक संवादी-केन्द्र है। इन केन्द्रो पर मन को एकाग्र कर, मन से उनकी प्रेक्षा कर, हम ऐसे द्वारो का उद्घाटन कर सकते है, ऐसी खिडकिया खोल सकते हैं, जिनके द्वारा चेतना की रश्मिया वाहर निकल सके और अघटित को घटित कर सके।

हम मूल को समझे। श्वास का सबंध है प्राण से, प्राण का सबध है पर्याप्ति से अर्थात् सूक्ष्म प्राण से। यह जीवन के पहले ही क्षण मे निर्मित हो जाता है। प्राण को भी प्राण चाहिए। जो सूक्ष्म शरीर का प्राण है, उसे भी प्राण चाहिए। वह प्राण आकाश-मडल से प्राप्त होता है। सारे शरीर मे, सारे आकाश-मडल मे प्राण फैला हुआ है, आहार पर्याप्ति के योग्य वर्गणाए सारे आकाश में फैली हुई है। ऊर्जा की या प्राणशक्ति की वर्गणाएं फैली हुई हैं। वे प्राप्त होती है श्वास के माध्यम से। हम केवल श्वास ही नही लेते, उसके साथ प्राण भी लेते हैं। शरीरशास्त्र के अनुसार भी जब हम श्वास लेते है तो ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं, नाइट्रोजन लेते है और भी न जाने कितनी गैसे और कितने तत्त्व ग्रहण करते हैं। किन्तु कर्मशास्त्र की भाषा मे हम प्राण लेते है। श्वास के साथ जाने वाला प्राण उस प्राण को संवर्द्धित करता है, पोषण देता है।

जैन आगम भगवती और प्रज्ञापना मे यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि जीव कितनी दिशाओ से आहार लेता है? प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि जीव पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व दिशा और अधोदिशा—छहो दिशाओ मे आहार लेता है। यहा आहार का अर्थ ही है—प्राणतत्त्व का

आहार । जीव जीवित रहने के लिए निरतर वाहर से आहरण करता है, वह निरन्तर प्राणऊर्जा लेता है । यह आहरण कभी नही रुकता ।

ऊर्जा या प्राण के आहरण का सशक्त माध्यम है श्वास । यह निरंतर चलता है तो आहरण भी निरन्तर चलता है । हम दीर्घश्वास लेते हैं, दीर्घ श्वास की प्रेक्षा करते है, इसका अर्थ है—हम शक्ति के मूल स्रोतों को जागृत करने का प्रयत्न करते है । दीर्घश्वास को देखने की वात वहुत छोटी-सी लगती है, किंतु यह वहुत गहरी बात है । एक अंगुली को पकडकर समूचे घर के स्वामी वन जाने की बात है । हम इस प्रक्रिया मे केवल प्राण को ही नहीं पकड रहे है, समूची प्राणशक्ति को जागृत करने का प्रयत्न कर रहे है । जैसे जैसे हम श्वास को दीर्घ करते है, हस पूरी ऊर्जा को खीचते है और उसे देखते है तो शक्ति के मूल स्रोत को जागृत कर लेते हैं, जिसके विस्फोट के द्वारा हमे नई-नई उपलब्धिया प्राप्त होती हैं । नई दिशाओ के उद्घाटन के लिए श्वास-प्रेक्षा वहुत ही महत्त्वपूर्ण है । इसे सामान्य न मानें।

समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा भी शक्ति-जागरण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है । एक नथुने से श्वास लेना और दूसरे से निकालना—यह है समवृत्ति श्वास । इसे देखना, इसके साथ मन का योग करना महत्त्वपूर्ण वात है । मनोकायिक चिकित्सक इस निष्कर्ष पर पहुंचे है कि समवृत्ति श्वास के माध्यम से चेतना के विशिष्ट केन्द्रो को जागृत किया जा सकता है । उन्होने यहा तक प्रतिपादित किया है कि इसके पुष्ट अभ्यास से अतीन्द्रिज्ञान उपलब्ध किया जा सकता है। क्लेर्वोयेन्स की उपलब्धि इससे सभव हो सकती है । समवृत्ति श्वास का सतत अभ्यास अनेक उपलब्धियो मे सहायक हो सकता है ।

वस्तुत. श्वास वहुत ही मूल्यवान् है । इसे छोटा न समझा जाए । यदि यह छोटी-सी वात भी समझ मे आ जाती है तो साधना की वडी-वडी वाते स्वत: समझ मे आ जाएगी । मनुष्य की कठिनाई यह है कि वह सब ध्वजा को देखता है, नीव को नही देखता । अध्यात्म की साधना मे श्वास को देखना नीव को देखना है । यह नीव का पत्थर है । इसी पर साधना का महल खड़ा किया जा सकता है ।

यदि हम श्वास की वात को ठीक से पकड़ लेते हैं तो अगले द्वार अपने-आप उद्घाटित होते चले जाते हैं ।

नाभि कमल की अनेक पखुडिया है। जब आत्मपरिणाम अमुक पंखुडी पर जाता है तब क्रोध की वृत्ति जागती है, जब अमुक पखुडी पर जाता है तब माया की वृत्ति जागती है, जब अमुक पखुडी पर जाता है तब वासना उत्तेजित होती है और जब अमुक पखुडी पर जाता है तब लोभ की वृत्ति उभरती है।

जब आत्म-परिणाम नाभि-कमल से ऊपर उठकर हृदय-कमल की पखुड़ियो पर जाता है तब समता की वृत्ति जागती है, ज्ञान का विकास होता है, अच्छी वृत्तिया उभरती है।

जब आत्म-परिणाम दर्शन-केन्द्र पर पहुचता है तब चौदह पूर्वो के ग्रहण करने की क्षमता जागती है।

जब आत्म-परिणाम ज्ञान-केन्द्र पर पहुचता है तब केवल ज्ञान की क्षमता जागृत हो जाती है। अमुक स्थान पर आत्म-परिणाम पहुंचता है तो अवधिज्ञान की क्षमता जागती है।

यह सारा प्रतिपादन किस आधार पर किया गया है—यह निश्चय-पूर्वक नही कहा जा सकता। किन्तु इस प्रतिपादन मे एक बहुत बडी सचाई का उद्घाटन होता है कि शरीर मे अनेक सवादी-केन्द्र है। इन केन्द्रो पर मन को एकाग्र कर, मन से उनकी प्रेक्षा कर, हम ऐसे द्वारो का उद्घाटन कर सकते है, ऐसी खिड़किया खोल सकते हैं, जिनके द्वारा चेतना की रश्मिया बाहर निकल सकें और अघटित को घटित कर सके।

हम मूल को समझे। श्वास का सबध है प्राण से, प्राण का सबंध है पर्याप्ति से अर्थात् सूक्ष्म प्राण से। यह जीवन के पहले ही क्षण मे निर्मित हो जाता है। प्राण को भी प्राण चाहिए। जो सूक्ष्म शरीर का प्राण है, उसे भी प्राण चाहिए। वह प्राण आकाश-मडल से प्राप्त होता है। सारे शरीर मे, सारे आकाश-मंडल मे प्राण फैला हुआ है, आहार पर्याप्ति के योग्य वर्गणाए सारे आकाश मे फैली हुई हैं। ऊर्जा की या प्राणशक्ति की वर्गणाए फैली हुई हैं। वे प्राप्त होती है श्वास के माध्यम से। हम केवल श्वास ही नही लेते, उसके साथ प्राण भी लेते हैं। शरीरशास्त्र के अनुसार भी जब हम श्वास लेते है तो ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं, नाइट्रोजन लेते है और भी न जाने कितनी गैसे और कितने तत्व ग्रहण करते हैं। किन्तु कर्मशास्त्र की भाषा मे हम प्राण लेते है। श्वास के साथ जाने वाला प्राण उस प्राण को सवर्द्धित करता है, पोषण देता है।

जैन आगम भगवती और प्रज्ञापना मे यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि जीव कितनी दिशाओ से आहार लेता है? प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि जीव पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व दिशा और अधोदिशा—छहों दिशाओं मे आहार लेता है। वहा आहार का अर्थ ही है—प्राणतत्त्व का

आहार । जीव जीवित रहने के लिए निरंतर बाहर से आहरण करता है, वह निरन्तर प्राणऊर्जा लेता है । यह आहरण कभी नही रुकता ।

ऊर्जा या प्राण के आहरण का सशक्त माध्यम है श्वास । यह निरतर चलता है तो आहरण भी निरन्तर चलता है । हम दीर्घश्वास लेते हैं, दीर्घश्वास की प्रेक्षा करते है, इसका अर्थ है— हम शक्ति के मूल स्रोतो को जागृत करने का प्रयत्न करते है । दीर्घश्वास को देखने की बात बहुत छोटी-सी लगती है, किंतु यह बहुत गहरी बात है । एक अगुली को पकडकर समूचे घर के स्वामी बन जाने की बात है । हम इस प्रक्रिया मे केवल प्राण को ही नही पकड़ रहे है, समूची प्राणशक्ति को जागृत करने का प्रयत्न कर रहे है । जैसे-जैसे हम श्वास को दीर्घ करते है, हम पूरी ऊर्जा को खीचते है और उसे देखते है तो शक्ति के मूल स्रोत को जागृत कर लेते है, जिसके विस्फोट के द्वारा हमे नई-नई उपलब्धिया प्राप्त होती हैं । नई दिशाओ के उद्घाटन के लिए श्वास-प्रेक्षा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । इसे सामान्य न माने ।

समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा भी शक्ति-जागरण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है । एक नथुने से श्वास लेना और दूसरे से निकालना—यह है समवृत्ति श्वास । इसे देखना, इसके साथ मन का योग करना महत्त्वपूर्ण बात है । मनोकायिक चिकित्सक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि समवृत्ति श्वास के माध्यम से चेतना के विशिष्ट केन्द्रो को जागृत किया जा सकता है । उन्होने यहा तक प्रतिपादन किया है कि इसके पुष्ट अभ्यास से अतीन्द्रिज्ञान उपलब्ध किया जा सकता है। क्लेर्वोयेन्स की उपलब्धि इससे सभव हो सकती है । समवृत्ति श्वास का सतत अभ्यास अनेक उपलब्धियो मे सहायक हो सकता है ।

वस्तुत: श्वास बहुत ही मूल्यवान् है । इसे छोटा न समझा जाए । यदि यह छोटी-सी बात भी समझ मे आ जाती है तो साधना की बडी-बडी बाते स्वत: समझ मे आ जाएंगी । मनुष्य की कठिनाई यह है कि वह सदा ध्वजा को देखता है, नीव को नही देखता । अध्यात्म की साधना मे श्वास को देखना नीव को देखना है । यह नीव का पत्थर है । इसी पर साधना का महल खड़ा किया जा सकता है ।

यदि हम श्वास की बात को ठीक से पकड़ लेते हैं तो अगले द्वार अपने-आप उद्घाटित होते चले जाते है ।

प्रवचन १३ | संकलिका

१. विश्व मे सव कुछ यौगिक, शुद्ध कुछ भी नही ।
२. ज्ञान अनन्त, भाषा सान्त, अनुभव अनंत ।
३ रूपी सत्ता, अरूपी सत्ता ।
४ सूक्ष्म रचना—चतु:स्पर्शी पुद्‌गलो की सरचना ।
५. स्थूल रचना—अष्टस्पर्शी पुद्‌गलो की संरचना ।
६. कोशिका की रचना अत्यन्त सूक्ष्म, जटिल और आश्चर्यजनक ।
७. कर्म-शरीर की कोशिकाएं—एक वर्ग इंच मे अरवो-खरवो ।
८ ज्ञान की क्षमता का होना एक वात है । ज्ञान की अभिव्यक्ति को झेलना दूसरी वात है ।
स्थूल शरीर की क्रियाओ के ज्ञान का क्षेत्र है—विज्ञान । पर वे क्रियाएं क्यो—
विज्ञान के पास कोई उत्तर नही ।
स्थूल शरीर और कर्म-शरीर का सेतु है—तैजस शरीर ।
भाषा अचेतन, भाषायोग चेतन ।
मन अचेतन, मनोयोग चेतन ।
काया अचेतन, कायायोग चेतन ।

स्थूल और सूक्ष्म की मीमांसा

विश्व मे जितने प्राणी है, सब यौगिक है, कोई भी शुद्ध नहीं है। जीव है। शरीर है। चेतना शरीर के बिना अभिव्यक्त नही होती और शरीर चेतना के बिना निर्मित नही होता। चेतना और शरीर—इन दोनो का योग है, इसलिए सभी प्राणी यौगिक हैं। शुद्ध चेतना जैसी कोई वस्तु उपलब्ध नही होती। यह मात्र भावी की कल्पना हो सकती है। न जाने जीव और शरीर, चेतना और शरीर कब से साथ है? इसकी कोई व्याख्या नही की जा सकती। यह कब से है? क्यो है? कैसे है?—ये प्रश्न अनुत्तरित ही है। इसके लिए इतना मात्र कहा जा सकता है कि यह सब अनादि काल से है। ऐसा लगता है कि जीव और पुद्गल मे एक समझौता है। पुद्गल की एक शर्त है जीव के साथ कि तुम मेरी सीमा से बाहर नही जा सकते, मेरे प्रभाव-क्षेत्र से मुक्त नही हो सकते। जीव अनादिकाल से शरीर के प्रभाव-क्षेत्र मे रह रहा है, उसकी सीमा से मुक्त नही हो रहा है। जीव की भी एक शर्त है पुद्गल (शरीर) के साथ कि तुम मेरे मौलिक अस्तित्व को निर्मूल नही कर सकते, विभक्त नही कर सकते। शरीर अपनी शर्त को निभा रहा है। वह जीव के मौलिक स्वरूप को विकृत नही कर रहा है। जीव मौलिक स्वरूप मे है, पर वह शरीर के प्रभाव-क्षेत्र से मुक्त नही है। शरीर जीव पर अपना प्रभाव डाल रहा है, किंतु उसकी मौलिक सत्ता को कभी निर्मूल नही कर पाता। इसी आधार पर बहुत कुछ बताया गया है।

जानना एक बात है और उसे बताना दूसरी बात है। जानना स्वगत होता है। बताने मे भाषा का माध्यम लिया जाता है। भाषा की अपनी सीमा है, अत: बताना भी सीमित हो जाता है। जानने को अनन्त है किन्तु भाषा मे अनन्त जैसा कुछ भी नहीं है। भाषा मे सीमित अभिव्यक्ति ही हो सकती है। भाषा अनन्त नही और भाषा मे जो प्रतिपाद्य होता है, वाच्य होता है, वह अनन्त हो ही नही सकता। जब भाषा अनन्त नही, सीमित है, सान्त है, तब असीमित या अनन्त को कैसे अभिव्यक्त कर सकती है? सान्त मे अनन्त को कैसे उतारा जा सकता है? जो जाना गया, वह सारा का सारा बताया जा सके, ऐसा कोई माध्यम हमारे पास नही है। अनन्त की चर्चा को हम छोड़ दे। प्रतिदिन होने वाले ध्यान के अनुभवो को भी हम भाषा के माध्यम से पूरा अभिव्यक्त नही कर सकते। हम प्रतीक के रूप मे उसे थोडी-सी अभिव्यक्ति दे पाते है। अनुभवो को भाषा के माध्यम से बाहर

नहीं लाया जा सकता। कोई माध्यम नही है, कोई वाहन नही है, जिस पर अनुभव अपनी यात्रा कर दूसरो तक पहुच सके।

जब सुख की अनुभूति होती है तब मुख-मुद्रा प्रसन्न हो जाती है। जब क्रोध की अनुभूति होती है तब भौहे तन जाती हैं, सारा शरीर तनावग्रस्त हो जाता है। यह सुख की या क्रोध की पूरी अभिव्यक्ति नही है। उसका केवल एक अश मात्र ही अभिव्यक्त हो पाया है। न पूरा सुख अभिव्यक्त हुआ है और न पूरा क्रोध अभिव्यक्त हुआ है। उनका केवल एक अश ही वाहर फूटा है।

तत्त्व दो है—जीव और अजीव। जीव वह है, जिसमे चेतना है। अजीव वह है, जिसमे चेतना नहीं है। जीव और अजीव के बीच जो भेद-रेखा है, वह है चेतना। चेतना दोनो को विभक्त करती है। जिसमे चेतना है, वह जीव और जिसमे चेतना नही है, वह अजीव।

दूसरी भेदरेखा है—अरूपी सत्ता। जीव वह है, जो अरूपी सत्ता है। अजीव वह है, जो रूपी सत्ता है। अरूपी—यह शब्द हमारे लिए बिलकुल अपरिचित है। यह अपरिचित इसलिए है कि हम इद्रियो के जगत् मे जीते है, इन्द्रियो से परिचित है। हम मनस् और बुद्धि के जगत् मे जीते हैं, उनसे परिचित है। वुद्धि, मन और इद्रियो के पास अरूपी को पहचानने का कोई साधन नही है, जानने का कोई उपाय नही है। इसलिए यह 'अरूपी' शब्द वहुत अपरिचित है। अवधिज्ञानी और मन·पर्यवज्ञानी भी अरूपी को नही देख सकता, नही जान सकता। अवधिज्ञान और मन पर्यवज्ञान–ये दोनो अतीन्द्रिय ज्ञान है पर ये भी अरूपी को जानने-देखने मे असमर्थ हैं। अतीन्द्रियज्ञान की एक अन्तिम सीमा है जहा पहुचकर व्यक्ति ने उद्घोषणा की—हम जिस जगत् मे जी रहे है वहा एक ऐसा भी तत्त्व है, जो अरूपी है। जिसमे वर्ण, गध, रस और स्पर्श—कुछ भी नही है। जिसमे संघटन और विघटन नही है। जो न जुडता है और न विखरता है। जो न स्कध वनता है, न कुछ और। वह आकाश का अवगाहन करता है पर उसको रोकता नही। वह अप्रतिहत है। ऐसा एक भी स्थान नही जहा वह न हो, जहा वह न रहे। वह है अरूपी सत्ता।

अरूपी सत्ता और चेतन सत्ता—दोनो इन्द्रिय और मन से परे है। यदि हम इन्हे इन्द्रियो, मन और वुद्धि के माध्यम से जानना चाहे तो हम कभी नही जान पायेगे। क्योकि इन्द्रिय, मन या वुद्धि के ये विपय नही वनते। जो जिसका विपय नही है, उसे उसके द्वारा समझने के प्रयत्न की कोई सार्थकता नही हो सकती। हम उसी के द्वारा उस विपय को जान सकते हैं, जो जिसका साधन वन सके, गमक और ज्ञापक वन सके।

यदि कोई व्यक्ति चेतन सत्ता को स्वीकार नही करता, अरूपी सत्ता

को स्वीकार नही करता तो कोई आश्चर्य नही होता। आश्चर्य तब हो जब बुद्धि से जानने की बात भी बुद्धि से न जानी जाए। तब माना जा सकता है कि इस व्यक्ति मे बौद्धिक विकास पर्याप्त नही है। इसके लिए उपाय करना चाहिए। एक मदबुद्धि का आदमी है और एक प्रखर बुद्धि का आदमी है। दोनो मे तरतमता है। इस तरतमता को मिटाने के लिए प्रयत्न होता है। बुद्धि का विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। एक व्यक्ति की स्मृति कमजोर है और दूसरे व्यक्ति की स्मृति प्रखर है। कमजोर व्यक्ति की स्मृति को बढाने का प्रयत्न किया जाता है। किन्तु जहा कोई तारतम्य का प्रश्न ही नही है, वहा विकास की बात प्राप्त नही होती।

यह शरीर हमारी इन्द्रियो का विषय है, बुद्धि का विषय है। हम इसे इन्द्रियो द्वारा देख सकते हैं और बुद्धि के द्वारा इसकी व्याख्या कर सकते हैं। प्राचीनकाल मे भी शरीर की व्याख्या बहुत की गई और आज के शरीर-शास्त्रियो ने भी इसका बहुत विश्लेषण किया है। शरीर के एक-एक अवयव की सूक्ष्मतम व्याख्या आज प्राप्त है। शरीर का छोटा या बड़ा—ऐसा कोई भी अवयव नही, जिसका सूक्ष्मतम विश्लेषण आज उपलब्ध न हो। प्राचीन-काल मे जो विश्लेषण किया गया, वह देखने के आधार पर या अनुमान के आधार पर किया गया था। आज का विश्लेषण वैज्ञानिक परीक्षणो और प्रयोगो के आधार पर हुआ है। शरीर अचेतन है, रूपी सत्ता है। वह दीखता है, इन्द्रिय-गम्य है, इसलिए इतनी व्याख्याए सभव हैं।

डॉ० हुक शीशी का कार्क देख रहा था। उसने देखा—कार्क के जालिया-ही-जालिया है। वह जालियों से सकीर्ण है। वह आश्चर्य मे डूब गया। खुली आखों से जो कार्क केवल एक कार्कमात्र ही दीख रहा था, एक भी जाली नही दीख रही थी, वह माइक्रोस्कोप से देखा जाने पर जालीदार दीखने लगा।

शरीर को देखा। उसमे असंख्य प्रकोष्ट दीखे। उनका नाम रखा "सैल्स" (Cells)। शरीर मे और भी अनेक आश्चर्यजनक तत्त्व देखे। कोशिकाओ की सरचना देखी। उसके आश्चर्य का ठिकाना नही रहा।

यह सारी स्थूल सरचना की कहानी है, स्थूल शरीर की बात है।

पौद्गलिक रचना दो प्रकार की होती है। एक है सूक्ष्म रचना और दूसरी है स्थूल रचना। जैन पारिभाषिक शब्दावली मे कहे तो सूक्ष्म रचना अर्थात् चतु स्पर्शी पुद्गलो की रचना और स्थूल रचना अर्थात् अष्टस्पर्शी पुद्गलो की रचना। जिसमे आठ स्पर्श होते हैं, वह स्थूल होता है और जिसमे केवल चार स्पर्श होते हैं वह सूक्ष्म होता है। स्थूल अष्टस्पर्शी है और सूक्ष्म चतुःस्पर्शी। अष्टस्पर्शी पौद्गलिक संरचना को देखा जा सकता है। चर्म-चक्षुओ के द्वारा तथा वैज्ञानिक उपकरणो के द्वारा उसे पकड़ा जा सकता है।

किन्तु चतु.स्पर्शी पौद्गलिक सरचना को देखना या जानना सरल नही है।

मनोविज्ञान तीन प्रकार का मन मानता है—अवचेतन मन, चेतन मन और अचेतन मन। तीनो मस्तिष्क के ही विभाग हैं। सूक्ष्म शरीर की सत्ता इससे परे है। आज तक जो कोशिकाओ और गुणसूत्रो की व्याख्या हुई है, वह स्थूल शरीर के आधार पर ही हुई है। कोशिका की अत्यत सूक्ष्म सरचना को देखकर वैज्ञानिक आश्चर्य मे डूब गए। एक सूक्ष्म कोशिका और इतनी जटिल संरचना। एक वर्ग इच मे ग्यारह लाख सतहत्तर हजार पांच सौ कोशिकाएं होती हैं। इतनी सूक्ष्म है इनकी सरचना! इनका कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। जितने भी आनुवंशिक गुण और अवगुण है, उन सबका नियत्रण ये छोटी-छोटी कोशिकाए करती हैं। उनका लेखा-जोखा रखती हैं। पहली कोशिका जब नष्ट होती है और दूसरी कोशिका का निर्माण होता है तब पहली पीढी वाली कोशिका अपनी भावी पीढी की कोशिका को सारा दायित्व सौप जाती है, सारी सूचनाए दे जाती है। क्या करना है, कैसे करना है, कब करना है — यह सारा बता जाती है। यह कितना आश्चर्यकारी कार्य है! प्रश्न होता है कि यह घटित कैसे होता है? शरीर-वैज्ञानिको ने कुछेक युक्तिया निकाली हैं और इस प्रश्न को समाहित करने का प्रयत्न किया है। विविध प्रकार की कोशिकाए नाना प्रकार के प्रोटीनो का उत्पादन करती है और प्राकृतिक जगत् मे विविधाताएं बनाए रखती हैं। किन्तु आज भी यह समस्या सुलझ नही पाई है। यह एक बिन्दु है। इस पर खडे होकर यदि हम आगे की ओर देखते हैं तो पता चलता है कि हमारे पास इस गुत्थी को सुलझाने का एक साधन है। वह है—कर्मशरीर। यह सूक्ष्मतम है। सारी व्यवस्था इसी से आ रही है। यह व्यवस्था स्वत चालित है। अनत-अनंत परमाणु हैं। सबका संचालन स्वतः होता है।

कर्म पुद्गलों का स्कध अनतप्रदेशी होता है। वैसा स्कध ही कर्म योग्य होता है। कर्म के अनतप्रदेशी स्कध आत्मा के प्रदेशों से चिपके हुए हैं। इतना सूक्ष्म जगत्! इतना विशाल जगत्! एक वर्ग इच मे ग्यारह लाख से अधिक कोशिकाए होती हैं किन्तु यदि सूक्ष्म शरीर—कर्मशरीर की कोशिकाओ का लेखा-जोखा किया जाए तो एक वर्ग इच मे अरबों-खरबो कोशिकाओ का अस्तित्व ज्ञात होगा।

स्थूल या सूक्ष्म—सारे नियमन सूक्ष्म शरीर से होते हैं। वह नियता है, नियमन करने वाला है। नियमन के आठ विभाग हैं। सब अपना-अपना काम सभाले हुए हैं।

एक विभाग है—ज्ञान के नियमन का। वह जीव के ज्ञान का नियमन करता है। वह इसका नियमन करता है कि इतना ज्ञान बाहर प्रकट होना चाहिए, इतना नही।

हमारे शरीर मे भी एक व्यवस्था है। व्यक्ति को जब ज्यादा कष्ट होता है तब उसे मूर्च्छा आ जाती है। जब व्यक्ति पूरे कष्ट को सहन नही कर पाता तब वह मूर्च्छित हो जाता है। यह प्रकृतिगत व्यवस्था है। जब तक व्यक्ति कष्टो को सहन करने की सीमा मे रहता है तब तक उसे कोई मूर्च्छा नही आती। जब कष्ट सीमा को पार कर सकता है, तब प्रकृति उसे मूर्च्छित कर देती है, जिससे कि उसे कष्टानुभूति न हो।

ज्ञान की व्यवस्था भी स्वतः चालित है। किस व्यक्ति को कितना ज्ञान मिलना चाहिए, कौन व्यक्ति कितने ज्ञान को वहन कर सकता है—यह सब सूक्ष्म शरीर -कर्मशरीर की व्यवस्था है। यदि इस व्यवस्था का अतिक्रमण होता है तो व्यक्ति पागल बन जाता है, मूर्च्छित हो जाता है।

एक व्यक्ति को जातिस्मृतिज्ञान (पूर्वजन्मज्ञान) हुआ। उसे पूर्वजन्मो की स्मृति हुई। अब उसका जीना दूभर हो गया। क्योकि वह प्रत्यक्ष देखता है कि उसने यह किया, वह किया। उससे लडा, इससे लडा। उसे मारा, इसे मारा। वह घबरा गया, पागल हो गया। ऐसा इसीलिए होता है कि वह उन स्मृतियो के भार को झेल नही सकता। उसमे इतनी क्षमता विकसित नहीं है।

किसी की तीसरी आख खुलती है। वह देखता है—अमुक दस दिन बाद मर जाएगा। अमुक का आज एक्सीडेंट होगा। अमुक का पति मर जाएगा। ऐसा होगा, वैसे होगा। ससार के सारे झझट उसके सामने आ खडे होते हैं। वह घबरा जाता है। घबराहट इसलिए होती है कि उसमे इन तथ्यों को झेलने की क्षमता नही होती।

जब तक झेलने की क्षमता पूरी नही जागती तब तक यदि ज्ञान अधिक प्रकट होता है तो सतुलन बिगड जाता है। बिजली के वोल्टेज ज्यादा होते हैं और यदि इसुलेशन नही होता है तो खतरा ही खतरा है। जब ज्ञान के वोल्टेज, चेतना के वोल्टेज ज्यादा जाग जाते है और यदि क्षमता के विकास का इंसुलेशन नही होता है तो व्यक्ति उसे झेल नही पाता। ज्ञान भी उसे पागल बना देता है, मूर्च्छा मे डाल देता है।

ज्ञान का विभाग इस बात को सभालता है कि ज्ञान उतना ही बाहर जाना चाहिए जितना कि क्षमता का विकास है। पारिभाषिक शब्दावली मे कहा गया—जितना अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होगा, उतना ही ज्ञानावरण का क्षयोपशम होगा, उतना ही ज्ञान काम मे आएगा।

शिष्य ने पूछा—'भते! इन्द्रियो की उपलब्धि कैसे होती है?'

गुरु ने कहा—'ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रियो की उपलब्धि होती है। अन्तराय कर्म इसुलेशन की भांति जुडा ही रहेगा। यदि यह कहा जाए—इन्द्रियो की उपलब्धि का मूल हेतु है

—ज्ञानावरण और दर्शनावरण का क्षयोपशम तो यह उत्तर अधूरा होगा। ज्ञान का विभाग और दर्शन का विभाग ज्ञान और दर्शन का नियत्रण करता है तो अतराय का विभाग क्षमता का नियंत्रण करता है। वह इस वात को सोचता है कि व्यक्ति की मूर्च्छा कितनी टूटी, पागलपन कितना टूटा, मोह का आवरण कितना हटा। मोह प्रवल है और क्षमता को अधिक जगा दिया जाता है तो संतुलन विगड़ जाता है। फिर अणुवम बनता है और विश्व के सहार की वात सामने आ जाती है।

शक्ति का विकास उतना ही हो, जितना कि मोह टूटा है। ऐसा होने पर ही सतुलन बना रह सकता है।

जव ज्ञान का विकास, दर्शन का विकास और क्षमता का विकास संतुलित होता है तब उसके अनुपात मे मूर्च्छा टूटती है। वीतरागता का विकास या राग-द्वेष के मल से मुक्ति पाने का विकास भी उसके सतुलन से प्रकट होता है।

ये चारो विभाग—ज्ञान का विभाग, दर्शन का विभाग, अन्तराय का विभाग और मोह का विभाग—अपना-अपना काम संभाले हुए है। सूक्ष्म शरीर की सरचना में इन चारो का बहुत वड़ा योग है। सूक्ष्म शरीर के चार विभाग और हैं—नाम, गोत्र, आयुष्य और वेदनीय। इन सबमे वड़ा विभाग है—नाम का। हमारा स्थूल शरीर नामकर्म के कारण बनता है। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को वनाए विना नही रहता, क्योकि इसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए कुछ न कुछ चाहिए। सारी अभिव्यक्ति स्थूल शरीर के माध्यम से होती है, इसलिए स्थूल शरीर का निर्माण होता है। नामकर्म के उपविभागो की सख्या भी सबसे अधिक है। किसी कर्म के विभाग हैं आठ, किसी के पाच, किसी के दो तो किसी के अट्ठाईस। नामकर्म के विभाग सौ से अधिक है। उनमें एक विभाग है—निर्माण नामकर्म। यही शरीर का निर्माता है। यह एक शिल्पी है। कोशिकाओं का निर्माता भी यही है। यह पुरानी कोशिकाओ को नष्ट कर रहा है और नई कोशिकाओं का निर्माण कर रहा है। यह जीर्ण-शीर्ण अंगो को नष्ट कर नये अंगों का निर्माण कर रहा है। यह सदा कर्मरत है, जागृत है, निरंतर काम मे लगा रहता है। यह दोनो काम करता है—उत्पन्न भी करता है और व्यवस्था भी करता है। यह नए अवयव को उत्पन्न करता है, उसके परिमाण का निश्चय करता है कि वह कितने भाग मे होगा और उसकी व्यवस्था भी करता है।

कोई व्यक्ति काला है और कोई गोरा। इसका नियामक सूत्र क्या है? शरीर विज्ञान मानता है कि यह सव गुणसूत्र के द्वारा होता है। कर्मशास्त्री कहते है कि नामकर्म का एक विभाग है 'वर्ण नामकर्म'। इसी के द्वारा प्राणियों का वर्ण निर्धारित होता है। यही नियामक है।

जीने के आविष्कार ने वैज्ञानिक जगत् मे हलचल पैदा कर दी है। उसमे सारे सस्कार सूक्ष्म शरीर से प्रवाहित होकर आते हैं और इस स्थूल शरीर मे अभिव्यक्त होते है।

आज एक नई खोज और हुई है। एक व्यक्ति कमरे मे बैठा है। वह एक घटा उस कमरे में बैठकर चला गया। वाद मे उस कमरे के वायुमंडल के विश्लेषण के आधार पर उस व्यक्ति को पहचान लिया जाता है।

सूघने के आधार पर अपराधी को पहचानने मे कुत्तो का उपयोग हो रहा है। वैज्ञानिको ने गध-विश्लेषको का निर्माण किया है। उसके आधार पर अमुक क्षेत्र के वायुमडल को सूघकर वह बता देता है कि अमुक प्रकार का व्यक्ति यहा आया था, बैठा था आदि-आदि। यह शरीर की गध के आधार पर होता है।

तीर्थंकरो के लिए कहा जाता है कि उनके शरीर से पद्मकमल जैसी सुरभि-गध निकलती है। यह उनकी विशेषता मानी गयी है। प्रत्येक प्राणी के शरीर से गध निकलती है। वह अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी हो सकती है। सवके शरीर से पद्म जैसी ही गध निकले, यह आवश्यक नही है।

प्राचीन ग्रन्थो मे यह उल्लेख है कि जो स्त्री पद्मिनी होती है, उसके शरीर मे पद्म जैसी सुगन्ध आती है। उस स्त्री के माध्यम से अनेक प्रकार की विद्याओ की सिद्धि की जाती थी।

प्रत्येक व्यक्ति मे हथेली और पैरो के तलवे से गध प्रवाहित होती है पसीने के माध्यम से। चोरो को इस गध के आधार पर पकड़ा जाता है। उनके हथेली और पैरो से निकलने वाले पसीने के आधार पर यह होता है। आज के चोर इससे बचने के लिए हाथ मे मोजे और पैरो मे जूते पहनकर चोरी करते है। किन्तु गध के परमाणु इतने सूक्ष्म होते है कि वे इनको पार कर पृथ्वी पर या पदार्थ पर अपना चिह्न छोड जाते है।

नामकर्म की एक प्रकृति है— गंध नामकर्म। इसके द्वारा ही गध का स्रवण होता है। इसी प्रकार नामकर्म के और-और विभाग भी है—रस नामकर्म, स्पर्श नामकर्म, आदि-आदि। मै कई वार सोचता था कि नामकर्म की प्रकृतियो का इतना लवा जाल क्यो बिछाया गया है—आतप नामकर्म, उद्योत नामकर्म, पराघात नामकर्म, श्वासोन्छ्वास नामकर्म, शरीर नामकर्म, गति नामकर्म। इतने नामो का प्रयोजन क्या है? शरीर के साथ ये सारी वाते जुड़ी हुई हैं।

ग्रन्थियो के आधार पर जव इस कर्मशास्त्रीय वर्णन को समझने का प्रयत्न किया जाता है नो यह सचाई सामने आ जाती है कि ग्रन्थिया जो काम हमारे स्थूल शरीर मे कर रही है, वे सारे कार्य सूक्ष्म शरीर मे भी हो रहे है। जो कार्य सूक्ष्म शरीर मे हो रहे हैं, उनके ही सवादी कार्य स्थूल

शरीर में हो रहे हैं। सूक्ष्म शरीर नियंता है। हमारे श्वास और उच्छ्वास का नियत्रण सूक्ष्म शरीर करता है। प्रज्ञा का नियत्रण सूक्ष्म शरीर करता है। इन्द्रियो की शक्ति का तथा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का नियंत्रण सूक्ष्म शरीर करता है। दूसरो को चोट पहुचाने की क्षमता या दूसरो से चोट न खाने की क्षमता का नियत्रण भी सूक्ष्म शरीर से ही होता है। इस प्रकार नामकर्म के अनेक उपविभाग हैं। उनका अपना-अपना कार्य है। सब कार्य स्वत.सचालित हैं।

स्थूल शरीर मे जो क्रियाए हो रही है, विज्ञान उनको जानता है। किन्तु वह यह नही जानता कि वे क्यो हो रही हैं। वह यदि इस बात को भी समझ पाता कि स्थूल शरीर से आगे सूक्ष्म शरीर का भी अस्तित्व है, जिसके द्वारा सारी व्यवस्थाएं हो रही है, जो एक कट्रोल-रूम की तरह है, जो सारे नियन्त्रण कर रहा है, तो बहुत सारी समस्याए सुलझ जाती।

शरीर नामकर्म अनेक शरीरो का निर्माण करता है। एक है स्थूल शरीर। यह हाड़-मास और रक्तमय शरीर है। एक है तैजस शरीर। यह हमारा विद्युत् शरीर है। सारी व्यवस्था के सचालन मे इसका योग है। इसके आगे है कर्म शरीर। कर्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच सेतु का काम करता है तैजस शरीर।

मै वोल रहा हू। मेरे सामने माइक है। मेरे शब्द दूर तक सचरण कर रहे है। यह विद्युत् के सहारे हो रहा है। विद्युत् का काम सवहन करना है। तैजस शरीर यही काम करता है। कर्मशरीर के द्वारा जो कुछ स्थूल शरीर मे आ रहा है, वह सारा तैजस शरीर के द्वारा आ रहा है। यदि यह सेतु नही होता तो सूक्ष्म शरीर या कर्मशरीर कुछ नही कर पाता। कर्मशरीर कर्मशरीर बना रहता। स्थूल शरीर मे कुछ भी सक्रात नही होता। दोनो के वीच कोई संवन्ध-सूत्र नही रहता।

हम श्वास लेते है। श्वास के साथ प्राण का ग्रहण होता है। यदि तैजस शरीर न हो तो प्राण कर्मशरीर या सूक्ष्मशरीर तक नही पहुच पाता। इसी प्रकार तैजस शरीर के अभाव मे सूक्ष्म शरीर की प्राणशक्ति स्थूल शरीर तक नही पहुच पाएगी। हमारी भाषा की शक्ति, मन की शक्ति और स्थूल शरीर की शक्ति—ये सारी शक्तिया कर्मशरीर से स्थूल शरीर तक तैजस शरीर के माध्यम से पहुंचती हैं। एक होती है भाषा और एक होता है—भाषायोग। एक होता है मन और एक होता है—मनयोग। एक होता है शरीर और एक होता है—शरीरयोग। योग तव बनता है जव तैजस शरीर अपने सवहन का कार्य प्रारम्भ कर देता है। तैजस शरीर का योग मिलते ही भाषा वचनयोग वन जाती है, मन मनयोग वन जाता है, शरीर शरीरयोग वन जाता है। भाषा, मन और शरीर अचेतन हैं। वे जीव की शक्ति के साथ तैजस शरीर के माध्यम से जुडकर चेतन हो जाते है।

प्रवचन १४ | संकलिका

१. व्यग्रता : एकाग्रता ।
२. एक साथ अनेक काम : एक ही काम ।
३. हठधर्मिता : समन्वय ।
४ क्रोध, चिंता, निराशा, भय, चिडचिडापन ।
५. आकांक्षा—ऐसा होता तो अच्छा होता ।
६. प्रतीक्षा या धृति का विकास ।
७. उपचार चेतन मन के स्तर पर ।
८. उपचार : अचेतन मन के स्तर पर ।
९. विम्ब का परिष्कार हो, प्रतिविम्ब का नहीं ।
१०. श्वासप्रेक्षा—वर्तमान मे जीना ।
११ शरीरप्रेक्षा—वर्तमान मे जीना ।
जो वर्तमान मे जीता है, उसका तनाव अपने आप विसर्जित हो जाता है ।
१२ श्वासप्रेक्षा—समभाव मे जीना ।
१३. शरीरप्रेक्षा—समभाव मे जीना ।
जो समभाव मे जीता है, उसका तनाव अपने-आप विसर्जित हो जाता है ।
१४ तनाव के मुख्य कारण—अतीत मे जीना, भविष्य मे जीना ।
१५ उत्सुकता, व्यग्रता, आकाक्षा, आर्त्त-रौद्र-ध्यान ।
१६ शारीरिक-मानसिक तनाव क्रोध आदि आवेग पैदा करते है ।

मानसिक तनाव का विसर्जन

आज के युग की सबसे बडी समस्या है—तनाव। तनाव अर्थात् भारीपन। जब शरीर हलका होता है तब अनुभूति अच्छी होती है। जब शरीर भारी होता है तब अनुभूति अच्छी नही होती। जब दिमाग भारी होता है तब एक प्रकार की अनुभूति होती है और जब दिमाग हलका होता है तब दूसरे प्रकार की अनुभूति होती है।

हम भारमुक्त रहना चाहते हैं। हम लघुता या लाघव का अनुभव करना चाहते है। साधना की प्रारम्भिक निष्पत्ति है—लाघव, भारमुक्त अवस्था, तनावमुक्ति।

आज का आदमी तनाव का शिकार है। उसे शाति का अनुभव नही होता। वह निरन्तर बेचैन रहता है। जब वह काम करते-करते थक जाता है तब वह विश्राम करता है। थकान के बाद विश्राम, श्रम के बाद विश्राम। एक आदमी कधे पर भार ढो रहा है। चलते-चलते जब कधा दर्द करने लगता है तब वह भार को दूसरे कंधे पर रखकर आगे बढ जाता है। जो कधा थक गया था, उसे वह विश्राम देता है। चलते-चलते वह भार को नीचे रखकर पूरा विश्राम करता है। फिर वह भार को उठाकर चलता है और अपने गन्तव्य तक पहुंच जाता है। वहां भार को उतारकर ऐसा महसूस करता है कि मानो वह बिलकुल भारमुक्त हो गया हो।

हम शरीर के श्रम को भी जानते है और उस श्रम को मिटाने का उपाय—विश्राम को भी जानते है। दोनो से हम परिचित है। दोनो का हम निरन्तर उपयोग करते जा रहे हैं। श्रम के बाद विश्राम और विश्राम के बाद श्रम। यह चक्र चलता रहता है।

हम मन का श्रम तो करते हैं, बहुत करते है किन्तु उसको विश्राम देना नही जानते। हम चिन्तन करना जानते हैं किन्तु अचिंतन की बात नही जानते, चिन्तन से मुक्त होना नही जानते।

शरीर थक गया। हम लेट जाते हैं, विश्राम कर लेते हैं, थकावट मिट जाती है। शरीर मे स्फूर्ति आ जाती है। नीद से शरीर को आराम मिल जाता है किंतु दिमाग को आराम नही मिलता। नीद मे चिंतन चालू रहता है, सपने आते रहते है। उसकी शृंखला नही टूटती। मन उसमे उलझा रहता है। उसका तनाव नही टूटता। कुछ व्यक्ति पूरी नीद मे सपने ही देखते रहते है। सारी नीद सपना बन जाती है। जब वे उठते हैं तब यह शिकायत करते है कि

सात घटा तक सोते रहे, नीद लेते रहे, किन्तु दिमाग हलका नही हुआ। वह भारी ही वना रहा। नीद मे मन को विश्राम नहीं मिलता। हम मन को विश्राम देना जानते ही नही तव मन विश्रान्त कैसे हो ?

मन को विश्राम देना तभी सभव है जव हम वर्तमान मे रहना सीख जाए। मनुष्य अतीत या भविष्य मे अधिक रहता है, वर्तमान मे वहुत ही कम रहता है। वह स्मृतियो की उधेड़वुन मे या कल्पनाओ के ताने-वाने वुनने मे व्यस्त रहता है। वर्तमान मे रहने के लिए उसे वहुत अल्प समय मिलता है या समय मिलता ही नही।

मनुष्य सोचता है—यदि अतीत की स्मृतिया न की जाएं तो काम कैसे चल सकता है ? अतीत सुरक्षित कैसे रह सकता है ? यदि अतीत की स्मृति को छोड दे तो घर कैसे पहुचेंगे ? घर की स्मृति करेगे तभी घर पहुचेगे, अन्यथा नही। स्मृति के विना हमारी जीवन-यात्रा चल नही सकती।

यदि हम कल्पना को छोड़ दे, भविष्य की योजनाओ से छुटकारा पा ले, भविष्य की वात ही न सोचे तो कल रोटी कैसे बनेगी ? यदि हम भविष्य की कोई योजना ही न बनाएं तो कल कौन वाजार जाएगा ? कौन सामान लाएगा और कार्य कैसे सम्पन्न होगा ? ये प्रश्न उठते हैं। सामान्य व्यक्ति कह देता है कि अध्यात्मवादियो का यह कथन मानें—स्मृति को छोड़ दो, कल्पना को छोड दो तो जीवन चल नही सकता। स्मृति और कल्पना के बिना आदमी एक दिन भी नही जी सकता।

ऐसा सोचना ठीक है। मन का यह सदेह भी उचित है। किन्तु अध्यात्मवादियो के कथन को हम यथार्थ मे समझे।

अध्यात्मवादी यह कभी नहीं कहते कि स्मृति को सर्वथा छोड़ दे, स्मृति-शून्य हो जाए। वे यह नही कहते कि कल्पना को छोडकर अपने जीवन की गाडी रोक दे। उनके कथन का तात्पर्य है कि मनुष्य अनावश्यक स्मृतियो और कल्पनाओ के भार से मुक्त हो जाए। वह जितना समय उन स्मृतियो और कल्पनाओ मे विताता है, उसको कम कर दे। आवश्यक स्मृति और कल्पना के लिए जितना समय आवश्यक हो उतना लगाए, किन्तु अनावश्यक समय लगाने की मनोवृत्ति से छुटकारा पा ले।

हमारा पूरा समय स्मृतियो की उधेड-वुन मे और कल्पनाओ को सजोने मे वीत जाता है। सोते समय भी कल्पनाएं होती है और जागते समय भी कल्पनाएं होती है। ये स्वप्न क्या है ? जागते समय की कल्पनाए और जागते समय की स्मृतियां सोते समय स्वप्न वन जाते है। सोते-जागते स्मृतियो और कल्पनाओ का चक्र चलता रहता है। साधना के क्षेत्र में प्रवेश करने का अर्थ है—हम इन स्मृतियो और कल्पनाओ के चक्र को तोड़ दे। जीवन मे केवल वही वचे, जो अनिवार्य है। आवश्यक स्मृति और कल्पना का अपना

उपयोग है। अनावश्यक स्मृति और कल्पना का कोई उपयोग नही है। वे केवल तनाव का सृजन करती हैं, मन को भटका देती है।

अनावश्यक स्मृतियो के साथ कभी गुस्सा आता है, कभी लोभ जागता है, कभी मान उभरता है। सारे आवेग चक्कर काटने लग जाते हैं। खाना-पीना हराम हो जाता है। यह क्यो होता है ? यह इसलिए होता है कि मनुष्य वर्तमान मे नही रहता। उसने वर्तमान मे रहना नही सीखा। वर्तमान में रहने का मतलव है कि हम जो कार्य करते है, उसके अतिरिक्त हमे कोई भी स्मृति न सताए। खाने वैठे है तो मन खाने मे ही रहे। चलते है तो मन चलने मे ही रहे। इधर-उधर न भटके। न अतीत मे दोडे और न भविष्य मे छलांग लगाए। केवल वर्तमान की क्रिया के साथ सलग्न रहे।

सामने थाली परोसी हुई है। सारी सामग्री उपलब्ध है। व्यक्ति खा भी रहा है। फिर भी न जाने उसका मन कहा-कहा भटकता रहता है। मन दुनिया भर की थालियो पर घूमने लग जाता है। किसने-कब कैसे अपमान किया ? किसने कब क्यो गाली दी ? ये सब स्मृतिया उभर आती हैं। खाना तब केवल खाना नही रहता, और बहुत कुछ बन जाता है।

अध्यात्म कहता है—खाने के समय केवल खाएं। व्यर्थ ही संसार का चक्कर न लगाएं। इन स्मृतियो का प्रयोजन ही क्या है ? स्मृतियो या कल्पनाओ मे फंसना मूर्खता है।

नास्तिक भी यही वात कहते हैं—वर्तमान को छोडकर, भविष्य की कल्पना करना मूर्खता है। प्राप्त सुखो को छोडकर, अनागत सुखो को पाने की इच्छा करना अज्ञान है। वर्तमान मे जीने की उनकी वात अच्छी है।

वर्तमान मे जीने का अर्थ है—जिस समय जो काम करना है, उस समय वही काम करे, केवल वही काम करे। अतीत का द्वार भी बंद और भविष्य का द्वार भी वंद। दोनो द्वार बद कर आराम से वर्तमान मे रहे।

यदि हमे स्मृति करनी है या योजनाए वनानी है तो हम उसी उद्देश्य से वैठे और जो आवश्यक स्मृतिया हों, उन्हे करें, जो आवश्यक योजनाए हो, उन्हे वनाएं। इसमे कोई हानि नही है। किन्तु वैठे किसी उद्देश्य से और करे कुछ और ही, यह उचित नही है। इससे तनाव उत्पन्न होता है, खिचाव उत्पन्न होता है।

यह काल का द्वद्व है। वर्तमान काल यह कभी पसन्द नही करता कि उसके कार्य मे अतीत हस्तक्षेप करे या भविष्य हस्तक्षेप करे। वह अतीत और भविष्य को अपनी सीमा मे नही रखना चाहता। वह निर्द्वन्द्व अकेला ही रहना चाहता है। कोई भी व्यक्ति अपने कार्य मे हस्तक्षेप सहन नही करता तो फिर काल मे हम हस्तक्षेप क्यो करें ? हम वर्तमान को वर्तमान ही रहने दे, भविष्य को भविष्य ही रहने दे और अतीत को अतीत ही रहने दें। जब कभी

आवश्यकता महसूस हो तो स्मृति को स्थान दे और कल्पना को भी स्थान दे। जब आवश्यक न हो तो वर्तमान के काम मे स्मृति और कल्पना को हस्तक्षेप न करने दे।

वर्तमान मे जीने का अर्थ है— मन को विश्राम देना, भार से मुक्त होना, मानसिक तनाव से छुटकारा पाना।

श्वासप्रेक्षा करने का अर्थ है—वर्तमान मे जीने का अभ्यास करना। श्वास एक घटना है। यह वर्तमान की घटना है, अतीत और भविष्य की नही। जिस क्षण मे हम श्वास ले रहे हैं, उसी क्षण मे उसे देख रहे हैं। यह वर्तमान का क्षण है। यह है वर्तमान मे जीने का अभ्यास, वर्तमान में रहने का अभ्यास। जब हम वर्तमान मे हैं, उसे देख रहे है, उस समय न कोई राग है, न कोई द्वेष है। क्योकि जब स्मृति नही है तो राग भी नही है और द्वेष भी नही है। हम स्मृति और कल्पना से मुक्त तथा राग-द्वेष से मुक्त क्षण मे जी रहे है। यह है शुद्ध चेतना का क्षण। न प्रियता है और न अप्रियता। न कोई अतीत का अनुभव है और न कोई भविष्य की चिंता। केवल वर्तमान के क्षण का जीवन है।

श्वास को देखने का अर्थ है – समभाव मे जीना। श्वास को देखने का अर्थ है—वीतरागता के क्षण मे जीना, राग-द्वेष-मुक्त क्षण मे जीना। जो व्यक्ति श्वास को देखता है, उसका तनाव अपने-आप विसर्जित हो जाता है। जो वर्तमान मे जीता है, उसका तनाव-अपने-आप विसर्जित हो जाता है।

हम शरीर को देखते हैं। शरीर को देखने का यह अर्थ नही है कि हम केवल चमड़ी को देखें, अवयवो के आकार-प्रकार को देखे। यह तो हम अनेक बार देख चुके है। शरीर-प्रेक्षा मे हम ऐसा नही करते हैं। हम देखते हैं कि इस क्षण मे क्या घटित हो रहा है। सुख का सवेदन हो रहा है या दु.ख का सवेदन हो रहा है। प्रियता का सवेदन हो रहा है या अप्रियता का सवेदन हो रहा है। क्या-क्या रासायनिक परिवर्तन हो रहा है। इन सबको हम देखते हैं। हमारे शरीर में वर्तमान क्षण में जो घटित हो रहा है उसे हम देखते है, चाहे फिर वह भीतर घटित हो रहा है या बाहर घटित हो रहा है। शरीर में खुजली हो रही है, उसे भी देख रहे हैं, क्योकि वह भी एक घटना है, सचाई है। पसीना आ रहा है उसे देखते है, क्योकि यह भी सचाई है, घटना है। गर्मी का अनुभव हो रहा है, सर्दी का अनुभव हो रहा है, जो कुछ घटित हो रहा है, उसे हम तटस्थ भाव से देख रहे हैं, क्योकि यह वर्तमान की घटना है, यथार्थ है, सचाई है, कोरी स्मृति या कल्पना नही है। घटना को देखना, तटस्थभाव से देखना, समभाव से देखना, राग-द्वेषमुक्त भाव से देखना वर्तमान मे जीना है, वर्तमान का अनुभव करना है, वर्तमान का उपयोग करना है।

शरीर-प्रेक्षा से समभाव का विकास होता है। शरीरप्रेक्षा से राग-द्वेष मुक्त क्षण मे जीने का अभ्यास बढता है। इस अभ्यास से हम मानसिक तनाव से बच जाते है।

तनाव तीन प्रकार के हैं— शारीरिक तनाव, मानसिक तनाव और भावनात्मक तनाव। प्रत्येक व्यक्ति इन तीनो प्रकार के तनावों से घिरा हुआ है। शरीरिक तनाव से मुक्ति पाने के लिए कायोत्सर्ग का अभ्यास बहुत उपयोगी है। दो घण्टे तक सोने से जितना आराम नही मिलता, मासपेशियों को विश्राम नही मिलता, उतना विश्राम आधे घण्टे तक विधिवत् कायोत्सर्ग करने से उससे अधिक विश्राम मिलता हैं।

आज के वैज्ञानिक विद्युत् के झटके देकर बीमार व्यक्ति को नीद दिलाते हैं। पचीस मिनट की नीद से व्यक्ति को छह घण्टे की नीद जैसा विश्राम महसूस होता है। यदि आधा घटा कायोत्सर्ग किया जाए तो वह दो-तीन घंटे नीद की पूर्ति हो जाती है। इससे इतनी भारहीनता की अनुभूति होती है कि नीद से भी वह नही होती।

मानसिक तनाव मिटाने के लिए ध्यान बहुत उपयोगी है। किसी एक विषय पर हम ध्यान करें। वर्तमान मे रहे। मानसिक तनाव क्रमश. मिटता जाएगा। ध्यान करने वाले यह महसूस करते है कि जैसे-जैसे ध्यान की परिपक्वता आती जाती है, मानसिक तनाव विसर्जित होता है, हलकेपन का अनुभव होता जाता है।

मानसिक तनाव का मुख्य कारण है—अधिक सोचना। सोचने की भी एक बीमारी है। कुछ लोग इस बीमारी से इतने ग्रस्त है कि प्रयोजन हो या न हो, वे निरन्तर कुछ न कुछ सोचते ही रहते है। वे इसी मे अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं। प्रयोजनवश कोई प्रवृत्ति होती है, तो वह सार्थक मानी जा सकती है। प्रयोजन के लिए सोचना पडे तो वह समझ मे आ सकता है। किन्तु यह नही कि व्यक्ति सोचता ही रहे। अधिक सोचना तनाव पैदा करता है। मन भारी हो जाता है। ध्यान के द्वारा हम इस पर नियन्त्रण पा सकते हैं। हम उतना ही सोचे, जितना आवश्यक है। जरूरत पूरी होते ही सोचने का दरवाजा बन्द कर दें। चितन बन्द कर दे। मन शात हो जाएगा।

उज्जैन चातुर्मास की घटना है। आगम-कार्य प्रारम्भ करने की योजना बन चुकी थी। मैंने सोचा – बहुत विशाल कार्य है, समय-सापेक्ष और श्रम-साध्य। इस दीर्घकालीन कार्य के लिए कुछ विशेष तैयारी अपेक्षित है। हम निरन्तर एक ही कार्य नही कर सकते। अनेक कार्यो मे समय लगाना होता है। मैने एक व्यवस्था सोची। दिन के तीन भाग कर दिए। एक भाग ज्ञान की आराधना के लिए, एक भाग दर्शन की आराधना के लिए और एक भाग चारित्र की आराधना के लिए। मैंने तीन घण्टे का समय चारित्र की

आराधना के लिए निश्चित किया। चारित्र की आराधना अर्थात् अपनी साधना। चारित्र का अर्थ है—आनन्द। चारित्र और आनन्द दो नही, एक ही हैं। वह चारित्र नही हो सकता, जिसकी अनुभूति आनन्द नही है।

ज्ञानाराधना अर्थात् आगमो का पारायण। तीन घण्टा आगम कार्य मे लगाना। आगम के विषय मे जो कुछ करना है, वह इन तीन घटो के समय मे करना और शेष समय मे इसकी स्मृति से भी मुक्त हो जाना।

तीसरी है—सम्यग्दर्शन की आराधना। इस विभाग मे मुझे जो कुछ नया लिखना होता, कुछ भी निर्माण करना होता, वह मैं करता।

पूरे दिन को तीन भागो मे बाटने के साथ-साथ मैने इसके साथ एक महत्त्वपूर्ण बात और जोड दी कि जब एक कार्य का समय पूरा हो जाए, तब उसकी बिलकुल विस्मृति कर, दूसरे काम मे लग जाना। दूसरा काम करते समय पूर्व कार्य की स्मृति ही नही करना। जब मै एक कार्य पूरा कर उठता हूं तब सोचता हू—'यह काम पूरा हो गया।' अगले दिन क्या करना है, कोई चिंता नही, कोई स्मृति नही। मानो कि वह काम आज ही पूरा हो गया हो।

इस विधि से कार्य किया। कार्य चलता रहा। शक्ति लगी किन्तु उसकी क्षीणता का अनुभव नही हुआ। स्मृति से छुटकारा पा जाने से शक्ति का सवर्धन होना है। वहा कम शक्ति क्षीण होती है। शक्ति कम क्षीण हो और कार्य अधिक हो, यह है उसकी व्यवस्था और निष्पत्ति। कार्यान्तर मे प्रवेश करना—यह है विश्राम। इसी को मैने विश्राम माना। शक्ति की सुरक्षा हो गयी। एक सूत्र और काम मे लिया। एक कार्य करके उठे। मन मे यह सूत्र जम गया कि 'नि शेषम्'—कुछ भी शेष नही है। जो करना था, वह सारा सपन्न हो गया, अब कुछ भी बाकी नही है। यदि हम शेप की अनुभूति सजोए रहेगे तो तनाव उत्पन्न होगा। 'कल मुझे यह करना है, वह करना है'—यह शेष का चिन्तन तनाव पैदा करता है। जब यह सूत्र हाथ लग गया कि 'नि शेषम्'—कुछ भी बाकी नही। जो करना था सब संपन्न हो गया। यदि करेंगे तो कल से नया अध्याय प्रारम्भ करेगे। आज कुछ भी शेष नही है। यदि कल रहेगे तो आगे करेगे, यदि नही रहेगे तो करने की बात ही प्राप्त नही होगी। सारी यात्रा संपन्न। इस स्थिति में तनाव को अवकाश ही नही मिलता। मन भारमुक्त होता है। तनाव विसर्जित और मन शात। जब तक 'कल करेगे' की बात बनी रहती है तब तक 'यह करना', 'वह करना'—यह सूची इतनी लंबी हो जाती है कि उसका कही भी अन्त नही आता। वह आगे से आगे फैलती जाती है। इससे दिमाग भारी बना रहता है। वह कभी हलका नही हो पाता।

हम यह अनावश्यक भार क्यो ढोएं? हम सचाई को जानते है कि संसार मे किसी भी व्यक्ति का काम कभी पूरा नही हुआ। मरते समय रावण

ने कहा था—'मेरी मन की बाते मन मे रह गयी। मैं यह करना चाहता था, वह करना चाहता था। मन की मन में ही रह गयी।' रावण की ही यह बात नही है, सबकी यह बात है। जो अध्यात्म का जीवन नही जीता, वह मरते समय ऐसा ही सोचता है।

अध्यात्म का जीवन जीने वाले व्यक्ति समाधिपूर्ण मृत्यु का वरण करते है। वे यही सोचते हैं—'कुछ भी शेष नही रहा। जो करना था, वह सारा सपन्न हो गया। जीवन की यात्रा सुखपूर्वक संपन्न हो रही है, मरण भी समाधिपूर्ण हो रहा है, सुख से मर रहे है, पीछे कुछ भी शेष नही है।'

अध्यात्म का जीवन नही जीने वाले, सदा तनावपूर्ण स्थिति मे रहने वाले व्यक्ति मरते समय भी दु:ख से मरते है, अपने साथ दु:खो की गठरी ले जाते है और पीछे भी दु खो का अवार छोड जाते है।

अध्यात्म का जीवन जीने वाला व्यक्ति तनावमुक्त जीवन जीता है। वह सतोप के साथ मरता है और दूसरो के लिए भी आनन्द की अनुभूति छोड जाता है।

इस स्थिति में चिन्ता का भार ढोना कहा तक बुद्धिसगत हो सकता है। व्यक्ति क्यो चिन्ता का भार ढोता है और क्यो इस भार से भारी होता चला जाता है ? वह क्यो सोचता है कि शेप ही शेप है, नि शेप कुछ भी नही ?

हम साधना के द्वारा इस मानसिक स्थिति को बदले। ध्यान के द्वारा हम इस सचाई को उपलब्ध करे कि वर्तमान ही सब कुछ है। वर्तमान मे जो होता है, वह सपन्न हो जाता है, शेष कुछ भी नही रहता।

तीसरा है—भावात्मक तनाव। यह बहुत ही जटिल है। यह एक बहुत बड़ी समस्या है। आर्त्त और रौद्र ध्यान इसके मूल कारण है।

जो वस्तु प्राप्त नही है, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना, उसी प्रयत्न में लगे रहना, आर्त्त ध्यान है। प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिए मनोज्ञ एव मनोनुकूल पदार्थ की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील रहना और अमनोज्ञ, अप्रिय एवं मन के विपरीत वस्तु से छुटकारा पाने का प्रयत्न करना—भावनात्मक तनाव पैदा करता है। प्रिय वस्तु कैसे मिले और अप्रिय वस्तु कैसे छूटे—इस चिन्ता मे ही सारा समय बीतता जाता है, वर्षो के वर्ष बीत जाते हैं, सारे प्रयत्न उसी दिशा मे प्रवाहित होते है। प्रिय का वियोग न हो—यह बात भी सताती है और अप्रिय का सयोग न हो, यह बात भी सताती है। प्रिय का वियोग हो जाने पर उसे पुन प्राप्त करने की चिन्ता भी सताती है और अप्रिय का वियोग हो जाने पर उसके सयोग की चिन्ता भी सताती है। यह चिन्ता भावनात्मक तनाव बनाए रखती है। व्यक्ति कभी इससे मुक्त नही हो पाता।

सचाई यह है कि विश्व मे किसी भी व्यक्ति को प्रिय का संयोग निरतर नही मिलता और अप्रिय का सयोग भी निरतर नही बना रहता। कभी प्रिय का सयोग होता है और अप्रिय का वियोग और कभी अप्रिय का सयोग होता है और प्रिय का वियोग। यह चक्र चलता रहता है। ऐसा एक भी प्राणी नही मिलेगा, जिसके सदा प्रिय का सयोग ही रहे, वियोग हो ही नही और ऐसा व्यक्ति भी नही मिलेगा, जिसके सदा अप्रिय का सयोग ही रहे, वियोग हो ही नही। सयोग और वियोग का चक्र निरंतर गतिमान है। यह विश्व का नियम है। कोई भी इसका अपवाद नही है। विश्व मे ऐसा घटित होता है कि जिसे हम चाहते है, वह प्राप्त नही होता, जिसे हम चाहते है, वह चला जाता है और जिसे नही चाहते वह प्राप्त हो जाता है, जिसे हम नही चाहते, वह नही जाता।

जाने वाला चला जाता है। हम व्यर्थ ही दु:खी हो जाते है। किसी का लडका, किसी का पति, किसी का भाई, किसी की पत्नी, किसी की बहन, किसी की संपत्ति, किसी का वैभव, किसी का राज्य और किसी की सत्ता चली जाती है। चलने वाला चला जाता है। फिर सब व्यक्ति दु:खी हो जाते है।

सयोग दो तरफ का होता है। जो चला गया, वह भी एक सयोग है और जो पीछे बचा, वह भी एक सयोग है। जब जाने वाला चला ही गया तब हमे फिर यह भावना क्यो सताए कि पीछे रहने वाले व्यक्ति रोते ही रहे। यह भावना का आवेग आता है। यह आर्त्तध्यान है। भावनात्मक तनाव कभी समाप्त नही होता। वर्षों के वर्ष बीत जाते हैं। तनाव बना का बना रहता है। वह सतत शल्य की तरह चुभता रहता है।

जब तक आर्त्तध्यान से छुटकारा नही होता तब तक हम सुख की अनुभूति नही कर सकते, भारहीनता या लाघव की अनुभूति नही कर सकते।

रौद्रध्यान भी भावनात्मक तनाव का कारण बनता है। मन में सकल्प-विकल्प चलता रहता है। कभी हिसा का भाव पैदा होता है, कभी प्रतिशोध का भाव पैदा होता है। मूल घटना कुछ क्षणो की होती है, किन्तु प्रतिशोध की भावना वर्षो तक चलती रहती है। मन मे निरतर बदला लेने की भावना बनी रहती है। इसी मे सारी शक्ति का व्यय होता है। यही तनाव का कारण है।

लोग पहले भी व्यापार करते थे और आज भी करते है। पहले के व्यापार में इतना तनाव नही रहता था, जितना आज रहता है। आज का व्यापारी जब प्रात काल उठता है तब से ही उसका मन तनाव से भारी रहता है। मानो कि वह तनाव को निमंत्रण देकर ही उठा हो और जब वह रात

में सोता है तब भी भारी मन लेकर सोता है। तनाव को सिरहाने देकर ही सोता है। उसे सारे दिन झूठ को छिपाने के लिए योजना बनानी पड़ती है। किस झूठ को कैसे छुपाया जाए, यह उसे पहले से ही सोचना पडता है। यह तनाव पैदा करता है।

झूठ बोलने वाला झूठ बोलने से पूर्व भी चिंता करता है, झूठ बोलते समय भी चिन्ता करता है और झूठ बोलने के बाद भी चिन्ता करता है। पहले इसलिए चिन्ता करता है कि मैं ऐसा झूठ बोलू, जो दूसरे के सामने प्रकट न हो। वह चिंता का जाल बिछाता है। झूठ भी ऐसा बोलू जो दूसरों को सच्चा लगे। जब वह झूठ बोलता है तब यह चिन्ता, यह भय बना रहता है कि कही मुख-मुद्रा से वह प्रकट न हो जाए। सामने वाला भाप न ले कि यह झूठ है, मिथ्या है। इसलिए वह कृत्रिम स्वाभाविकता बनाए रखने का प्रयत्न करता है। झूठ बोलने के बाद उसे यह चिन्ता सताती है कि झूठ बोल तो गया, किन्तु कही उसका भेद खुल न जाए, कोई जान न ले।

बोलने से पहले चिन्ता, बोलते समय चिन्ता और बोलने के बाद चिन्ता। यह क्रम टूटता ही नही। ऐसी स्थिति मे आज का व्यापारी तनाव-ग्रस्त न हो, यह कैसे संभव हो सकता है? यह प्रबल रौद्र ध्यान की स्थिति है। रौद्र ध्यान से उत्पन्न भावनात्मक तनाव चार स्थितियो मे उत्पन्न होता है। पहली स्थिति है—हिसानुबधी—हिसा का अनुबन्ध, दूसरी है—मृषानुबंधी—झूठ का अनुबध, तीसरा है—स्तेयानुबंधी—चोरी का अनुबध और चौथी स्थिति है—सरक्षणानुबधी—परिग्रह के सरक्षण का अनुबध। ये सारी बाते तनाव उत्पन्न करती हैं।

भावनात्मक तनाव पैदा करने के लिए आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान मूल कारण हैं। धर्मध्यान के अभ्यास से आर्त्त-रौद्र ध्यान छूट जाता है। उससे उत्पन्न होने वाला तनाव घट जाता है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान—ये अपने-आप मे जीने के साधन हैं, अपने भाव मे रहने के उपाय हैं।

हम तेजोलेश्या का ध्यान करते है। हम पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या का ध्यान करते हैं। तेजोलेश्या का ध्यान इसलिए करते हैं कि हम जीवन मे प्रकाश प्राप्त कर सकें, आनन्द की अनुभूति कर सकें। हम पद्मलेश्या का ध्यान इसलिए करते है कि चित्त को निर्मल और पवित्र बना सकें। हम शुक्ललेश्या का ध्यान इसलिए करते है कि कषायो को शात कर सके, शाति का अनुभव कर सके।

वस्तुत ध्यान का अभिक्रम शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तनावो से मुक्ति देने वाला है, इन तनावो से उत्पन्न समस्याओ को सुलझाने वाला है। यदि यह सचाई समझ मे आ जाए तो इस अभ्यास मे और गहरी निष्ठा उत्पन्न हो सकेगी।

प्रवचन १५ | संकलिका

१. तनाव-मुक्ति शक्ति-जागरण का महत्त्वपूर्ण सूत्र ।

२ तनाव आवेग पैदा करते हैं।
कषाय से तनाव, तनाव से कषाय, उससे असन्तुलन ।

३ सुख क्या ? दु.ख क्या ?
- जिसकी परिणति सुखद, वह है सुख ।
- जिसकी परिणति दु·खद, वह है दुःख ।

४ तनाव और आवेग एक हैं, दो नही ।

५. जहा तनाव है वहा आवेग है । जहा आवेग है वहा तनाव है ।

६ दु खो का मूल है तनाव ।

७ रोग के मुख्य तीन कारण—
- शरीर
- मन
- भोजन

८ पदार्थ-मुक्ति और पदार्थ-मुक्ति के परिणाम ।

९ मानसिक सतुलन का अर्थ है—न राग और न द्वेष, केवल समभाव ।

१०. आधि और व्याधि का कारण है—मनुष्य की मूर्खता ।

११ केवल जानना नही, साक्षात् करना ।

मानसिक संतुलन

'आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खं'—दु ख मुक्ति के लिए विद्या और आचार का अनुशीलन करे—यह साधना का मूल सूत्र है।

मनुष्य का सारा प्रयत्न दु खमुक्ति के लिए होता है। उसकी सारी कल्पनाए, सारी योजनाएं, सारी चेष्टाएं केवल दु ख से छुटकारा पाने के लिए होती हैं। अध्यात्म साधना का भी एकमात्र उद्देश्य यही है कि दु ख से पूरा छुटकारा मिल जाए। यदि दु ख मुक्ति नही होती है तो अध्यात्म की साधना व्यर्थ है।

एक प्रश्न होता है कि यदि दु ख से मुक्त होना है तो फिर हम कुछ काम करें। आखे मूदकर ध्यान में क्यो वैठें ? निकम्मे क्यो वैठे ? निकम्मे वैठने से पदार्थों की प्राप्ति नही होती और पदार्थो के अभाव मे दु ख नही मिट सकता। ध्यान मे वैठे रहना, इस दृष्टि से निकम्मापन है। इससे दु ख-मुक्ति कैसे हो सकती है ?

सभी लोग यह मानते हैं कि उत्पादक श्रम के विना दु.ख मिट नही सकता। भूख लगती है। वह रोटी के खाने से मिट जाती है। सर्दी लगती है। कपडे से वह मिट जाती है। भूख दु ख है, सर्दी दु ख है। इसको मिटाने का उपाय है— रोटी और कपडा। यह एक वास्तविकता है। साधना में वैठने वाले इसको नकार कर काल्पनिक जगत् मे विहरण करते हैं। क्या यह अफल-प्रयत्न नही है ? क्या अध्यात्म कोरी कल्पना नही है ?

हम यथार्थ का जीवन जीए, वास्तविकता से आख मिचौनी न करे, वास्तविकता को भोगे। यह आज के युग की सचाई है। इस वास्तविकता को समझकर हम दु खो को कम करने का प्रयत्न करे, कष्टो को मिटाए। अन्यथा हम कल्पनाओ मे वहते रहेगे, दु ख वढेगा, मिटेगा नही। यह लोक-प्रवाद है।

धार्मिक लोग, अध्यात्म की साधना करने वाले साधक यह घोपणा करते हैं – 'धर्म करो, सारे दु.ख मिट जाएगे। अध्यात्म-साधना करो, दु ख-मुक्ति प्राप्त कर लोगे।' यह दु खो को मिटाने की घोपणा है, पर धर्म या अध्यात्म के पास सुख देने के लिए एक इच जमीन नही है, एक गाव पर आधिपत्य नही है, कोई पदार्थ नही है, फिर वह सुख कैसे देगा ? दु ख से छुटकारा कैसे करा पाएगा ? न भूमि है, न पदार्थ है, न सत्ता है और न अधिकार है। फिर भी इतनी वडी घोपणा करना 'सव्वदुक्खविमोक्खण—

सभी दु.खो से छुटकारा'—क्या यह अतिकल्पना नही है ?

यह प्रश्न वे व्यक्ति उठाते हैं, जो यह मानते है कि सुख देने वाले है पदार्थ। अध्यात्म के लोगो ने कहा— पदार्थ सुख देते हैं, यह बात समझ से परे है। यह बात मानी जा सकती है कि पदार्थ बीमारी का इलाज करने वाले हैं, किन्तु सुख देने वाले नही। रोटी खाने से सुख कहां मिलता है ? पेट मे भूख की पीडा पैदा होती है और वह रोटी खाते ही समाप्त हो जाती है, कुछ समय के लिए शात हो जाती है। इसे सुख मान लिया गया। समय बीतते ही फिर भूख लगती है और पीडा प्रारम्भ हो जाती है। फिर रोटी खाते है और पीडा शात हो जाती है। यह क्रम जीवनपर्यन्त चलता है। पेट की आग जलती है, रोटी का छीटा दिया, वह बुझ जाती है। फिर भभक उठती है। फिर शात होती है। यह कैसा सुख ? बीमारी हुई। उसकी चिकित्सा की। बीमारी दब गयी। यह कैसा सुख ?

मन अशात होता है। आदमी सोचता है—शराब पीने से मन शात हो जाएगा। शराब पीने वाले इसलिए शराब पीते है कि वे अपने आपको भूल जाए, मन की अशाति को भूल जाएं, मादकता आ जाए, मस्ती मे झूम उठे, आनन्द मे चले जाए। शराब पीते हैं। मस्ती आती है। परन्तु यह कौन-सा सुख है ? यह कैसा सुख है ? शराब पीने से विष शरीर मे जाता है। स्नायु-मडल प्रभावित होता है। वह सताता रहता है। वह मिटता नही, शराब पीने से वह उपशात होता है। जब तक मादकता रहती है तब तक पीड़ा उपशांत रहती है। ज्यो ज्यो नशा उतरता है, पीडा उभर आती है। इसे हम सुख कैसे माने ?

अध्यात्म के साधको ने सुख की पहचान की एक कसौटी दी है। सुख वह है, जो परिणामभद्र हो—जिसका परिणाम, जिसकी परिणति सुखद हो। परिणाम मे जो दु'ख पैदा न करे, वही वास्तव मे सुख है। वर्तमान मे जो सुखद अनुभूति का कारण बनता है किन्तु परिणाम मे वह दु ख देता है तो समझ लेना चाहिए कि वह सुख नही है। सुख वही हो सकता है, जो वर्तमान मे भी, प्रयोग काल मे भी सुख देता हो और परिणाम-काल मे भी सुख देने वाला हो। पारिभाषिक शब्दो में यह कहा जा सकता है कि जो आपातभद्र और परिणामभद्र हो, वही सुख है।

युद्ध जीतने वाले सुख का अनुभव करते हैं। किन्तु एक युद्ध कितने सकटो को जन्म देता है, यदि इसका विश्लेषण किया जाए तो ज्ञात होगा कि युद्ध दु.खो का ही सर्जक है, सुखो का नही। विजेता भी दु ख भोगता है और पराजित भी दु ख भोगता है, वर्षो तक उन दु.खो से छुटकारा नही मिलता। विजयोल्लास एक पागलपन है, मादकता है, उन्माद है, यह सुख नही हो सकता। दोनो ओर ध्वंस ही ध्वंस है। कोई सुख नही, कोई प्रसन्नता नही।

वह सुख, सुख नही होता, जिसका परिणाम दुःखमय हो, जो दुःखो की लवी श्रृंखला को उत्पन्न करे। वही सुख, सुख होता, जिसकी निष्पत्ति सुखद हो। यह कसौटी है। इसके आधार पर हम समझे कि सुख क्या है और दु.ख क्या है ? अध्यात्म-साधना सुख देने वाली है या दुःख देने वाली ? अध्यात्म साधना की निष्पत्ति सुखद है या दु खद ?

तनाव दुःख पैदा करता है। तनाव आवेग पैदा करता है। अधिकांश तनाव आवेग से उत्पन्न होते है। तनाव में होने का अर्थ है आवेग मे होना और आवेग मे होने का अर्थ है तनाव मे होना। तनाव से शक्तियां क्षीण होती हैं। तनाव की स्थिति मे व्यक्ति गालियां देने लग जाता है, चिड़चिड़ा हो जाता है। तनाव मे क्या-क्या नही होता ? जो नही होने का होता है, तनाव मे वह घटित हो जाता है।

मानसिक तनाव शारीरिक संतुलन को विगाड़ देता है। सव कुछ असंतुलित हो जाता है। तनाव से केवल आवेग ही पैदा नही होते, वीमारिया भी पैदा हो जाती है। शरीर मे तनाव होता है तव रक्त की गति मे तीव्रता आ जाती है, हृदय की धड़कन वढ़ जाती है, ग्रंथियो का स्राव अधिक होने लगता है और वह अनेक विसगतियां उत्पन्न करता है। शारीरिक तनाव से एड्रीनल ग्रथि सवसे अधिक प्रभावित होती है और वह अतिरिक्त स्राव को छोडती है। शरीर मे अनेक विकृतिया पैदा हो जाती हैं।

तनाव सारे दुःखो का मूल है। तनाव से मुक्त होने का अर्थ है कपायो से मुक्त होना--क्रोध से मुक्त होना, मन से मुक्त होना, माया से मुक्त होना और लोभ से मुक्त होना। तनाव कषायो को उत्पन्न करता है। उत्तेजित कपाय तनाव को भी उत्तेजित करते हैं। कषाय से तनाव, तनाव से कपाय—यह चक्र वन जाता है। इस चक्र के वीच मे रहता है आदमी। वह सारे दु खो को झेलता जाता है। सारी आधियां और व्याधिया उसे झकझोरती है। वह वेचारा सहता है। दु ख भोगता है। पीडा अनुभव करता है।

वहुत सारी व्याधियां तनाव के कारण उत्पन्न होती हैं। प्राचीन ग्रथो में वीमारी के दो प्रकार वतलाए हैं—आगंतुक वीमारी और कर्मज वीमारी। कोई चोट लगी। व्यक्ति वीमार हो गया। यह आगतुक वीमारी है, कष्ट है। पूर्व सचित संस्कारो से उत्पन्न होने वाली वीमारी कर्मज है।

आज के शरीर शास्त्रियो ने एक वीमारी का उल्लेख किया है। वह है 'साइकोसोमेटिक'। प्राचीन ग्रन्थो मे मानसिक वीमारी को 'आधि' और शारीरिक वीमारी को 'व्याधि' कहा गया है। आज की भाषा मे दोनो का सयुक्त नाम है—'साइकोसोमेटिक' अर्थात् 'मनोदैहिक' वीमारी—शरीर की वीमारी और मन की वीमारी।

मन तनाव से भरा है, अशात है तो अनेक वीमारिया उत्पन्न होंगी।

इन बीमारियो का मूल कारण बनता है मन और आदमी दोष मढ़ता है शरीर पर—शरीर कमजोर है, शरीर के परमाणु रोगग्रस्त हैं, शरीर के तन्तु ढीले हैं। बीमारी मन पैदा कर रहा है और दोषी बन रहा है शरीर। यह कैसा न्याय!

मनोदैहिक बीमारिया बहुत ही जटिल होती हैं। आज का मानव इनसे ग्रस्त है और उसके कष्ट बढ़ते ही चले जाते है।

योगमनस्कार ने एक महत्त्व की सूचना दी है। उन्होने लिखा है—'व्याधि और आधि—ये दोनो प्रकार के रोग मनुष्य की मूर्खता के कारण उत्पन्न होते हैं।' यह बहुत बडा तथ्य है कि मनुष्य के अज्ञान के कारण शारीरिक रोग—व्याधिया होती हैं और मानसिक रोग—आधिया होती हैं। अपने ही अज्ञान के कारण हम इन रोगो को उत्पन्न कर रहे है।

रोगो का एक निमित्त कारण भोजन भी है। भोजन के विषय मे भी हमारा अज्ञान है। वह मिटता है तो बहुत सारे रोग उत्पन्न ही नही होते और जो उत्पन्न हो चुके हैं, वे भी धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं।

भोजन से दुःख कम होता है तो दु ख बढता भी है। जितने पोषक द्रव्य है, उनमे पोषक तत्त्वो के साथ-साथ अपोषक तत्त्व भी हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने बहुत स्पष्टता से लिखा है कि विश्व मे ऐसा एक भी पदार्थ नही है, जो केवल अमृत या केवल विष हो। सर्वथा निर्दोष या सदोष पदार्थ एक भी नही है। सब कुछ मात्रा-भेद से होता है। मात्रा से ही पदार्थ निर्दोष होता है और मात्रा से ही पदार्थ सदोष होता है। मात्रा के भेद से सखिया भी अमृत है और अमृत भी सखिया है, विष है। सब कुछ मात्रा-भेद से होता है। कोई भी पदार्थ ऐसा नही है, जिसे अमृत कहा जा सके या विष कहा जा सके। अमृत के साथ विष और विष के साथ अमृत जुडा हुआ है।

रोग-निवारण के लिए दवाइया ली जाती हैं। क्या इनके साथ शरीर मे जहर नही जाता? बहुत जहर जाता है। दवाई से लाभ है तो हानि भी है। ऐलोपैथिक दवाई का सेवन करने वाले इसे बहुत अच्छी तरह से जानते हैं। लाभ और हानि—दोनो साथ-साथ चलते हैं। अमृत और विष—दोनो साथ-साथ चलते हैं। मात्रा-भेद से हम किसी को लाभकारक मान लेते हैं और किसी को हानिकारक मान लेते है। किसी को हम सुखद मान लेते है और किसी को दु.खद मान लेते है। हम सुख के नाम पर, प्रियता के नाम पर सारे दु.ख झेल रहे हैं। दु ख बढता ही चला जा रहा है। पदार्थ आता है। उसका उपभोग कर हम सुख की अनुभूति करते हैं किन्तु जब परिणाम आता है तब दुःख का अनुभव होता है।

पदार्थजन्य सुख की परिणति दुःखद ही होती है। जब तक यह स्पष्ट बोध नही होगा तब तक हम उन सब पदार्थो को सुखद मानते रहेंगे, जो हमे

अनन्त दु.ख मे डालते है और जो हमे अनन्त दु ख मे नही डालते, उनको हम दु.खद मानते रहेगे। हम पदार्थ के घेरे को तोड़कर देख ही नही पाते कि पदार्थ के विना भी कोई सुख हो सकता है। पदार्थ-मुक्ति से भी सुख प्राप्त होता है—यह ज्ञान ही नही होता।

वस्तुतः पदार्थ-मुक्ति के विना वास्तविक मुक्ति घटित ही नही होती। किन्तु हमने उलटा मान लिया है कि पदार्थ का बधन हुए बिना दु ख-मुक्ति हो ही नही सकती। एक ओर भौतिक जगत् इस बात की उद्घोषणा करता है—पदार्थ के विकास के विना, पदार्थ को बढ़ाए बिना, दु.खो से मुक्ति नही हो सकती। दूसरी ओर अध्यात्म जगत् है, जो इस बात की उद्घोषणा करता है—पदार्थों से छुटकारा पाए बिना दु खो से छुटकारा नही मिल सकता। एक ओर कांचन-भुक्ति का स्वर है तो दूसरी ओर काचन-मुक्ति का स्वर है। एक ओर पदार्थ-सग्रह की घोषणा है तो दूसरी ओर पदार्थ-मुक्ति की घोपणा है। ये दोनो वाते चल रही है। जव तक मनुष्य स्नायविक तनाव का शिकार वना रहता है तब तक इस सचाई को समझ नही सकता। जब वह ध्यान का अभ्यास करता है, स्नायविक तनाव धीरे-धीरे कम होने लगता है, ग्रथियो का स्राव सतुलित होता है, मस्तिष्क सतुलित होता है, तव उसे आनन्द का अनुभव होता है। उसकी भ्राति टूटने लगती है। पदार्थ-भुक्ति का घेरा टूटता है और पदार्थ-मुक्ति की भावना का उदय होता है।

समस्या यह है कि सुख का झरना हमारे भीतर बह रहा है और हम उसकी खोज वाहर में कर रहे है।

एक बुढिया सडक पर सुई खोज रही थी। कुछ बच्चे आए, पूछा—'दादी ! क्या खोज रही हो ?' बुढ़िया ने कहा—'सुई।' वच्चो ने पूछा—'दादी ! सुई सडक पर गुम हुई थी ?' वुढ़िया ने कहा—'नही, वह कमरे मे गुम हुई थी।' वच्चे वोले—'दादी ! यह क्या ? सुई कमरे मे गिरी और उसे तुम खोज रही हो सडक पर। वह कैसे मिलेगी ?' बुढिया वोली—'वेटा, ठीक कहते हो, पर करूं क्या ? कमरे मे अंधेरा है। प्रकाश केवल सडक पर ही है। प्रकाश मे ही तो ढूढ़ रही हू ?'

आचार्य भिक्षु की इसी तथ्य को प्रकट करने वाली कथा विश्रुत है। एक आख का रोगी वैद्य के पास गया। वैद्य ने आख मे आजने के लिए दवा दी। वह घर पर आया और दवा पीठ पर मलने लगा। सयोगवश वैद्य वहा आ पहुचा। उसने देखा, दवा पीठ पर लगाई जा रही है। वैद्य ने कहा—'यह क्या, आंख की दवा पीठ पर लगा रहे हो ?' रोगी ने कहा—वैद्यजी ! और क्या करू ? दवा को आख मे लगाते ही आख जलने लगती है। इतनी जलन कि मै उसे सहन ही नही कर सकता। पीठ पर कोई जलन नही होती।'

दो पशु पास-पास खडे थे। एक था ऊट और एक था बैल। ऊट

बीमार था। उसे दागना था। दागने वाला आया और उसने ऊट के बदले बैल को दाग दिया। पूछने पर बोला—ऊट तक हाथ नही पहुंच रहा था, इसलिए बैल को ही दाग दिया।' बीमार था ऊट और दागा गया बैल। परिणाम क्या हो सकता है ?

हमारे जीवन मे ऐसे विरोधाभास कितने चलते है, कोई लेखा-जोखा नही है। हम दूसरो के विरोधाभास पर हसते हैं, उनकी मूर्खता का उपहास करते हैं, किन्तु हम स्वयं अपने जीवन मे न जाने कितने विरोधाभासो को पालते चले जा रहे हैं। सुख का निर्झर भीतर है और ख़ोज रहे है बाहर मे। क्या यह विरोधाभास नही है ?

साधना इस भ्राति को चूर-चूर कर देती है। वह सुख को खोजने के लिए भीतर मे प्रवेश करने की ओर प्रेरित करती है और आवश्यकता की पूर्ति के लिए पदार्थ को अपेक्षित बताती है। पदार्थ सुख नही देते, वे आवश्यकता की पूर्तिमात्र करते हैं।

दो खोजे है। एक है आवश्यकता-पूर्ति की खोज और दूसरी है सुख की खोज। आवश्यकता की पूर्ति पदार्थ से ही सभव है, अध्यात्म से वह नही हो सकती। सुख की उपलब्धि अध्यात्म से ही सभव है, पदार्थ से नही हो सकती।

खेत-खलिहानो मे या बाजार मे जाने पर आवश्यकता की पूर्ति होती है। पदार्थ के किसी भी क्षेत्र मे जाने पर, पदार्थ की सीमा मे जाने पर यह सच है कि आवश्यकता की पूर्ति होगी। पदार्थ का समूचा क्षेत्र आवश्यकता-पूर्ति का क्षेत्र है

अध्यात्म का क्षेत्र इससे बिलकुल उलटा है। वह है सुख-पूर्ति का क्षेत्र।

मनुष्य इस विषय मे भ्रात है। जो आवश्यकता-पूर्ति का क्षेत्र है, उसे उसने सब कुछ देने वाला मान लिया, दु:ख से छुटकारा देने वाला मान लिया। अगर इससे सुख की पूर्ति होती तो मै समझता हू कि आज के युग का व्यक्ति सबसे अधिक सुखी होता। आज विज्ञान ने जितने पदार्थ उपलब्ध कराए है, वे अनगिन है। उनका विकास चरम सीमा को पार कर गया है। फिर भी आदमी दु:खी है, उसे सुख नही मिला है। हम इस सचाई को स्वीकार करे कि जिन मनुष्यो को अधिक पदार्थ उपलब्ध हैं, वे ही अधिक पागल होते हैं। वे ही अधिक आत्महत्या करने वाले होते है, वे ही अधिक अनिद्रा के शिकार होते हैं। वे ही अधिक-से-अधिक नीद की गोलिया खा-खाकर नीद लेने का प्रयत्न करते हैं। उन लोगो में ही अपराध की वृत्ति अधिक पनपी है। इन सब रोगो का एक ही कारण है—पदार्थो की अधिक उपलब्धि। हमे इस पर विचार करना है। यदि पदार्थ से ही सुख होता तो ये न्यूनताएं कभी मनुष्य

में नही पनपती। पदार्थ की दृष्टि से जो सपन्न राष्ट्र हैं, वे यह घोषणा करते—आओ, हम तुम्हे सभी दुःखों से छुटकारा दिला देगे। किंतु आज वे राष्ट्र दिग्भ्रांत हो रहे हैं, भटक रहे है। वे स्वयं शाति की खोज मे हैं, सुख की खोज मे है।

अध्यात्म की साधना आवश्यकता-पूर्ति के लिए नही है। शरीर है तो उसकी कुछ मांगे भी है। परिवार है तो उसके प्रति कुछ दायित्व भी है। आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए कमाना भी आवश्यक होता है। एक आध्यात्मिक व्यक्ति इस तथ्य को कभी नही नकारता। किन्तु वह उसे मात्र आवश्यकता पूर्ति का साधन मानता है, सुख प्राप्ति का नही। उसकी दृष्टि बदल जाती है, मानदड के आयाम बदल जाते हैं।

साधक कार्यक्षेत्र मे रहता है। वह कर्म करता है, आजीविका से साधन जुटाता है, किन्तु कर्म से जो दु.ख उत्पन्न होता था, उस दु ख की भावना से बच जाता है। कर्म के साथ जो दोष आते थे, वह उनसे बच जाता है। क्रिया से जो प्रतिक्रिया होती थी, वह उससे बच जाता है। उसकी यह भ्रांति टूट जाती है कि पदार्थ से सुख होता है। दु.ख का मार्ग भिन्न है और सुख का मार्ग भिन्न है—यह स्पष्ट बोध हो जाता है। सुख का मार्ग भिन्न है और आवश्यकता-पूर्ति का मार्ग भिन्न है—यह समझ मे आ जाता है। इस बोध से मानसिक सतुलन प्राप्त होता है। आज के युग की बहुत बडी समस्या है मानसिक असतुलन। मन कभी प्रियता से लबालब भर जाता है तो कभी अप्रियता से भर जाता है। कभी वह विश्वास से पूर्ण होता है तो कभी अविश्वास की सीमा लांघ जाता है।

अध्यात्म-साधना के द्वारा हम मानसिक सतुलन को प्राप्त कर सकते है। मानसिक संतुलन का अर्थ है—न राग न द्वेष। केवल समभाव।

प्रेक्षा-ध्यान समभाव की वृद्धि का प्रतीक है। हम शरीर की प्रेक्षा करते हैं। प्रिय सवेदनो को देखते हैं और अप्रिय संवेदनों को भी देखते है। प्रिय सवेदनो के प्रति राग न हो और अप्रिय संवेदनो के प्रति द्वेष न हो। दोनो के प्रति समता, समभाव बना रहे। हम केवल द्रष्टा बने रहे, देखने वाले बने रहे।

सुख की खोज का प्रयोग इतना लाभदायी है कि वह हमारे दैनिक जीवन मे कोई बाधा नही डालता। वह आवश्यकता-पूर्ति के साथ आने वाले विष को धो डालता है, जीवन को पवित्र बनाता है। जिस व्यक्ति मे प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास पक चुका है वह कभी किसी को धोखा नही दे सकता, किसी के साथ शत्रुता नही रख सकता। क्योंकि उसने इन तथ्यों का साक्षात् अनुभव किया है, केवल जाना ही नही है। केवल जानना अधूरी बात होती है। साक्षात् अनुभव की बात प्रधान होती है। वही रूपान्तरण मे सहायक होती है।

प्रवचन १६ | संकलिका

१. अध्यात्म का अर्थ है—आत्मा के भीतर।

२. अध्यात्म के तीन रूप—वहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा

३. मनोविज्ञान की भाषा मे तीन रूप
   चेतन मन, अर्धचेतन मन, अवचेतन मन।

४ धर्म की सवसे वडी उपलब्धि—अध्यात्म की यात्रा।

५ सव धर्मों का मूल है—अभय
   रूपान्तरण का उपाय—

० शरीरशास्त्रीय भाषा—अर्धचेतन मन को सक्रिय करना।

० आध्यात्मिक भाषा—अन्तरात्मा को सक्रिय करना।

६ उपदेश की भी सीमा।

७ उपाय की भी सीमा।

अध्यात्म की यात्रा

अध्यात्म की यात्रा भीतर की यात्रा है। अध्यात्म मे दो शब्द है—अधि+आत्म। 'अधि' का अर्थ है—भीतर। अध्यात्म का अर्थ है—आत्मा के भीतर। आत्मा के वाहर-वाहर हम यात्रा कर रहे है। अतीत से करते रहे हैं। वाहर ही वाहर, बाहर ही वाहर। कभी भीतर जाने का अवकाश ही नही मिला। हमे सव कुछ वही अच्छा लगता है जो बाहर है। हम मानते है कि दुनिया मे जो कुछ सार है वह बाहर ही है, भीतर कुछ भी नही। वाहर सार है और भीतर वह है जो सार को भोगता है। सार को लेने वाला, ग्रहण करने वाला भीतर है, परन्तु भीतर मे कोई सार नही है। यदि भीतर मे सार होता तो वाहर से सार लेने की आवश्यकता क्यो होती ? भीतर मे सार नही है, असार है, इसीलिए हम वाहर से सार लेकर भीतर भेजते हैं। यही हमारा अनुभव है और इसी अनुभव के कारण हम भीतर मे असार मानते है और वाहर मे सार मानते हैं। हमने खोज शुरू की कि साक्षात् हो सके। वाहर के कण-कण मे सार को खोजा, खोजते रहे है। आज भी खोजते है। विटामिन्स मे सार है, प्रोटीन्स मे सार है, सिनेमाघर और दुकान मे सार है। खोज का निष्कर्ष निकाला—सार वाहर है, भीतर नही।

हमने जव से भीतर की यात्रा शुरू की, अध्यात्म की यात्रा शुरू की, अपने भीतर चलना प्रारम्भ किया, भीतर देखना शुरू किया तो सारी मान्यता वदल गयी। आज तक का अनुभव परिवर्तित हो गया। 'वाहर मे सार है'—यह सर्वथा मिथ्या लगने लगा। 'भीतर मे सार है'—यह सर्वथा सत्य प्रतीत हुआ। अनुभव की चिनगारिया उछली, स्फुलिंग विखरने लगे तव इस सत्य का आलोक उपलब्ध हुआ—जो कुछ सार है वह भीतर है, वाहर निस्सार ही निस्सार है। भीतर सार का समुद्र लहरा रहा है और वाहर सार की दो-चार वूदे विखरी-सी लगती हैं। कहां भीतर में विद्यमान सार का अतुल भडार और कहा वाहर मे पडा निस्सार का अवार ? दोनो की कोई तुलना नही हो सकती। जो सार वनता है, सार की अनुभूति कराता है, जो सार का मूल्य देता है, वह भीतर है। अगर भीतर वाला सो जाए तो सारा सार असार हो जाए, सार वनाने वाला, सार का मूल्याकन करने वाला, सार को स्थान देने वाला जो है, वह परमात्मा, वह देवता भीतर वैठा है, वाहर नही है।

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो'—यह उद्घोष इस वात का सूचक है कि आत्मा मे वहुत सार है, उसे देखो। और किसी माध्यम से नहीं, केवल

आत्मा के माध्यम से देखो। प्रश्न हो सकता है—इस घोष मे दो आत्माए कहां से आ गयी। एक देखने वाली द्रष्टा आत्मा और एक दृश्य बनने वाली आत्मा। दो आत्माए। कौन देखे ? किसे देखे ? यह उलझन अस्वाभाविक नही है। आदमी का यह स्वभाव है कि वह बांटता जाता है। व्यवसाय के क्षेत्र मे बंटवारा है। धर्म और राजनीति के क्षेत्र मे बटवारा है। सभी बटे हुए हैं और यह सब मनुष्य द्वारा कृत हैं। उसने आत्मा को भी बाट दिया, दो कर दिया। एक वह, जिसके द्वारा हम देखे और एक वह, जिसको हम देखे। दो आत्माए बन गई। यह द्वैध हो गया। यह उलझन जैसी लगती है, पर कोई उलझन नही है। यह उलझन तब तक ही प्रतीत होती है, जब तक अध्यात्म की यात्रा प्रारम्भ नही होती। इस पथ पर जैसे-जैसे चरण आगे बढेगे, उलझन सुलझती जाएगी। समाधान होता जाएगा। जब हम अन्तिम बिन्दु पर पहुंचेंगे तब वहां समस्या ही नही रहेगी। सब स्पष्ट हो जाएगा।

जब हम बाहर ही बाहर देखते हैं तब बाहर के प्रति हमारी आसक्ति इतनी गाढ़ हो जाती है, इतनी तीव्र हो जाती है कि हमारी आत्मा 'बहिरात्मा' बन जाती है, अन्तरात्मा नही रहती। भीतर से हटकर केवल बाह्य बन जाती है। बाहर का आकार ले लेती है। फिर सारी प्रवृत्ति बाह्य को देखती है। बहिरात्मा का परिणमन होता है, हमारी आत्मा बहिरात्मा बन जाती है।

जब किसी निमित्त से भीतर की यात्रा प्रारम्भ होती है और इस सचाई का एक कण, एक लव अनुभूति मे आ जाता है कि सार सारा भीतर है, सुख भीतर है, आनन्द भीनर है, आनन्द का सागर भीतर लहरा रहा है, चैतन्य का विशाल समुद्र भीतर उछल रहा है, शक्ति का अजस्र स्रोत भी भीतर है, अपार आनद, अपार शक्ति, अपार सुख- यह सब भीतर है, तब आत्मा अन्तरात्मा बन जाती है। बाह्य आत्मा का वलय टूट जाता है। बाह्य अनुभूति के स्तर पर आत्मा बहिरात्मा बनती है तो आन्तरिक अनुभूति के स्तर पर आत्मा अन्तरात्मा बनती है। अध्यात्म की यात्रा के स्तर पर आत्मा अन्तरात्मा बन जाती है। तब हमारी परिणति आन्तरिक बन जाती है, अन्तरात्मा का उन्मेष जाग जाता है।

जब हम इससे आगे बढते हैं तब अनुभूति का स्तर बदल जाता है। श्रेय के साथ हमारा सम्बन्ध जुड जाता है, शुद्ध चेतना के साथ हम मिल जाते हैं। जिसके साथ सम्बन्ध कटा-कटा-सा था, उस विशुद्ध चेतना के साथ पुन: सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। एक छोटा स्रोत अपने मूल स्रोत से मिल जाता है। यह परम आत्मा की स्थिति है। इस स्तर पर आत्मा-परमात्मा बन जाती है।

अनुभूतियो के स्वरो के आधार पर आत्मा के तीन रूप बन जाते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

हम इसकी तुलना आज के मनोविज्ञान की भाषा से कर सकते हैं। उसके अनुसार मन के तीन प्रकार है—कोन्शियस माइन्ड, सबकोन्शियस माइन्ड और अनकोन्शियस माइन्ड—चेतन मन, अर्द्धचेतन मन और अवचेतन मन।

चेतन मन अर्थात् जागृत मन। यह स्थूल मन है। यह बाहर ही बाहर घूमता है, बाहर को ही देखता है, यह केवल बाहर का बन जाता है। इसे हम बहिरात्मा कह सकते हैं। यह बहिरात्मा की स्थिति का अनुभव है।

अर्द्धचेतन मन भीतर है, बाहर नही है। यह भीतर ही काम करता है। यहां आत्मा की स्थिति का अनुभव होने लगता है।

जब हम अवचेतन मन में चले जाते है, वहां आत्मा की मूल स्थिति का अनुभव होने लगता है, मूल स्थिति का दर्शन होता है।

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें', इसका अर्थ है—उस परम आत्मा की अनुभूति करे, जो उपलब्ध नही है। उस स्थिति को उपलब्ध करना और जो वर्तमान की स्थिति है उसे विस्मृत करना, आतमय बन जाना ही आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना है।

तर्कशास्त्र का कथन है कि दीपक को देखने के लिए दीपक की आवश्यकता नही होती, क्योंकि दीपक स्वय प्रकाशमान है। जो स्वयं प्रकाशी होता है, उसको देखने के लिए दूसरे प्रकाश की जरूरत नही होती। सूरज उगा या नही—इसे जानने के लिए बिजली जलाने की आवश्यकता नही होती और यदि कोई व्यक्ति सूरज को देखने के लिए बिलजी जलाए तो वह समझदार नही माना जा सकता। सूर्य स्वयं प्रकाशी है।

तर्कशास्त्र का यह कथन प्रस्तुत प्रसग में उलट जाता है। आत्मा को देखने के लिए आत्मा की जरूरत है, दीपक को देखने के लिए दीपक की जरूरत है, प्रकाश को देखने के लिए प्रकाश की जरूरत है। पहले हम दीया जलाएं और फिर सूर्य को देखें। आत्मा रूपी सूर्य को देखने के लिए किसी पार्थिव दीपक की जरूरत नही है। किन्तु कपायो का अन्धकार, ज्ञानावरण-दर्शनावरण मोह और अन्तराय – इन कर्मो का अंधकार या पर्दा—ये सब बीच मे हैं। इन सबको चीरकर परम आत्मा तक पहुचना कठिन होता है। बहिरात्मा और परमात्मा मे बहुत दूरी है। बीच मे अनगिन बाधाएं हैं। सबको तोडकर आगे चलना श्रमसाध्य कार्य है। ये बाधाएं स्थूल नहीं है जो हमे इन आखों से दीख सकें। ये सूक्ष्म हैं। यदि इन बाधाओ के परमाणुओ को बाहर निकालकर फैलाया जाए तो अनन्त विश्व में भी वे नही समा पाएंगे। हमारे भीतर यह अनत संसार समाया हुआ है। इतना सूक्ष्म है कि हमे उसके अस्तित्व का कुछ प्रत्यक्ष भान ही नही होता, क्योंकि हम सूक्ष्म को देखना जानते ही नहीं। सूक्ष्म को देखने की दृष्टि हमारे पास नही

है, इसीलिए हमे उन सूक्ष्म बाधाओ के अस्तित्व का पूरा भान ही नही होता ।

अध्यात्म की यात्रा मे शुद्ध चेतना का एक दीपक साथ में लें । यह राग-द्वेष के क्षणो से रहित दीपक है । हम राग-द्वेष से रहित क्षणो मे जीए और दीये के साथ-साथ चलते रहे । हम सारी बाधाओ को मिटाने में सक्षम हो जाएगे, फिर वे बाधाए चाहे अन्धकार की हो, चट्टानो की हो और मादक मूर्च्छाओ की हो, सबको तोडकर, चीरकर हम आगे बढते जाएंगे ।

धर्म की सबसे बडी उपलब्धि है—अध्यात्म की यात्रा । जो धर्म अध्यात्म की यात्रा प्रारभ नही करता और अपने अनुयायियो से अध्यात्म-यात्रा नही कराता, वह धर्म एक प्रकार से छलना है, धोखा है, और यदि उसे अफीम भी कहा जाए तो अतिशयोक्ति नही होगी ।

आज के धार्मिक ने अध्यात्म-यात्रा को भुला दिया, इस महापुण्य यात्रा को विस्मृत कर दिया । धर्म गुरु कहते हैं—भले आदमी बनो, स्वार्थ को छोड परमार्थ मे प्रवेश करो, प्रामाणिक बनो, नैतिक बनो, शुद्ध आचरण करो, सबके साथ मैत्री करो, अहिंसा का पालन करो, चोरी मत करो, सतुष्ट रहो । ये बाते अच्छी हैं । किन्तु जब तक परिवर्तन की प्रक्रिया सामने नही आती, क्रियान्विति का उपाय सामने नही आता, तब तक कहने वाला कहता रहता है, सुनने वाला सुनता रहता है, न कहने वाला थकता है और न सुनने वाला थकता है । यह भी मन बहलाव का साधन बन जाता है । इस प्रकार के उपदेशो से कोई परिवर्तन नही होता ।

एक चूहा था । एक उल्लू था । दोनो मित्र थे । एक दिन चूहे ने उल्लू से कहा—'मित्र ! क्या करू ? बिल्ली बहुत सताती है । उससे सदा भयभीत रहता हू । कोई उपाय बताओ ।' उल्लू ने कहा—'बहुत अच्छा उपाय बताए देता हू । तुम जगली बिलाव बन जाओ, फिर भय नही रहेगा, तुम निर्भय बन जाओगे । बिल्ली तुमसे डरने लगेगी ।' चूहा प्रसन्न हो गया । उसने कहा—'उपाय बहुत अच्छा है । पर यह बताओ कि मैं बिलाव कैसे बन सकता हू ?' उल्लू बोला—'मित्र ! यह कैसा प्रश्न ? क्या सब कुछ मैं करूं ? बिलाव कैसे बना जाता है, तुम बिलाव कैसे बन सकते हो—यह अब तुम्हारा काम है, मेरा काम तो केवल उपाय बताना है । उपाय को काम मे लेना तुम्हारा काम है ।'

मुझे लगता है कि धर्म के क्षेत्र मे भी कुछ ऐसा ही हो रहा है । धर्म के उपदेष्टाओ ने कुछ ऐसा ही किया है । उन्होने कहा—'अच्छे बनो । ऐसा करो, ऐसा मत करो । यह करो, वह मत करो ।' जब धर्म के उन उपदेष्टाओ को पूछते हैं कि अच्छा कैसे बना जाता है ? यह कैसे छोड़ा जाता है ? तब वे कहते है—'हम तो उपदेशक हैं । हमने कह दिया, अब आपको सोचना है

कि उस उपदेश के अनुसार कैसे वनना है ।'. यह बडा अजीव-सा लगता है कि धार्मिक उपदेष्टा यह कहे—'परमार्थी बनो, अहिंसक वनो, सत्यवादी वनो, पर उपाय नही बताते । उनकी क्रियान्विति का मार्ग प्रशस्त नही करते । जब तक धर्म उपाय निर्दिष्ट नही करता, क्रियान्विति का मार्ग प्रशस्त नही करता, कोरी बडी-बड़ी बाते प्रस्तुत करता है, तब तक उस धर्म से कुछ भी रूपातरण होने वाला नही है । ऐसे धर्म के प्रति अरुचि या अनास्था होती है तो आश्चर्य ही क्या है ? धर्म के प्रति नास्तिकता का मनोभाव, आत्मा और परमात्मा के प्रति नास्तिकता का मनोभाव, अध्यात्म के प्रति नास्तिकता का मनोभाव इन्ही कारणो से पनपता है । धर्म की निस्सारता का भान होता है । व्यक्ति धर्म से दूर भाग जाता है । धर्म के प्रति उसके मन मे घृणा पैदा हो जाती है । आज का युग इस बात का साक्षी है । आज का बुद्धिवादी और विचारक, आज का युवक, धर्म से इसलिए दूर होता जा रहा है कि वह देखता है— धर्म की बाते वहुत वडी है । वह वडी-बड़ी बाते बनाता है, करता-धरता कुछ भी नही । वह मोहक मदिरा की ऐसी प्याली पिलाता है, जिससे पीने वाला नशे मे हो जाता है, बेभान हो जाता है । यह स्थिति धार्मिको के लिए बहुत वड़ी चुनौती है । यह उनके लिए भी एक चुनौती है, जो धर्म के धुरंधर है, धर्म की धुरा को वहन करने वाले हैं, धर्म-रथ के सारथी है, धर्मरथ को आगे वढ़ाने का दायित्व ओढ़े हुए है । या तो वे इस चुनौती को झेलें या फिर वडी-बडी बाते वनाना छोड़ दे । वे रूपान्तरण की प्रक्रिया प्रस्तुत करे, लोगो को सक्रिय अभ्यास कराएं, उनमें यह विन्यास पैदा करे कि धर्म रूपान्तरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया है । उसके पास वह सब कुछ हैं, जो आदमी को आनद-मय, सुखमय और शांतिमय बना सके । यदि ऐसा हो पाए तो चुनौती का सटीक उत्तर मिल जाएगा ।

तीस वर्ष पहले की घटना है । एक दिन आचार्यश्री ने कहा—'हमारे पास इतने लोग आते हैं । सदा भीड लगी रहती है । दूर-दूर से वे आते हैं । वडी श्रद्धा प्रदर्शित करते है, भावना रखते है और हमे सब कुछ मानकर चलते हैं । किन्तु हम उन्हे देते क्या है ? यदि कुछ भी नही देते है तो क्या हम अपने कर्त्तव्य का पूरा पालन करते हैं ? उनकी इतनी भक्ति और श्रद्धा लेते है और वापस यदि कुछ भी नही देते है तो यह उनकी भक्ति और श्रद्धा का शोषण है, अन्याय है ।'

यह चिन्तन गहरे मे गया । इसके परिणामस्वरूप अणुव्रत आन्दोलन ने जन्म लिया । इसके परिणाम स्वरूप अध्यात्म की यात्रा ने जन्म लिया । यह सोचा गया, जो भी श्रद्धा प्रदर्शित करते है, उनकी श्रद्धा का प्रतिफल उन्हें मिलना चाहिए । उनका जीवन वदलना चाहिए, जीवन की यात्रा बदलनी चाहिए ।

मूल प्रश्न है—जीवन कैसे बदले ? बदलने का सबसे बडा उपाय है—आत्मा को आत्मा के द्वारा देखना। जब तक भीतर मे नही देखा जाता तब तक बदलाव नही होता, रूपान्तरण नही होता।

इस प्रसग में मै शरीरशास्त्रीय चर्चा करना चाहता हू। डॉ० कॉप (kapp) ने एक पुस्तक लिखी है। उसका नाम है—'ग्लैण्ड्स : दि इंविजिबल गारजियन'। यह पुस्तक लिखने वाला अध्यात्म-गुरु नही है। वह एक शरीर-शास्त्री है। वह लिखता है—"हमारे भीतर जो ग्रन्थिया है, वे क्रोध, कलह, ईर्ष्या, भय द्वेष आदि के कारण विकृत बनती है। जब ये अनिष्ट भावनाए जागती है तब एड्रीनल ग्लैण्ड को अतिरिक्त काम करना पडता है। वह थक जाती है, और-और ग्रन्थियां भी अतिश्रम से थककर श्लथ हो जाती है।" अतिरिक्त भार थकान पैदा करता है। बैलगाड़ी पर ज्यादा भार लादोगे तो बैल थक जाएंगे। मोटर पर अधिक भार लादेगे तो इन्जन टूट जाएगा, काम नही करेगा। यत्र हो या प्राणी—वह अतिरिक्त भार से थक जाता है।

जब-जब हमारे आवेग और सस्कार जागते है तब-तब उन ग्रन्थियो पर अतिरिक्त भार पडता है। वे अस्वाभाविक रूप से काम करने लगती है। स्राव अधिक होता है। यह अतिरिक्त स्राव अनेक विकृतिया पैदा करता है। ग्रन्थियो की शक्ति क्षीण हो जाती है। परिणामस्वरूप शरीर का सारा सतुलन बिगड जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम इन आवेगो को रोकें, इन भावनाओ को रोके, इन पर नियत्रण करे। आवेगो को समझदारी से समेटे और ग्रन्थियो पर अधिक भार न आने दे। इसका भी उपाय है। वह उपाय है—धर्म।

आज ऐसा धर्म चाहिए जिसके साथ भय जुडा हुआ न हो। भगवान् महावीर का वाक्य है—न भेतव्व—डरो मत। उन्होने अपने धर्म का प्रारंभ यही से किया। वह धर्म चाहे अहिसा है, सत्य है, अपरिग्रह है, सबके आगे जो प्रहरी बैठा है, वह है—डरो मत, अभय रहो। उन्होने कहा—'किसी से मत डरो—बुढापे से मत डरो, बीमारी से मत डरो, मौत से मत डरो, शत्रु से मत डरो।'

भय अनेक विकृतिया पैदा करता है। भय से सबसे ज्यादा प्रभावित होती है—एड्रीनल ग्रन्थि।

सब धर्मो का मूल है—अभय। भगवान् महावीर ने कहा—'जो अभय नही होता, वह अहिसक नही होता। जो अभय नही होता, वह सत्यवादी नही होता। जो अभय नही होता, वह ब्रह्मचारी या अपरिग्रही नही होता। आदमी भय के कारण हिसा करता है, चोरी करता है, परिग्रह का सचय करता है।'

शस्त्रो का विकास भय के कारण ही हुआ है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र

से डरता है। अपने बचाव के लिए वह शस्त्र-निर्माण करता है। जब मनुष्य के मन मे भय जागा तब अस्त्रों का आविष्कार हुआ। पत्थरो के शस्त्रास्त्र बने। ज्यो-ज्यो भय बढता गया, शस्त्रो मे परिष्कार हुआ और आज हम नवीन, सूक्ष्म और विचित्र शस्त्रो का अबार लगाए हुए है। यह सारा विकास भय के कारण हुआ है। अणुयुग तक पहुचाने में भय का हाथ है।

मनुष्य भय के कारण ही हिंसा करता है, दूसरो को मारता है। मनुष्य भय के कारण ही झूठ बोलता है। वह सोचता है—सच कहने से मुझे ये-ये कठिनाइया सहन करनी पडेगी। बच्चा सोचता है—सच कहने पर पिताजी मारेंगे, पीटेंगे। वह झूठ बोलता है और बच निकलता है। व्यापार मे जो कुछ अनियमितताएं चलती हैं, वे सब भय के कारण है। परिग्रह और सग्रह के पीछे भी भय की शृंखला जुडी हुई है।

भय बुराइयो की जड है। भय से मुक्त होना दोषो से मुक्त होना है। इसलिए कहा गया कि आज ऐसे धर्म की जरूरत है जिसके साथ भय जुडा हुआ न हो। यह भय भी न हो कि धर्म न करने पर नरक मे जाना पडेगा। नरक से बचने के लिए यदि कोई धार्मिक बनता है तो वह शुद्ध धार्मिक नही बनता।

धर्म के क्षेत्र मे जैसे भय ने धार्मिको मे विकृति उत्पन्न की है वैसे ही प्रलोभन ने भी अनेक विकृतियां उत्पन्न की हैं। इन दोनो के कारण धर्म की आत्महत्या ही हो गयी। धर्म करो, स्वर्ग मिलेगा, यह मिलेगा, वह मिलेगा। देवागनाए फूलमाला लिये खडी मिलेगी। स्वागत होगा। अपार संपत्ति और वैभव, नौकर-चाकर, यान-वाहन प्राप्त होगे। मन इन प्रलोभनो मे लुब्ध हो गया। धर्म की मूल आत्मा विस्मृत हो गयी।

प्रारभ में ही माताए अपने बच्चो मे भय का सस्कार जमा देती हैं। अरे, ऐसा करोगे तो नरक मे जाओगे, नरक मिलेगा। रोज यह सुनते-सुनते बच्चे मे भय के सस्कार पलने लग जाएंगे। वह भीरु बन जाएगा। भय व्यक्ति मे हीन भावना पैदा कर देता है। धर्म तो वहां से प्रारंभ होता है जहां भय समाप्त हो जाता है। धर्म का एकमात्र उद्देश्य है—निर्जरा—निज्जरट्ठाए। उसका एकमात्र लक्ष्य है पुराने सस्कारो को क्षीण करना। चैतन्य की उपलब्धि धर्म-साधना से ही सभव है। जो चैतन्य को उपलब्ध कराए, पुराने संस्कारो को मिटाए, भय को नष्ट करे, प्रलोभन से ऊपर उठाए, वही धर्म है, वही अध्यात्म है।

प्रश्न यही है कि रूपान्तरण कैसे हो? इसका एकमात्र उपाय है—अर्द्धचेतन मन को सक्रिय करना, जगाना। यह शरीरशास्त्रीय भाषा है। आध्यात्मिक भाषा है—अन्तरात्मा को सक्रिय करना, जागृत करना।

हमारे शरीर मे जितनी भी ग्रन्थिया हैं, ग्लैंड्स हैं, वे सब अर्द्धचेतन

मन है, सब-कोन्शियस् माइंड है। सारा ग्रंथितंत्र अर्द्धचेतन मन है। यह मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है। यह ग्रन्थितन्त्र मस्तिष्क से भी अधिक मूल्यवान् है। इसे हमे जागृत करना है। यदि इसे सही साधनो के द्वारा जागृत करते है तो भय से मुक्ति मिलती है। भय से मुक्त होने का अर्थ है सारी बाधाओ से मुक्त होना। शरीरशास्त्र अभी यह बताने मे समर्थ नही है कि ग्रथियो की जागृति के सही साधन क्या हैं? अध्यात्म के पास इसका उत्तर है और यह उत्तर प्रयोगात्मक है।

श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा, आत्म-प्रेक्षा, लेश्याओ का ध्यान—ये सब ग्रन्थियो को सक्रिय करने के साधन हैं। हम चैतन्य केन्द्रो (ग्रन्थियों) पर ध्यान करे, वे सक्रिय होगे। ज्यो-ज्यो हम उन पर अधिक केन्द्रित होगे, वे और अधिक सक्रिय होते जाएगे। उनकी सक्रियता से भय समाप्त होगा, आवेग समाप्त होगे, एक नया आयाम खुलेगा। नया आनन्द, नई स्फूर्ति, नया उल्लास प्राप्त होगा।

एक साधक ने कहा—'मुझे आज ध्यान काल मे ऐसा अनुभव हुआ जैसा पहले कभी नही हुआ था। ग्रन्थि-विमोचन का वह अनुभव अपूर्व था।' मैंने कहा—'सच है।' इसे 'अपूर्वकरण' कहते है। साधना करते-करते दो वार 'अपूर्वकरण' का अनुभव होता है। एक बार जब सम्यग् दृष्टि का पूरा जागरण होता है तब 'अपूर्वकरण' का अनुभव होता है और दूसरी वार जब साधक 'क्षपक 'श्रेणी' का आरोहण करता है, एक विशिष्ट पथ पर चलना प्रारभ करता है, ध्यान की विशिष्ट श्रेणी मे चढता है, शुक्ल-ध्यान मे आरोहण करता है तब 'अपूर्वकरण' का अनुभव होता है। 'अपूर्वकरण' का अर्थ है वह करण जो पहले कभी नही हुआ था। 'करण' का अर्थ है मनोभाव। ऐसे मनोभाव का जागरण होता है जो पहले कभी नही हुआ था।

चैतन्य-केन्द्रो को देखने का प्रयत्न महत्त्वपूर्ण ही नही, अध्यात्म-विकास का एकमात्र साधन है। शरीर-प्रेक्षा को छोटा न मानें। यह न समझें कि शरीर के भीतर क्या देखें? भीतर रक्त है, मास है, हड्डियां हैं, ग्रन्थियां हैं और स्नायु-मडल है। इन्हे क्या देखे? क्यो देखें? यदि साधक यही देखेगा तो वह शरीर-प्रेक्षा करता हुआ भी वहिरात्मा ही रह जाएगा। ये शरीर की चीजे हैं। साधक को और गहरे मे जाना होगा। उसे इस शरीर के भीतर सूक्ष्म सत्ता का जो प्रकाश है, अरूपी सत्ता का जो आलोक है, चैतन्य की जो जगमगाहट है, उसका अनुभव करना होगा, साक्षात् करना होगा। वह प्रकाश वाहर प्रस्फुटित होने को तैयार है, यदि साधक उसे वाहर लाना चाहे। उसकी तैयारी है, उत्सुकता है किन्तु साधक की उपेक्षा है। वह उसकी उपेक्षा किए जा रहा है। केवल उपेक्षा, उपेक्षा ही उपेक्षा।

एक साधक ने कहा—'जब मैं पहली वार ध्यान करने बैठा, मुझे

लगा कि समय निकम्मा वीत रहा है।' एक घंटा यदि कुछ लिखा जाए, काम किया जाए, पढ़ा जाए, भोजन वनाया जाए तो समय की सार्थकता होती है। ध्यान मे समय वीतता अवश्य है, पर वह निरर्थक वीतता है। आंखे मूंदकर वैठना कोई काम नही कहा जा सकता। काम वही होता है जिसकी निष्पत्ति वताई जा सके। एक घटा तक रसोई घर मे काम किया। उस काम की निष्पत्ति हुई— भोजन की तैयारी। एक घंटा तक पढा। निष्पत्ति हुई—ज्ञान की वृद्धि, तथ्यों की अवगति। एक घंटा ध्यान किया, आंखे वन्द रखी, निष्पत्ति कुछ भी नही। किसी के पूछने पर ध्यानी क्या वता पाएगा ? कुछ नही वता पाएगा। जव यह स्थिति है, वास्तविकता है तो ऐसा निरर्थक कार्य क्यो किया जाए ? वही कार्य हाथ मे ले, जिसकी निष्पत्ति हो, जिसका फल सामने दीखे, दूसरे को वताया जा सके—यह काम किया या इसकी निष्पत्ति यह है, इसकी फलश्रुति यह है।

अनेक शोध-संस्थान है, जहा हजारो शोधकर्त्ता विभिन्न विषयो पर शोध कर रहे है। संस्थान धनपतियो द्वारा चलाए जा रहे हैं। वे नही जानते कि शोध क्या होती है ? शोधकर्त्ता हैं विद्वान्। वे जानते हैं—शोध का मार्ग कितना टेढा-मेढा है, कितना कटकाकीर्ण है। दस दिन तक एक शव्द पर रुक गए तो रुक ही गए। उसकी शव-परीक्षा करने मे उन्हे अनेक दिन विताने पड सकते हैं। शोध-संस्थान के अधिकारी सोचते हैं—यह क्या ! एक महीने मे इतनी ही पंक्तिया लिखी गयी ? हमारे इतने धन का व्यय हो गया ! वे पूछते हैं पंडित से कि आज क्या किया ? वह कहता है—कुछ भी नही। उस शव्द का सही अर्थ नही मिला। गाडी अटक गई। आगे नही वढ सके। अधिकारी सोचते हैं—यह कैसा कार्य ? रोज-रोज उसकी निष्पत्ति आनी ही चाहिए। कुछ नही हो रहा है। सस्थान को चलाने से क्या लाभ ?

आत्मा की शोध करने वाले, खोज करने वाले चलते हैं और चलते जाते हैं। खोजते जाते हैं, कुरेदते जाते हैं, चीर-फाड करते जाते हैं। कुछ समय वाद उन्हें लगता है कि यह काम निकम्मा है। जो प्रारम्भ नही करते, उन्हे भी लगता है कि यह काम निरर्थक है।

शोध धैर्य-सापेक्ष होता है। खोज वही कर सकता है, जो धीर होता है। अधीर व्यक्ति खोज नही कर सकता।

मुझे अनुभव है और मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हू कि साधना करने वाला प्रत्येक साधक, जो निष्ठापूर्वक साधना करता है, वह कुछ-न-कुछ प्राप्त करता ही है। उसे अनुभव होता ही है। जिन्होने साधना की है, उनमे अध्यात्म की भूख जागती है, प्रकाश के स्फुलिंग उछलते हैं और वे प्रकाश मे भरे हैं।

अध्यात्म-पथ पर यात्रा करना निरर्थक नही है, यह जीवन की सबसे

बडी सार्थकता है, उपलब्धि है।

श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा, दीर्घश्वास-प्रेक्षा, समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा, चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा, लेश्या-ध्यान, कायोत्सर्ग—ये सारी प्रक्रियाए हैं रूपान्तरण की। उनको काम मे ले। एक दिन यह स्पष्ट अनुभव होने लगेगा कि रूपान्तरण घटित हो रहा है। धार्मिक वृत्ति का जागरण हो रहा है, क्रोध और मान छूट रहे हैं, माया-लोभ टूट रहे है। उन दोषो से छुटकारा पाने के लिए अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता ही नही रहेगी। वे स्वय मिटते जाएगे। उन दोषो को मूलत नष्ट करने का यही उपाय है।

दस दिन का शिविर सपन्न हुआ। एक साधक ने बताया—आज सारा का सारा अटपटा-सा लग रहा है। साधना-काल मस्ती का काल था। जो अनुभव हुआ, उसका धागा अभी नहीं टूटा है। उसका प्रसाद अभी भी मन को आह्लादित कर रहा है। वह प्रसाद-वर्षा अभी बन्द नही हुई है। क्या ही अच्छा हो यदि यह बनी रहे।

ऐसा होता है। यह कोई अनहोनी बात नही है।

हम केवल उपदेश की भाषा मे विश्वास न करें। मै उपदेश की व्यर्थता नहीं बता रहा हू। वह भी अपने क्षेत्र मे सार्थक है। क्योकि सबसे पहले उपदेश ही काम देता है। आदमी सोता है। उसे जगाने के लिए एक सम्बोधन काम देता है। किन्तु जब वह जाग गया, जाग उठा तो फिर क्या सारे दिन सबोधन ही काम करता रहेगा ? घटी बजती ही रहेगी ?

छोटा बच्चा मा की अगुली पकडकर चलता है। यह बात समझ मे आ सकती है। किन्तु पचास वर्ष का आदमी भी दूसरे की अगुली पकडकर चले, यह बात समझ मे नही आ सकती।

उपदेश की एक सीमा है। जब तक व्यक्ति उस तथ्य को नही समझता तब तक उपदेश उपयोगी है। जब व्यक्ति उस बात को जान लेता है, समझ लेता है, फिर उपदेश का काम समाप्त हो जाता है। फिर व्यक्ति अपने उपायो को काम मे ले। उनके आधार पर अपनी यात्रा शुरू करे, चलता रहे, मजिल तक पहुच जाएगा। जो लोग उपदेश की सीमा को ठीक जानते हैं और उपदेश की सीमा समाप्त होने पर उपायो की सीमा को भी जानते हैं, वे सही मार्ग को जान लेते हैं। उनकी अध्यात्म की यात्रा मगलमय होती है। वह उन्हे मजिल तक पहुंचा देती है।

प्रवचन १७ | संकलिका

१. सुखी जीवन का आधार—सबके साथ मैत्री।

२ प्रतिपक्ष—इडा, पिंगला। स्निग्ध, रूक्ष।

३ मन—अमन।

४. प्रवृत्ति से शक्ति क्षीण। निवृत्ति से शक्ति सरक्षित।

५. विचार-सवेदन नियंत्रण।

६ सेरेब्रल कार्टेक्स के दो गोलार्द्ध—दाया गोलार्द्ध बाए के लिए।
वायां गोलार्द्ध दाएं के लिए।

७. वाया गोलार्द्ध महत्त्वपूर्ण—भाषा की क्षमता, गणित, तर्क, चिन्तन, विश्लेषण, योजनाबद्धकार्य, कालक्रम आदि।

सत्य को स्वयं खोजें

मनुष्य-जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य है—सत्य की खोज। प्राणी-जगत् मे मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो सत्य की खोज कर सकता है। दूसरे सारे प्राणी, फिर चाहे वे पशु-पक्षी हो या देवता, कोई भी सत्य की खोज नही कर सकता। मनुष्य के पास जितना विकसित मस्तिष्क, विकसित ग्रन्थिया और अतीन्द्रियज्ञान के केन्द्र है, उतने दूसरे किसी भी प्राणी के पास नही है। इसीलिए मनुष्य ही सत्य की खोज कर सकता है। मनुष्य होने की सार्थकता है—सत्य की खोज, सत्य की उपलब्धि।

भगवान् महावीर ने कहा—'अप्पणा सच्च मेसेज्जा— अपने-आप सत्य की खोज करो।' वैज्ञानिक जगत् मे एक व्यक्ति सत्य को खोजता है और सारा जगत् उसका उपयोग करता है। किन्तु अध्यात्म का ससार इससे भिन्न है। इस जगत् मे जो व्यक्ति सत्य को खोजता है, वही उसका उपयोग करता है, वही उस उपलब्धि से अनन्त आनन्द को प्राप्त करता है। 'जिन खोजा तिन पाइया'—यह है अध्यात्म के ससार की बात। जो खोजेगे, वे पाएगे। जो नही खोजेगे, वे कभी नहीं पाएगे।

वैज्ञानिक जगत् की खोज दूसरे के पूरी काम आती है। अध्यात्म जगत् की खोज दूसरे के पूरी काम नही आती। वाणी के माध्यम से, वचन के प्रयोग से उस उपलब्धि को दूसरे को बताते हैं, दूसरे सुनते हैं, पर वे उस उपलब्धि को तभी हस्तगत कर सकते है जब वे उस पर चलते हैं, स्वय खोज करते हैं और स्वय ही उस सत्य का साक्षात् करते है।

अध्यात्म के क्षेत्र मे जो खोजें हुई हैं, अतीन्द्रियज्ञानियो ने जो खोजे की है, जो देखा है, जो पाया है, जो अनुभव किया है, उसको उन्होने दूसरो को बतलाया। दूसरों ने सुना। लाभ उठाया। पर पूरा लाभ नही मिला। दूसरो के वह काम आया, पर पूरा काम नही आया।

उन अतीन्द्रिय साधको ने आत्मानुभूति का सत्य दूसरो के सामने प्रस्तुत किया, किन्तु उस अभिव्यक्ति के माध्यम से जो सत्य की अनुभूति होनी चाहिए थी, वह किसी को नही हुई। वचन के माध्यम से प्राप्त वह सत्य श्रुति के काम आया, सुनने के काम आया तथा मस्तिष्क और बुद्धि के काम आया किन्तु वह अनुभूतिगम्य नही बना। वह अनुभूतिगम्य तब बना जब सुनने वालो ने स्वयं खोज प्रारम्भ की, स्वयं उसको उपलब्ध हुए। उससे पहले कुछ भी नही हुआ। सुनना व्यर्थ नही गया। उससे खोज की पृष्ठभूमि

तैयार हुई। वह पृष्ठभूमि तब तक पृष्ठभूमि ही बनी रहती है जब तक साधक उसको आधार बनाकर आगे नही चलता। साधक जब तक अनुभव के स्तर पर उस सत्य को नही पा लेता तब तक वह यह नही कह सकता—'यह सचाई है, जिसका मैने प्रत्यक्षत. अनुभव किया है।' वह तब तक दूसरो की दुहाई देता रहता है। यह उधारी बात है। वह यह कह सकता है—यह आगमो की सचाई है, गीता या बाइबिल की सचाई है, ग्रन्थसाहब या कुरान की सचाई है, पिटक या अन्य धार्मिक शास्त्र की सचाई है। वह कभी नही कह सकता कि यह मेरी सचाई है। यह मेरा भोगा हुआ सत्य है। जब व्यक्ति उस सत्य को उपलब्ध हो जाता है, उसे साक्षात् कर लेता है, तभी वह कह सकता है—यह मेरा सत्य है। मैने इसे जाना-देखा है।

अध्यात्म का क्षेत्र वैज्ञानिक क्षेत्र है। यह एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमे सबको वैज्ञानिक होना पडता है। जो भी उस यात्रापथ पर चलना चाहता है, उसे वैज्ञानिक बनना ही पड़ता है। ऐसा नही होता कि आचार्य तुलसी वैज्ञानिक बन जाए, सत्य की खोज करे और शेष सारे उनके अनुयायी बनकर उस खोजे हुए सत्य का उपभोग करते रहे। ऐसा नही हो सकता। प्रत्येक साधक को वैज्ञानिक बनना होता है, परीक्षण करना होता है और सत्य को ढूढ निकालना होता है।

'सत्य को खोजो'—इतना ही पर्याप्त नही है। महावीर ने इसके पीछे 'अप्पणा'—स्वयं—शब्द लगाकर इस ओर सकेत किया कि 'सत्य को खोजो' —यह अधूरी बात है। **'स्वयं सत्य को खोजो'**—यह पूरी बात है। यह अत्यत महत्त्वपूर्ण संकेत है। यह संकेत साधक के पुरुषार्थ की गाथा गाता है। हम कैसे करेगे सत्य की खोज? सत्य की खोज के लिए समृद्ध प्रयोगशाला चाहिए। हमारा शरीर एक प्रयोगशाला है। यह शरीर इतनी बडी प्रयोगशाला है कि विश्व के किसी भी वैज्ञानिक के पास इतनी समृद्ध और विशाल प्रयोगशाला नही है। इस शरीर मे इतनी सूक्ष्म यत्र-सरचना है, जो बड़े-से-बडे वैज्ञानिक को भी आश्चर्य मे डाल देती है। एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला को नही, किन्तु यदि विश्व की समस्त प्रयोगशालाओ को एकत्रित कर लिया जाए, फिर भी वे इस शरीर की प्रयोगशाला के एक अरबवें हिस्से मे भी नही समा पाती। तुलना ही नही की जा सकती।

यह हमारा शरीर साधन-सपन्न प्रयोगशाला है। यह हमारे सामने है। हमे सत्य की खोज करनी है। प्रयोग के साधन और उपकरण भी हमारे पास हैं। चैतन्य के ये सारे प्रयोग हमारी खोज के सूक्ष्मतम उपकरण हैं। आज सूक्ष्म तरगो वाले या सूक्ष्मतम शक्ति वाले या हाई फ्रीक्वेन्सी वाले जितने भी सूक्ष्म उपकरण उपलब्ध होते हैं, वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ मे, वे सारे के सारे, या उनसे भी अधिक सूक्ष्म उपकरण हमारे इस शरीर मे प्राप्त हैं। वे

स्वत. सचालित है। किन्तु उनको काम मे न लेने के कारण उन पर जग जम गया है, वे निष्क्रिय हो गए हैं। हमने यात्रा प्रारम्भ की है। हम उस जंग को हटाने का प्रयास कर रहे है। जैसे ही जंग साफ होगा, जैसे ही यह जमा हुआ मैल हटेगा, ये सारे उपकरण पूरा काम देने लग जाएंगे। उन्ही उपकरणो के द्वारा हम सूक्ष्मतम सत्य को पहचान पाएगे।

सत्य की खोज और सत्य की निष्पत्ति—दोनो साथ-साथ चलते है। जब हम सत्य की खोज प्रारंभ करते है तब पहली निष्पत्ति मिलती है—मैत्री भावना। सबके साथ मैत्री, सबके प्रति मैत्री। यह नही कि सबके साथ शत्रुता। सत्य की खाज कर हमे ऐसे शस्त्रो का निर्माण नही करना है, जो दूसरो को चोट पहुचा सकें, क्षति पहुचा सके और दूसरो को दुविधा मे डाल सके। हमे ऐसे उपकरणो का निर्माण करना है जो दूसरो का भला कर सके, दूसरो का कल्याण कर सके, मैत्रीभाव का विस्तार कर सके। उनसे केवल कल्याण ही कल्याण हो और कुछ नही। स्व का कल्याण और पर का कल्याण। केवल कल्याण।

सत्य की खोज न करने का परिणाम है—शत्रुता के भाव का विस्तार। जब तक सत्य की खोज नही करते तब तक शत्रुता की भावना बढती है। जब हम अध्यात्म की भूमि पर उतरकर सत्य की खोज प्रारम्भ करते हैं तब यह सचाई अनुभव मे आने लगती है कि दुनिया मे कोई शत्रु नही है। हम उसको शत्रु मानते हैं, जिसके विचार हमारे विचारो से नही मिलते। हम उसको शत्रु मानते हैं, जिसका कार्य-कलाप हमारे कार्य-कलाप से भिन्न है, जो हमारी सभ्यता और सस्कृति से भिन्न सभ्यता और संस्कृति का उपासक है। हम उसको शत्रु मानते हैं, जो हमारी बात ठुकरा देता है, स्वीकार नही करता।

हम अध्यात्म जगत् की इस सचाई पर ध्यान दे कि इस दुनिया मे ऐसा कुछ नही है, जिसका प्रतिपक्षी न हो। पक्ष का अस्तित्व प्रतिपक्ष पर टिका हुआ है। प्रतिपक्ष के अभाव मे पक्ष जैसा कुछ होता ही नही। भगवान् महावीर ने जिस महान् सत्य की घोषणा की थी, वह उसी साधना के आधार पर, अध्यात्म के आधार पर की थी। वह सत्य है—अनेकात। यह प्रतिपक्ष के स्वीकार का महान् सिद्धात है। यह पक्ष और प्रतिपक्ष—दोनो को समान रूप से स्वीकार करता है। एक को नकारने का अर्थ है—दूसरे को नकारना और एक को स्वीकारने का अर्थ है—दूसरे को स्वीकारना।

पक्ष एक सचाई है। प्रतिपक्ष भी एक सचाई है। हम 'समवृत्ति श्वास' प्रेक्षा मे एक नथुने से श्वास लेते हैं और दूसरे से छोड़ते हैं। यह अनुलोम-विलोम प्रक्रिया है। एक है पक्ष और दूसरा है प्रतिपक्ष। हठयोग की भाषा मे एक है इडा और एक है पिगला। प्राण के तीन प्रवाह हैं—इडा, पिगल

और सुषुम्ना । जो बाए नथुने से प्राण का प्रवाह आता है, वह है इडा । जो दाए नथुने से प्राण का प्रवाह आता है वह पिंगला । जो प्राण का प्रवाह रीढ़ के मध्य से प्रवाहित होता है, सुषुम्ना में प्रवाहित होता है, वह है 'सुषुम्ना' । इडा चन्द्रस्वर है, ठण्डा है । पिंगला सूर्यस्वर है, गरम है । सुषुम्ना मध्यस्वर है ।

इडा और पिंगला—दोनो विरोधी है । एक ठंडा है और दूसरा गरम । क्या दोनो पतिपक्ष नही हैं ? प्रतिपक्ष हैं, किन्तु दोनो में कोई शत्रुता नही है । यदि दोनों मे शत्रुता आ जाए तो जीवन चल नही सकता । प्रतिपक्ष होना, विरोधी होना, दो दिशाओ मे रहना, भिन्नता रखना—यह शत्रुता का आधार नही है ।

पक्ष और प्रतिपक्ष—दोनो एक-दूसरे के आधार पर टिके हुए है । एक का अस्तित्व दूसरे के आधार पर है । हमने अपनी भ्रांति के कारण, झूठी मान्यताओ और धारणाओ के कारण, भिन्नता रखने वाले को शत्रु मान लिया और समानता रखने वाले को मित्र मान लिया ।

समवृत्ति-श्वास का प्रयोग मैत्री का प्रयोग है । इसका अर्थ है—जो ठडा है, वह भी आवश्यक है और जो गरम है, वह भी आवश्यक है । दोनो आवश्यक हैं । हमारे जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।

जब गरमी का अनुभव हो तव दाएं स्वर को बन्द कर, बाएं स्वर को चलाए, ठडक का अनुभव होगा । जब ठडक का अनुभव हो तब बाएं स्वर को बन्द कर, दाएं स्वर को चलाएं, गरमी का अनुभव होगा । स्वर-शास्त्र मे इस विषय की लम्बी चर्चा प्राप्त है । एक स्वर सौम्य है, एक स्वर उत्तेजक है । चन्द्र स्वर सौम्य है और सूर्य स्वर उत्तेजक । जब शांत या अहिंसक काम करने होते है तब सौम्य स्वर कार्यकारी होता है । जब क्रूर या उत्तेजक काम करने होते है तब उत्तेजक स्वर कार्यकारी होता है । दोनों प्राण-प्रवाहो का कार्य भिन्न-भिन्न है । दोनो प्राण-प्रवाह हमारी उपयोगिता में आ रहे हैं और हमारे जीवन को उपयोगी बना रहे हैं । दोनो में कहां है शत्रुता ? योगशास्त्र की दृष्टि से इनमे भेद है, पर शत्रुता नही ।

पदार्थ-विज्ञान की दृष्टि से हम देखे । जैन दर्शन के अनुसार पुद्गल मे चार स्पर्श होते हैं—शीत, उष्ण, रूक्ष और स्निग्ध । ये चार मूल स्पर्श हैं । ये प्रत्येक पुद्गल मे प्राप्त हैं । ये चारो हैं तभी पुद्गल-स्कन्ध हमारे उपयोगी होता है । शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष—ये विरोधी हैं, पर इनका सह-अवस्थान है । दुनिया मे सब कुछ युगल है, जोड़ा है । युगल के बिना सृष्टि ही नही हो सकती । युगल का मतलब है—पक्ष और प्रतिपक्ष । विद्युत् का भी एक युगल है । एक विद्युत् है—पोजिटिव और एक विद्युत् है—नेगेटिव । दोनो शक्तियों का संगम होता है तब प्रकाश होता है । इसे हम

स्निग्ध और रूक्ष कह सकते है। स्निग्ध का अर्थ चिकना नही है और रूक्ष का अर्थ रूखा नही है। स्निग्ध का अर्थ है—'पोजिटिव' विद्युत् और रूक्ष का अर्थ है--'नेगेटिव' विद्युत्। एक धनात्मक विद्युत् और एक ऋणात्मक विद्युत्। जब धन और ऋण— दोनो का सगम होता है तब आलोक फैलता है। दोनो विरोधी है, पर दोनो मे शत्रुभाव नही है। दोनो विद्युत् साथ-साथ काम करती है और उपयोगिता को बढाती है। सारे पदार्थ और पुद्गल इन विरोधी धर्मों के द्वारा ही हमारी उपयोगिता में आ रहे है।

हमारे शरीर का महत्त्वपूर्ण अग है— मस्तिष्क। उसके दो भाग है— एक दाया और एक बायां। हम हाथ से लिखते है। मस्तिष्क का बायां हिस्सा उसको नियत्रित करता है। दाए हिस्से की जितनी प्रवृत्तिया है, उनका कंट्रोल करता है मस्तिष्क का वाया हिस्सा और बाएं हिस्से की जितनी प्रवृत्तिया है, उनका कन्ट्रोल करता है मस्तिष्क का दाया हिस्सा। दाएं हिस्से की प्रवृत्ति का नियत्रण दायां मस्तिष्क नही करता और वाएं हिस्से की प्रवृत्ति का नियंत्रण वाया मस्तिष्क नही करता।

ऐसी स्थिति मे हम किसी को विरोधी या शत्रु क्यो माने ? मैत्री का अर्थ है—भेद और अभेद में सामंजस्य की अनुभूति। यदि हम मैत्री का यही अर्थ करे कि साथ मे रहना, अच्छा व्यवहार करना, साथ मे काम करना, तो मैत्री को हम बहुत ही सीमित कर देगे। केवल सौ-पचास व्यक्तियो से ही मैत्री साध सकेगे। 'सर्वभूत मैत्री' की बात छूट जाएगी। मैत्री का अर्थ है— हमारी ऐसी अनुभूति हो कि जहां पक्ष और प्रतिपक्ष हो, विरोधी हो, भिन्नता हो, वहा भी शत्रुता न हो। यह अनुभूति जब पुष्ट होती है तब उसे मैत्री कहते है। यह मैत्री सीमित नही, असीम होती है। यह मैत्री सबके साथ हो सकती है। न केवल प्राणियों के साथ किन्तु पदार्थ के साथ भी यह मैत्री हो सकती है।

राजनीति की मान्यता है कि जनतन्त्र सफल तभी हो सकता है जब सत्तारूढ़ दल के साथ विरोधी दल का अस्तित्व भी हो। अन्यथा जनतन्त्र विफल हो जाता है। विरोधी दल के अभाव मे सत्तारूढ़ दल उन्मादक बन जाता है, अनियन्त्रित हो जाता है। यदि विरोधी दल सबल होता है तो सत्तारूढ़ दल मनमानी नही कर सकता। वह जागरूकता और सावधानी से काम करता है।

समूचे विश्व की प्रकृति मे पक्ष और प्रतिपक्ष का अस्तित्व है। पदार्थ-जगत् और चेतन-जगत् भी इसका अपवाद नही है।

भगवान् महावीर ने अनेकात की घोषणा की। यह बुद्धि का प्रतिफलन नही है। उन्होने बुद्धि के आधार पर सोच-विचार कर अनेकांत के सिद्धांत को, समन्वय के सिद्धांत को, सापेक्षता के सिद्धांत को नही दिया

किन्तु जब अहिंसा के स्तर पर साधना करते-करते मैत्री का भाव जागा और उसके नीचे की गहराइयो को देखा तो लगा कि इस विश्व मे शत्रु जैसा कुछ भी नही है। व्यर्थ ही मिथ्या धारणा को कधे पर ढो रहे हैं। शत्रुता का कोई आधार नही है। उन्होने कहा—'यदि सत्य जानना है, देखना है तो अनेकांत की दृष्टि से देखो, समन्वय की दृष्टि से देखो, सापेक्षता की दृष्टि से देखो। विरोधी युगल साथ रहते हैं, इस सचाई का प्रतिपल अनुभव करो। सदा विरोधी युगल साथ रहता है, कभी नही टूटता।'

सत्य की खोज का एक प्रयोग है—श्वास और शरीर का आलम्बन, मन का आलम्बन। एक प्रश्न होता है—मन को कैसे रोके? यहां हमे एक सचाई को समझना है। मन और उसको रोकना—ये दो बाते कैसे सभव हो सकती है? हवा चल रही है। मकान पर झंडा फहरा रहा है। वह हवा के सहारे हिल रहा है। हवा चलती रहे और झंडा न हिले—यह कैसे सभव हो सकता है? बर्फ गिर रही है। उसके योग से हवा ठंडी चल रही है। हम चाहें कि वर्फ गिरती रहे पर हवा ठंडी न रहे, गरम हो जाए, यह कैसे सभव हो सकता है? हो ही नही सकता। वर्फ गिरेगी तब हवा ठण्डी हो जाएगी। गर्मी का प्रकोप होगा तब हवा गरम हो जाएगी। हवा को हम गरम या ठण्डी होने से नही रोक सकेंगे।

मन की तीन अवस्थाएं है—१ समनस्कता, २. अमनस्कता, ३ 'नो-समनस्कता'-'नो-अमनस्कता'—मानसिक तटस्थता या अमन।

हमारा मन उसी प्रवृत्ति मे संलग्न रहे, जिसे हम कर रहे है, यह समनस्कता है।

हम किसी एक काम मे लगे हुए हैं किन्तु मन किसी दूसरी प्रवृत्ति मे लगा हुआ है। यह अमनस्कता है।

समनस्कता या अमनस्कता मे अमन की स्थिति पैदा नही होती। मन रहेगा, चाहे वह इस प्रवृत्ति मे लगा रहे या उस प्रवृत्ति मे लगा रहे। एक व्यक्ति भोजन करने बैठा है किन्तु मन दुकान मे दौड़ रहा है। यहा मन का अनस्तित्व नही है। मन है, भोजन मे नही, किन्तु दुकान मे। अमन की स्थिति तव प्राप्त होती हैं जब मन कही भी लगा हुआ न हो। नो-समनस्कता और नो-अमनस्कता—यह स्थिति है अमन की।

मन की दो अवस्थाएं हैं—समन और अमन। समन का मतलब है मन का होना और अमन का मतलब है मन का न होना, मिट जाना। मन को उत्पन्न ही नहीं करना। मन भी खो सकता है और शरीर भी खो सकता है।

आज ही एक साधिका सुना रही थी कि जब शरीर-प्रेक्षा कर रही थी, श्वास-प्रेक्षा कर रही थी तब वह उसमें इतनी निमग्न हो गयी कि उसे

लगा—श्वास आ-जा रहा है, यह चक्र चल रहा है किन्तु शरीर खो गया है, शरीर गायब है।

साधना मे यह लाघव प्राप्त होता है। पुरानी घटना है। एक साधक ध्यान कर रहा था। उसका ध्यान पुष्ट था। एक दिन वह बहुत गहराई मे चला गया। शरीर हल्का हो गया। अचानक वह उठा और चिल्लाया—'अरे, देखो, मेरा शरीर कहा है, वह खो गया है। उसे ढूढो। उसे खोजो।' कोई अनजान व्यक्ति इसे पागल का प्रलाप-मात्र मान सकता है, किन्तु यह एक सत्य घटना है। ऐसा होता है। भार की अनुभूति मिट जाती है। शरीर की अनुभूति समाप्त हो जाती है और केवल ऐसे लगने लगता है कि परमाणुओ का पुंज इधर से उधर और उधर से इधर आ रहा है। और कुछ नही है। यह अमन की स्थिति है।

हम अमन की भूमिका और समन की भूमिका को साथ-साथ समझे। जब तक मन की भूमिका है तब तक इस बात को न सोचे कि मन को मिटा दे। किन्तु इस बात को सोचे कि मन को शुद्ध या पवित्र आलवन मिले और मन जो नाना प्रकार के आलंबनो मे भटकता है, उस भटकाव को भुला दे और एक ही आलम्बन मे लम्बे समय तक रहे। हमारे दो ही प्रयत्न हो—मन की भूमिका में पवित्र आलम्बन और एक दिशा-गामिता, एक दिशागामी प्रवाह। मन की धारा एक दिशा मे बहे। विभिन्न दिशाओ मे बहने वाली मन की यह धारा समाप्त हो जाए और एक विशाल धारा के रूप मे वह प्रवाहित हो और सबको अपने आपमे समेट ले।

हम श्वास का प्रयोग इसीलिए करते हैं कि मन केवल श्वास को देखता रहे। मन और श्वास—दोनो साथ-साथ चलें। दोनो सहयात्री बने। हम इस आलम्बन को न छोड़ें। इसे दृढता से पकडे रखे। सहयात्रा बहुत बडा आलम्बन है। श्वास के प्रति हमारा कोई राग न हो, कोई द्वेष न हो। श्वास इतना सीधा-सादा है कि इसके प्रति राग-द्वेष हो ही क्या सकता है?

एक श्वास ही ऐसा है, जो जाने-अनजाने हमको सभालता है। हमारे जीवन का सबसे मूल्यवान् तत्त्व है श्वास। यह सहज आलवन है। इसे बाहर से लाना नही पड़ता। जब चाहे तब इसको आलम्बन बना सकते हैं। इसके लिए किसी बाह्य साधन की जरूरत नही होती। न समय-विशेष या स्थान-विशेष की आवश्यकता ही रहती है। उठते, बैठते, चलते, फिरते, रेल मे या हवाई जहाज मे सफर करते समय भी इसका प्रयोग किया जा सकता है। जितना समय मिले, जब भी समय मिले, हम श्वास प्रेक्षा का प्रयोग करें। यदि यह क्रम बन जाता है तो मन की भूमिका सुचारू रूप से संचालित हो

सकती है, मन का भटकाव मिटने लग जाता है।

दूसरी भूमिका है—अमन की। यह अमन-चैन की भूमिका है। केवल अमन-चैन। शब्द का ऐसा योग मिल गया—अमन के साथ चैन जुड गया। अमन की अवस्था चैन की अवस्था है। मन आलम्बन के साथ चलता है। चलते-चलते जब वह आलम्बन की एकाग्रता और स्थिरता के बिन्दु पर पहुच जाता है तब मन की गति लड़खड़ाने लग जाती है, टूटने लग जाती है, मन वहां समाप्त हो जाता है, अमन की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

जब हम लेश्या-ध्यान का प्रयोग करते हैं और जैसे ही यह ज्योति प्रकट होती है तब कुछ चमकीला पदार्थ दीखने लगता है। जब भीतर के स्पन्दन जागते है, लेश्याओ के स्पंदन जागते है तब एक ऐसा प्रसाद बरसने लगता है कि मन खो जाता है, कही नही रहता। साधक दूसरी स्थिति मे चला जाता है। मन उपस्थित रहता है तब काल का बोध हुए बिना नही रहता। काल का अबोध अमन की स्थिति मे ही हो सकता है। व्यक्ति एक घटा तक ध्यान मे बैठता है किन्तु उसे लगता है कि पांच-दस मिनट ही हुए है। यह अनुभूति अमन की स्थिति मे ही हो सकती है, मन की स्थिति मे नही। अमन की स्थिति कालातीत स्थिति है, देशातीत स्थिति है। मन का काम है काल को जागरूकता से देखना, जानना। वह कालातीत या देशातीत नही हो सकता। अमन की स्थिति में मन के सारे कार्य समाप्त हो जाते हैं।

अमन की स्थिति सहज प्राप्त नही होती। यह साधना से प्राप्त होती है। इसके लिए लम्बी प्रतीक्षा और साधना करनी पडती है। आज के युग की सबसे बड़ी कठिनाई है कि आदमी प्रतीक्षा करना नही चाहता। वह तत्काल फल चाहता है। आज ही बीज बोया और आज ही उसका फल मिल जाए—यह उसका प्रयत्न रहता है। यह अधैर्य, प्रतीक्षा न करने की वृत्ति, साधना का विघ्न है।

एक आदमी तग जूते पहने जा रहा था। सामने से दूसरे व्यक्ति ने पूछा—'भाई! जूते बहुत ही तंग पहन रखे है, क्या बात है?' उसने कहा—'तग है तो हैं, तुम्हे क्या?' फिर उसने पूछा—'कहा से लाये?' वह तो गुस्से में था ही। बोला—'पेड मे तोडकर लाया हू।' वह सज्जन व्यक्ति बोला—भले आदमी! कुछ और प्रतीक्षा करते। पकने देते। तुमने कच्चे ही तोड़ लिए, इसीलिए ये तंग हो रहे हैं।'

कच्चा जूता तग होता है, कच्चा फल खट्टा होता है, तो कच्ची साधना अच्छी कैसे होगी? पकने के लिए प्रतीक्षा करनी होती है।

साधना के मार्ग में जल्दबाजी खतरनाक होती है। धीमे-धीमे अभ्यास

को बढ़ाए। धैर्य के साथ चले। अमन की भूमिका प्राप्त करने के लिए उतावले न हो। मन की भूमिका जब समुचित ढंग से चलती रहेगी, आलंबन शुद्ध और मन की एक दिशागामिता बनी रहेगी तो एक दिन वह अमन हो जाएगा।

प्रवचन १८ | संकलिका

१. साधक भीतरी लड़ाई लडता है ।
२. वाहर मे उसका परिणाम है—मैत्री—संधि ।
३ चक्रवर्ती भरत और वाहुवली का युद्ध वास्तव मे मोह की विशाल सेना और चैतन्य की सेना के बीच ।
४. साधक चक्रवर्ती भरत नही, बाहुबली बने ।
५ प्रेक्षा है—शक्तिशाली चक्र ।
६ प्रेक्षा है—दृष्टियुद्ध—भीतर की गहराई मे देखना ।
७ विधि का ज्ञान—सफलता का वरण ।
८ श्रद्धा का अर्थ है—आकर्षण, इच्छा ।
९ श्रद्धा के साथ समर्पण का योग ।
१०. समर्पण का सूत्र है—अरहते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरण पवज्जामि, साहू सरण पवज्जामि, केवली पन्नत्त धम्म सरण पवज्जामि ।
११ साधना के विघ्न—प्रमाद, अकर्मण्यता, आलस्य ।
१२ दस और दस साठ—यह है मानना ।
१३. दस और दस वीस—यह है जानना ।
१४ सफलता के चार सूत्र—पुरुपार्थ, श्रद्धा, समर्पण और सत्यनिष्ठा ।

आजादी की लड़ाई

आज हमने एक युद्ध किया है। अनुप्रेक्षा का अभ्यास एक युद्ध है। सबसे पहले, जहा हम बैठे है उस हॉल से लडें। फिर अपने आसन से, कपडो से, फिर शरीर से और अन्त मे कर्मशरीर से लडे। क्रोध, मान, माया, राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि आवेगो से लडें। इतने दिन बाहर ही बाहर लडते रहे। आज लडने की दिशा बदल गई। बाहर की लड़ाई बन्द हो गयी। भीतर की लडाई प्रारम्भ हो गई। भीतर की लड़ाई प्रारम्भ होते ही मैत्री की भावना घटित होने लगती है। अब बाहर के साथ मैत्री करनी होगी या वह स्वत सध जाएगी। मैत्री-सधि करनी पडेगी। अब दोहरी लडाई हम नही लड सकते। बाहर की लड़ाई भी लडें और भीतर की लडाई भी लड़े, यह नही हो सकता। एक ही लडाई सम्भव है। या तो भीतर की लडाई चलेगी या बाहर की लड़ाई चलेगी। दोनो साथ-साथ नही चल सकती। दोनो ओर लडेगे तो हम पराजित हो जाएगे। विजय प्राप्त करने के लिए एक ही लडाई लडनी होगी। अन्यथा हम पराजित हो जाएंगे।

यह वैसी ही लडाई है जैसी चक्रवर्ती भरत और बाहुबली के बीच हुई थी। भरत की विशाल सेना ने बाहुबली पर आक्रमण कर दिया। भरत चक्रवर्ती था। विशाल प्रदेश का स्वामी, विशाल सेना का अधिनायक। बाहुबली छोटे प्रदेश का स्वामी, छोटी सेना का मालिक। चक्रवर्ती की विशाल सेना के आक्रमण को हम मोह और मूर्च्छा का आक्रमण मानें तो बाहुबली की छोटी सेना का प्रतिरोध चेतना की अल्प जागृति माने। भरत ने चुनौती दी --'तुम मेरी आज्ञा मानो, मेरी सीमा मे यदि रहना चाहते हो तो मेरी प्रभुसत्ता स्वीकार करो।' बाहुबली ने कहा —'यह असम्भव है। बाहुबली कभी किसी की आज्ञा नही मानेगा। बाहुबली सर्वथा स्वतन्त्र है, सर्वथा स्वतन्त्र रहेगा। परतंत्रता मे वह कभी नहीं जाएगा।' इसका परिणाम हुआ-- युद्ध। यदि बाहुबली नत हो जाता तो युद्ध टल जाता। वह नत नही हुआ, युद्ध की विभीषिका चारो ओर फैल गयी।

इस युद्ध से हम भरत और बाहुबली--इन दो शब्दो को निकाल दे तो यह लडाई मोह की विशाल सेना और चैतन्य की सेना के बीच है। मोह सदा से मनुष्य को अपनी आज्ञा मनवाने का प्रयत्न कर रहा है, अपनी प्रभुसत्ता मे उसे रहने को बाध्य कर रहा है। किन्तु कोई बाहुबलि होता है तो वह सर्वथा इनकार कर देता है। ऐसे बाहुबली कम ही होते हैं। बहुत सारे तो

आज्ञा मानने वाले ही होते हैं। वे सब प्रणत हो जाते है इस मोह राजा के सामने, जैसे भरत के सामने सारे राजा प्रणत हो गए। एक बाहुबली ही ऐसा वीर था, जिसने उसकी आज्ञा को ललकारा और प्रणत होने से सर्वथा इनकार कर दिया। इसी प्रकार जिनकी चेतना मे कुछ स्फुरण हो चुका है, कुछ स्फुलिंग उछलने लगे है, वह बाहुबली कभी भी मोह के राजा के सामने प्रणत नही हो सकता। वह उसकी प्रत्येक चुनौती को झेलता है और अपने पराक्रम से उसके साम्राज्य को खंड-विखड करने का प्रयत्न करता है। वह ललकारतें हुए कहता है—'मै मेरी सत्ता मे रहूगा। मै किसी दूसरे की सत्ता में नही जाऊगा। मैं अपनी ही आज्ञा मानूगा। दूसरे की आज्ञा मुझे सर्वथा अमान्य होगी। मै अपनी ही प्रभुसत्ता मे जीऊगा। दूसरे की प्रभुसत्ता को मैं सर्वथा ठुकराए चलूगा।'

साधक ऐसा ही बाहुबली होता है। साधना करते-करते जब उसमे सोया हुआ बाहुबली जाग उठता है तब वह मोह-मूर्च्छा की आज्ञा मानना बद कर देता है, और वह मोह के साथ लडाई छेड देता है।

यह दृढ विश्वास होना चाहिए— जो अपनी स्वतत्रता की सुरक्षा करना चाहता है वह कभी भी मोह की विशाल सेना से पराजित नही हो सकता। वह निश्चित विजयी होगा। कोई उसे पराजित नही कर सकता। यदि विश्वास मे कमी आती है तो व्यक्ति लडखडा सकता है। यदि विश्वास दृढ है, संकल्प फौलादी है तो वह कभी नही हार सकता।

बाहुबली और भरत के युद्ध की परिणति क्या हुई ? बाहुबली अपने निश्चय पर अटल है। स्वतत्रता की सुरक्षा करने के अदम्य उत्साह और स्फूर्त भावना ने उसे विजयी बना दिया। भरत की विशाल सेना हार गयी। व्यक्तिगत युद्ध मे भी भरत को पराजित होना पडा। बाहुबली विजयी हो गया।

जो व्यक्ति अपने निश्चय पर अडिग रहता है, अपनी स्वतत्रता को बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है, सदा जागृत और अप्रमत्त रहता है वह मोह की सत्ता के सामने नही झुक सकता। एक दिन ऐसा आएगा— मोह की विशाल सेना परास्त होकर भाग जाएगी, नष्ट हो जाएगी।

भरत चक्रवर्ती के पास एक चक्र था। वह देवताओ द्वारा उपासित और सेवित था। महान् पराक्रमी था वह चक्र। हमारे पास भी एक चक्र है, शक्तिशाली चक्र है। वह है—प्रेक्षा। देखना, देखना और देखना।

जब भरत और बाहुबली के युद्ध का कोई परिणाम नही निकला तब यह प्रस्ताव आया कि सेनाओ मे होने वाले युद्ध को बन्द कर दिया जाए। केवल भरत और बाहुबली लडें। दो की लडाई हो। जो जीतेगा, वह विजयी होगा। उस व्यक्ति-युद्ध मे एक था दृष्टियुद्ध। दोनो आमने-सामने खडे हो

जाए। आखो से एक-दूसरे को देखे। जो अपनी पलके पहले झपकाएगा, वह पराजित घोषित होगा। दोनो आमने-सामने आ खडे हुए।

हम भी उसी प्रकार के युद्ध मे प्रवेश कर रहे हैं। प्रेक्षा का अर्थ है—दृष्टियुद्ध। भीतर मे देखना, अप्रमत्तभाव से देखते जाना। प्रेक्षा दृष्टियुद्ध है। हम प्रेक्षा करे, भीतर की गहराइयो मे उतरे। वहां क्रोध, मान, माया, राग, द्वेष, उन्माद, वासना और विकार के स्फुलिंग उछलते नजर आएगे। हम उनको अपलकदृष्टि से देखे, केवल देखे, देखते रहे। वे स्वयं भाग जाएगे। दृष्टि का अस्त्र वहुत शक्तिशाली होता है। जो साधक दृष्टि-युद्ध मे पारंगत हो जाता है, जो देखना जान जाता है, वह कभी परास्त नही हो सकता। जो भी सामने आएगा, वह परास्त हो जाएगा। प्रेक्षा का अस्त्र वहुत तीक्ष्ण और मर्मवेधी होता है। वह सामने वाले को समूल नष्ट कर देता है।

हम प्रेक्षा करते हैं। हम सकल्प और भावना का प्रयोग करते है। हम सूक्ष्म तरंगो का प्रयोग करते हैं। लेश्या-ध्यान का प्रयोग करते हैं। ये सव एक प्रकार के युद्ध ही हैं। इनसे साधक सभी दोषो पर विजय प्राप्त कर सकता है। वह सव आक्रमणो को विफल कर सकता है।

आज विज्ञान के क्षेत्र मे अनेक प्रयोग चल रहे हैं। वैज्ञानिक मानते हैं कि आने वाले युद्ध मानसिक स्तर पर लडे जाएगे। उनमे सेना की आवश्यकता नही रहेगी। मन को इतना शक्तिशाली वनाया जाएगा कि वह हजारो मील दूर स्थित शत्रु को परास्त कर सके, उसे क्लीव वना सके, उसे शक्तिहीन वना सके।

मानसिक विकास के लिए वे प्रयत्न कर रहे हैं। यदि वे इस दिशा में सफल हो जाएगे तो भी हानि है और नही होगे तो भी हानि है।

एक साधक को इस ओर निश्चित ही प्रयोग करना है और मानसिक क्षमता को इतना विकसित करना है कि जिससे शत्रुओ का शस्त्रागार उन्ही के सहार के लिए काम मे आ सके। मूर्च्छा और मोह के सारे अस्त्र-शस्त्र उन्ही के सहार मे काम आए। यह सव मानसिक क्षमता को वढाने से हो सकता है। इसकी सफलता के लिए दृष्टियुद्ध भावनायुद्ध, तरगयुद्ध, वाक्-युद्ध—आदि से गुजरना होगा। इन सारे मोर्चो पर लडना होगा। प्रतिपल जागरूक रहना होगा। रणनीति को सवसे पहले समझना होगा। रणनीति को समझे विना लडाई नही जीती जा सकती। यह रणनीति है प्रेक्षा-ध्यान की विधि। इसको समझे विना हम आगे नही वढ सकते। यदि हम इस विधि को समझ लेते हैं तो आठ आना सफलता हमे प्राप्त हो जाती है। यदि विधि को ठीक से नही समझा जाता है तो मन सदेहो से भरा रहता है। साधक सोचता है—श्वास को देखने से आत्मा कैसे उपलब्ध होगी? यदि श्वास को देखने से ही आत्मा उपलब्ध होती है तव तो श्वास को देखने वाले अनेक यन्त्र

मिल जाएगे, जो श्वास का पूरा ग्राफ लेते हैं, उसका रेखांकन करते हैं, उसका माप करते है। फिर प्रश्न होता है—शरीर-प्रेक्षा से आत्मा कैसे प्राप्त होगी ? अशुचि से भरे, मल-मूत्र से भरे इस शरीर को देखने से आत्मा कैसे उपलब्ध होगी ?

एक यात्री जा रहा था। अंधेरी रात थी। उसे लम्बा रास्ता तय करना था। एक व्यक्ति ने उसे लालटेन देते हुए कहा—'इसके प्रकाश मे तुम अपना रास्ता देख पाओगे। मार्ग सुख से कटेगा। इसे ले जाओ।' यात्री ने देखा—लालटेन का प्रकाश तीन-चार फुट तक फैल रहा है। उसके मन में सदेह हुआ कि रास्ता तो बहुत लम्बा है। प्रकाश केवल तीन-चार फुट तक पडता है। रास्ता पार कैसे कर पाऊंगा ? वह उलझ गया और उलझता ही गया। वह बोला—'तीन-चार फुट का प्रकाश मुझे दस मील की यात्रा कैसे करा पाएगा ?'

यही गति विधि को न समझने वाले की होती है। उसे लगता है—श्वास-प्रेक्षा या शरीर-प्रेक्षा से आत्मा उपलब्ध कैसे होगी ? ये छोटे-से साधन आत्मा तक की यात्रा कैसे करा पाएंगे ? आत्मा बहुत दूर है। श्वास बेचारा नथुने तक ही सीमित है। उसका प्रकाश वही पडता है। आगे नही फैलता। श्वास का अन्तिम पडाव है फेफडा। यह आत्मा की यात्रा कैसे कराएगा ?

यह विधि को न समझने का कारण है। विधि को समझे बिना साधक उलझ जाते हैं। विधि को ठीक समझ लेते हैं तो तीन-चार फुट का प्रकाश दस मील की यात्रा करा सकता है। चलते चले, दस मील का रास्ता प्रकाशित हो जाएगा और यदि उसी बिन्दु पर खडे रह गए तो दो फुट का रास्ता ही प्रकाशित होगा, शेष मार्ग अन्धकारमय ही रहेगा। आवश्यकता है चलने की, सतत गतिशील रहने की।

विधि को समझे और चले। विधि को समझना ही पर्याप्त नही है, चलना भी पडेगा। आगे-से-आगे बढना होगा। यदि नही चले, रुके रह गए तो प्रकाश जहां पडता है वही पडेगा, वह आगे नही बढेगा। वह तभी बढेगा जब हम बढेंगे। वह हमारे रुकने के साथ रुकेगा और बढने के साथ बढेगा। अभ्यास करते जाए। अभ्यास करते जाए। अपनी मजिल तक पहुच जाएगे।

व्यक्ति के मन मे एक सदेह और उभर आता है कि श्वास को देखने से क्या होगा ? शरीर को देखने से क्या होगा ? मन मे अश्रद्धा आ जाती है। आकर्षण समाप्त हो जाता है। श्वास निरन्तर चल रहा है। उसे क्या देखना ? संसार में जो नया है, उसे देखना चाहिए। ससार मोहक है। कही पचास मंजिल वाले मकान हैं और कही काच की सडकें है। उन्हे देखो। देखते जाओ। श्वास को क्या देखना ? यह विचार आते ही आकर्षण की

धारा मुड़ जाती है। वह मोह के साम्राज्य मे चली जाती है। लड़ाई का मोर्चा ठडा पड जाता है। ध्यान भी चले और बाहरी आकर्षण भी बना रहे—दोनों बाते साथ-साथ नही चल सकती। बाहरी आकर्षण को तोडना होगा। खान-पान, रहन-सहन बदलना होगा। मै यह नही कहना चाहता कि पहले ही दिन सब कुछ बदल जाए। दो-चार दिनो मे बदल जाएगा। अभ्यास यदि लबा चलेगा तो धीरे-धीरे सब कुछ बदल जाएगा। रूपान्तरण होने लगेगा। वर्षो तक अभ्यास करना होगा। जीवनपर्यन्त अभ्यास करना होगा। किसी-किसी साधक को अनेक जन्मो में साधना करते-करते ही मजिल प्राप्त हो सकती है। एक-दो जन्मों मे नही।

हमे अपनी श्रद्धा को बदलना होगा। श्रद्धा का अर्थ है—आकर्षण, इच्छा। आकर्षण की धारा को मोड़ना होगा। आकर्षण की जो धारा एक दिशा मे बह रही थी, उसे मोड़कर विपरीत दिशा मे प्रवाहित करना होगा।

सफलता मे समर्पण का भी महत्त्वपूर्ण योग है। जो समर्पित नही, होता, वह सफल नही होता। लक्ष्य के प्रति जो डेडिकेट नही होता, वह कभी सफल नही होता। पूर्ण समर्पण। न तर्क, न वितर्क, केवल समर्पण। समर्पित भाव से एक छोटा व्यक्ति भी बहुत बड़ा काम कर सकता है। जिसमे समर्पण भाव नही है, वह शक्तिशाली होने पर भी छोटा-सा काम भी नही कर पाता।

हम अभ्यास के प्रारम्भ मे अर्हं-अर्हं की ध्वनि करते है। अर्हं के प्रति सपूर्ण भाव से समर्पित होते है। हम अपने समस्त आकर्षण को अर्हं के प्रति प्रवाहित करते हैं। हम सर्वात्मना 'अर्हं' के प्रति समर्पित हो जाते है और अपनी सारी श्रद्धा उसमें अन्तर्निहित कर देते हैं। अर्हं की ध्वनि गूजती है। सारा वातावरण उस ध्वनि से तरगित होकर विद्युतमय बन जाता है।

जब हम अपनी साधना को संपन्न कर उठते हैं तब भी हम अर्हं के प्रति समर्पण भाव या कृतज्ञताभाव ज्ञापित करते है। हम कहते हैं—'अरहते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरण पवज्जामि, केवलि पन्नत्त धम्मं सरण पवज्जामि।' पूरा समर्पण। महान् सत्य के प्रति समर्पण। अर्हत् कोई व्यक्ति नही है। सिद्ध कोई व्यक्ति नही है। साधु कोई व्यक्ति नही है। धर्म भी कोई व्यक्ति नही है।

अपनी ही आत्मा की सर्वोच्च अर्हता—सर्वोच्च क्षमता का विकास है, वह है अर्हत्। अपनी ही आत्मा की सपूर्ण सिद्धि का जो चरम बिन्दु है, वह है सिद्ध। अपनी साधना का जो निर्मल रूप है, वह है साधु। अपनी आत्मा का जो पूरा समर्पण है ज्ञान की आराधना के लिए, दर्शन की आराधना के लिए, चारित्र की आराधना के लिए, वह है धर्म। धर्म के प्रति समर्पण, साधना के प्रति समर्पण, सिद्ध के प्रति समर्पण और अर्हत् के प्रति समर्पण। जब साधक महान् शक्तियो के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है तब पराजित होने

का कोई कारण ही शेष नही रहता।

महाराजा कोणिक युद्ध कर रहा था। पराजय की वेला सामने थी। स्थिति लडखड़ाने लगी तब वह इद्र के प्रति समर्पित हो गया। अब कोणिक का काम लड़ना नही रहा। लडने का कार्य इन्द्र पर आ गया। जब इन्द्र ने स्थिति संभाल ली तब उसके सामने कोई योद्धा कैसे टिक पाता? कोणिक विजयी हो गया। जब हम महान् सत्य के प्रति समर्पित होते हैं, तब हमारी शक्ति शतगुणित हो जाती है। फिर हार या पराजय का प्रश्न ही नही उठता।

साधना के विघ्न और भी है। प्रमाद, अकर्मण्यता और आलस्य— ये मोह के ही योद्धा है, जो बार-बार आक्रमण करते हैं। युद्ध में दोनो प्रकार के शस्त्र प्रयुक्त होते है—अनुकूल और प्रतिकूल। प्रतिकूल शस्त्र रणभूमि मे कार्यकर होते है तो अनुकूल शस्त्र बिना रणभूमि के भी कार्य करते रहते हैं। आज के युद्ध मे दोनो प्रकार के शस्त्रास्त्र काम मे लिए जाते हैं। एक ओर अणुबम, टैंक आदि-आदि काम मे आते हैं। दूसरी ओर सुन्दरियां और गुप्त-चर भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सुन्दरियो को बडे-बड़े अधिकारियो के पास भेजा जाता है। वे उनको मोहित कर सारे रहस्य जान लेती हैं और फिर उन रहस्यो को अपने मूल अधिकारियो के पास पहुंचा देती हैं। आज भी प्रत्येक राष्ट्र के पास ऐसी हजारो सुंदरियां हैं, जो दूसरे-दूसरे राष्ट्रो मे गुप्तचरी करती हैं। मोहक अस्त्रो का यह प्रयोग भी युद्ध का अग बन चुका है। केवल मारक अस्त्रो से ही काम नही चलता, मोहक अस्त्र भी काम मे लिए जाते है।

साधना के क्षेत्र मे प्रमाद मोहक अस्त्र है। जब प्रमाद आता है तब ऐसा लगता है कि सब कुछ पा लिया। कुछ भी करने को नही है, कुछ भी करना शेष नही है। जब आदमी प्रमाद मे चला जाता है तब वह विजय की बात को भूल जाता है, लक्ष्य को भूल जाता है, उद्देश्य को भूल जाता है। आज तक दुनिया मे ऐसा कौन हुआ है, जो प्रमत्त रहा हो और अपने आपको न भुला दिया हो। जब प्रमाद आलस्य और अकर्मण्यता आती है तब सामने जीतने की स्थिति होने पर भी व्यक्ति विजय को उपलब्ध नही होता।

एक राजा को मत्री की नियुक्ति करनी थी। वह नियुक्ति से पूर्व परीक्षा करना चाहता था। सात व्यक्ति आए। उसने सबको एक कमरे मे बिठाकर कहा—'आप सब यहा बैठें। मैं कमरे के बाहर ताला लगा देता हू। जो भी ताले को खोलकर बाहर निकल आएगा, उसे मन्त्री बनाऊगा। सबने सुना। सोचा—'कितनी विचित्र परीक्षा। दरवाजा बंद। बाहर से ताला बंद और भीतर वालों से कहे कि बाहर आओ। यह असंभव है।' छह

व्यक्तियो ने सोचा—'राजा पागल हो गया लगता है। यह असभव है। यह भी कोई परीक्षा होती है! दूसरे प्रकार से भी परीक्षा ली जा सकती थी। बाहर जाना कैसे सभव हो सकता?' वे हाथ पर हाथ दिये बैठे रहे। कुछ पराक्रम नही किया। सातवां व्यक्ति अकर्मण्य नही था, पुरुपार्थी था। उसने सोचा—'जरूर इस शर्त मे कोई रहस्य है। राजा ऐसी शर्त क्यो रखता? मुझे अपना पुरुषार्थ करना है। वह उठा। दरवाजे के पास गया। उसे जोर से ढकेला, वह खुल गया। उसने बाहर आकर राजा का अभिवादन किया। दरवाजे पर कोई ताला लगाया ही नही था, केवल सबको भुलावे मे रखा था। राजा जानना चाहता था कि कौन कर्मण्य है और कौन अकर्मण्य। सबका कर्त्तव्य था कि वे पुरुपार्थ करते। ताला खुले या नही, यह अलग प्रश्न था। उन्होने सोचा—'जब बाहर ताला है तब दरवाजा कैसे खुलेगा?' इसी भ्रम ने उन्हे अकर्मण्य बना डाला। वे बाजी हार गए। जिसने पुरुषार्थ किया, कर्मण्यता का परिचय दिया, जीत गया। वह मत्री बन गया।

यह बात सदा स्मृति मे रहनी चाहिए कि जब अध्यात्म के पथ पर चल पडे है, लडाई प्रारभ कर दी है तो अकर्मण्य नहीं बनना है। साधक यह मानकर न बैठ जाए—बाहर ताला लगा हुआ है। ताला नही है तो दरवाजा खुल जाएगा और यदि ताला लगा हुआ भी है तो वह प्रयत्न से खुल जायेगा। पुरुषार्थ के सामने वह बन्द रह नहीं सकता। साधक यह मानकर प्रयत्न छोड दे—आज के युग में अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान या केवलज्ञान तो प्राप्त हो ही नही सकता। ऐसा साधक इन महान् उपलब्धियों को कभी प्राप्त नही कर सकता। वह प्रयत्न को चालू रखे। सब कुछ सभव है प्रयत्न करने वाले के लिए। सब कुछ असभव है प्रयत्न न करने वाले के लिए। सब कुछ सभव है कर्मण्य और पुरुषार्थी के लिए। सब कुछ असंभव है अकर्मण्य और अपुरुपार्थी के लिए।

जैन परपरा के आचार्यो ने कहा—'जबूस्वामी अन्तिम व्यक्ति थे, जिन्होने मोक्ष प्राप्त किया। उनके बाद कोई मोक्ष नही पा सकता। अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान नही हो सकते।' आचार्यो ने इन विशिष्ट उपलब्धियो की प्राप्ति को सर्वथा नकार दिया, ताला ही लगा दिया। लोगो के मन मे यह बात इतनी घर कर गयी कि उन विशिष्ट प्रक्रियाओं का प्रयत्न ही छूट गया। उपलब्धि के लिए प्रयत्न आवश्यक है। प्रयत्न ही न हो तो उपलब्धि कैसे हो सकती है?

कुछ वर्ष पूर्व 'मनोनुशासनम्' ग्रन्थ का कार्य चल रहा था। जैन परम्परा मे 'जिनकल्प' एक विशिष्ट साधना पद्धति है। उसका प्रसग चला। अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति का प्रश्न आया। आचार्यश्री ने कहा—'मैं पुराने आचार्यो की अवज्ञा करना नही चाहता, किन्तु यह कहना अवश्य चाहूगा कि

जिन आचार्यों ने विशिष्ट उपलब्धियों के न होने का प्रतिपादन किया, उन्होने जैन परम्परा का हित नही किया। उससे अहित ही हुआ। साधकों के मन मे हीन भावना पैदा हो गयी और उनका प्रयत्न शिथिल हो गया।

जब आदमी मानकर बैठ जाता है तब उस दिशा मे गमन ही नही होता। व्यक्ति उस ओर एक डग भी नही भरता। उसकी हार तो पहले ही हो जाती है। प्राप्ति की बात सर्वथा छूट जाती है।

एक व्यक्ति ने अपने मित्र से साठ रुपये उधार लिये। कुछ दिन बाद वह आया और बीस रुपये देकर बोला—'सारे रुपये आ गए ?' मित्र ने कहा—'साठ दिए थे और तुम बीस लौटा रहे हो, तो अभी चालीस रुपये बाकी रहेंगे।' उसने कहा—'नही, दस और दस साठ होते है। मैने साठ रुपये लौटा दिए है।' मित्र ने कहा—'भोले आदमी ! गणित का नियम है—दस और दस बीस ही होते है। तीस और तीस साठ होते हैं।' उसने कहा—'मै इस नियम को नही मानता। मैं तो यही मानता हूं कि दस और दस साठ होते है। मेरी मान्यता मेरे पास और तुम्हारी मान्यता तुम्हारे पास।'

ऐसा मानने वाले को विधाता भी नही समझ सकता।

हम मानने की बात को छोड़ दे। सदा जानने का प्रयत्न करे। हम विशिष्ट उपलब्धियो के लिए प्रयत्न करे। वे प्राप्त हो तो ठीक है, न हो तो कोई बात नही। पुरुषार्थ को सही दिशा में लगाए। पुरुषार्थ निरंतर हमारा साथ दे। हम प्रयत्न को बन्द न करे। मन की सक्रियता को कम करे। यह कायोत्सर्ग के द्वारा हो सकता है। कायोत्सर्ग का अर्थ है—कायगुप्ति। कायोत्सर्ग की प्रक्रिया शक्ति-संतुलन की प्रक्रिया है। हमारी शक्ति क्षीण न हो। शक्ति बनी रहे। उसके लिए शरीर को पूरा पोषण मिलता रहे। केवल खाने से ही पोषण नही मिलता। कायोत्सर्ग भी उस पोषण की एक कड़ी है।

मनोगुप्ति करे, जिससे मन की शक्ति भी क्षीण न हो। वाक्गुप्ति जिससे वाणी की शक्ति क्षीण न हो। तीन गुप्तिया साथ-साथ चले। ये साधक के कवचरूप है। इन तीनो कवचो से कवचित साधक कभी नही हारता।

भगवान् महावीर ने कहा—आत्मा से लडो। बाहर लड़ने से क्या होगा ? मोह और मूर्छा से लड़ो। यह दुर्लभ लड़ाई है। इस युद्ध में सम्मिलित होने का अवसर किसी-किसी को प्राप्त होता है, सबको नही। 'जुद्धारिय खलु दुल्लह'— ऐसे युद्ध का अवसर कभी-कभी मिलता है।'

हम युद्ध के क्षेत्र से कभी पीछे न हटें। आगे बढते जाए। अपने पुरुपार्थ का पूरा उपयोग करें। अपनी शक्ति को काम मे ले और जो कुछ बीच मे आए, उसे हटाते चलें। निराश न हों। सदा आशावान् रहें। विजय निश्चित है।

प्रवचन १९

संकलिका

- तनाव-मुक्ति :
  उपाय—कायोत्सर्ग ।
- जागरूकता
  उपाय—श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा ।
- अन्त:करण का परिवर्तन :
  उपाय—चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा ।
- अपने-आपमें समाधान खोजने की प्रवृत्ति
  उपाय—भीतर देखने, अपने-आपको देखने का अभ्यास ।
- उलझे हुए प्रश्न का समाधान :
  उपाय—दस मिनट आनन्द-केन्द्र मे पीले रग का ध्यान ।
- मानसिक उत्तेजना का निवारण :
  उपाय—दस मिनट ज्ञान-केन्द्र मे श्वेत रग का ध्यान ।
- मन की अशान्ति की समाप्ति :
  उपाय—सुषुम्ना मे मन की यात्रा ।
- अकर्मण्यता, आलस्य, निष्क्रियता का निवारण :
  उपाय—दस मिनट तक दर्शन-केन्द्र मे लाल रग का ध्यान ।

साधना की निष्पत्ति

प्रारम्भ और परिणाम—दोनो साथ-साथ रहते हैं। दोनो एक साथ उत्पन्न नही होते, किन्तु दोनो जुडे रहते है। एक पहले होता है और एक पीछे। कोई भी मनुष्य कुछ प्रारम्भ करता है तो पहले सोच लेता है कि इसका परिणाम क्या होगा ? निष्पत्ति क्या होगी ? परिणाम या निष्पत्ति का चिंतन किए विना कोई भी कार्य प्रारम्भ नही किया जाता। परिणाम का चिंतन किए विना जो कार्य प्रारम्भ करते हैं, वे बहुत समझदार नही होते।

अध्यात्म के पथ पर चरणन्यास करने वाला साधक भी पहले यह सोचता है कि इस साधना की निष्पत्ति क्या होगी ? जो वीज बोया है, उसका फल कैसा होगा ? फल की वात समझ मे आ जाए तो व्यक्ति चलना प्रारम्भ कर देता है। निष्पत्ति की वात बहुत आवश्यक है। निष्पत्ति के बिना साधना का कोई क्रम नही चल सकता।

साधना की पहली निष्पत्ति है—तनावमुक्ति। जो साधना करेगा, उसको यह सुखद अनुभव होगा—उसके तनाव धीरे-धीरे विसर्जित हो रहे है। व्यक्ति कायोत्सर्ग करे और तनाव न मिटे, यह कभी नहीं हो सकता। कायोत्सर्ग तनाव-मुक्ति का अचूक उपाय है। कायोत्सर्ग भी चले और तनाव भी चले—यह हो नही सकता। कायोत्सर्ग सधते ही तनाव मिट जाता है। उसे मिटना ही होता है। एक ही रह सकता है—या तो कायोत्सर्ग रहेगा या तनाव। दोनो नही रह सकते। इन दोनो मे कोई समझौता नही है। जिन्होने कायोत्सर्ग का अभ्यास किया है, शरीर के शिथिलीकरण का प्रयत्न किया है, ममत्व के विसर्जन का अभ्यास किया है, मानसिक ग्रन्थियो को खोलने का अभ्यास किया है, उन्होने यह अनुभव किया है कि शरीर हलका हो गया है। वह सर्वथा तनावमुक्त हो गया है। उनका शरीर जमीन से ऊपर उठ रहा है। शरीर का जमीन से ऊपर उठना छोटी वात है। वडी वात है मानसिक वोझ का कम होना, मन के वोझ से ऊपर उठना। कायोत्सर्ग करने वाला केवल भूमि से ही ऊपर नही उठता, मन के वोझ से भी ऊपर उठ जाता है। वह हलका हो जाता है। यह प्रत्यक्ष लाभ है—कायोत्सर्ग का।

योग के सभी आचार्यों ने एक वात पर वल दिया कि जो भी व्यक्ति साधना मे प्रवेश करे, उसे तत्काल कुछ अनुभव करा देना चाहिए। इससे उस साधक की आस्था साधना मे जम जाएगी। यदि गुरु शिष्य को साधना का उपदेश देता रहे, कोरी व्याख्या समझाता रहे, कोरा विश्लेपण करता रहे

और कुछ भी अनुभव न कराए तो वह योग्य गुरु नही हो सकता। साधना के क्षेत्र में अध्यापक का मुख्य काम है अनुभव कराना, समझाना गौण काम है। बुद्धि के क्षेत्र मे समझाने की बात चल सकती है, किन्तु विज्ञान या साधना के क्षेत्र मे यह नही चल सकती। विज्ञान का विद्यार्थी प्रत्येक सिद्धात को प्रैक्टिकल रूप से सिद्ध करना चाहेगा। केवल समझाने की बात उसे मान्य नही होगी। साधना का क्षेत्र पूरा वैज्ञानिक क्षेत्र है। इसमे केवल सिद्धांत नही चलता। इसमे प्रयोग और अनुभव चलता है।

यदि साधक को कायोत्सर्ग की व्याख्या बुद्धि के स्तर पर समझा दी जाए तो उसके दिमाग मे और-और जो उलझने हैं, उसके साथ यह एक उलझन और बढ जाएगी। मनुष्य का मस्तिष्क बुद्धि के भार से पहले ही आक्रात है, उसमे थोडा भार और बढ जाएगा। ऐसा नही होना चाहिए। हम चले हैं—भारमुक्ति के लिए, यदि हम और भार बढ़ाए तो यह बुद्धिमत्ता नही होगी। हमे अनुभव के स्तर पर चलना है। स्वय का प्रयोग और स्वय का अनुभव ही अध्यातम की साधना मे साथी होते हैं। अपना अनुभव, अपना प्रयोग और अपना परीक्षण। सिद्धात को समझने का इतना-सा उपयोग है कि हमारी दृष्टि साफ हो जाए। दृष्टि के साफ होने पर फिर करना ही शेष रहता है। करना मुख्य होता है, जानना गौण हो जाता है।

कायोत्सर्ग करने वाला साधक पहले ही दिन या दूसरे दिन यह अनुभव करता है कि उसका शरीर हलका हो गया है, भार मिट गया है।

अध्यात्म साधना की दूसरी निष्पत्ति है—जागरूकता। मन को जागरूक बना देना। मन को जागरूक बनाए विना हम मनचाहा काम उससे नही ले सकते। हम शरीर-प्रेक्षा करते हैं। मन को भीतर ले जाने का प्रयास करते हैं, किन्तु वह बाहर ही बाहर दौड़ता है, भटकता है। क्योकि वह जागरूक नही है। अजागृत अवस्था मे ऐसा ही होता है। जब मन जाग जाता है तब सब कुछ जाग जाता है। मन को जगाने के बाद और किसी को जगाने की आवश्यकता नही होती। मन जब जाग जाता है तब अपने भीतर बैठा हुआ अपना प्रभु, अपना परमात्मा जाग जाता है। जब मन नही जागता तब भीतर बैठा हुआ प्रभु भी नही जागता।

दूसरा महायुद्ध चल रहा था। भीषण बमवर्षा हो रही थी। लन्दन नगर सत्रस्त था। सारे नगर मे भय का साम्राज्य छाया हुआ था। उस नगर मे एक बूढी महिला निश्चिंत सोती और निश्चित जागती। आस-पास के लोगो की नीद हराम हो चुकी थी। वे न तो सुख से सो पाते और न सुख से जाग पाते। दूसरे सभी जागते किन्तु बुढिया निश्चित सोती, गहरी नीद लेती। लोगो ने बुढिया से पूछा—मा! क्या बात है? सारा नगर भय से आक्रात है। यहां कोई भी सुख की चैन नही सो सकता। तुम कैसे सुखपूर्वक

सो जाती हो ? रहस्य क्या है ?' बुढ़िया ने कहा—'बेटा ! मेरा प्रभु सदा जागता है फिर मैं क्यों जागती रहूं ? दो को जागने की जरूरत नही है ।'

यह सच है । जब मन जाग जाता है फिर कोई जागे या न जागे कोई जरूरत नही है । किसी को जागने की जरूरत नही है । वास्तविकता तो यह है कि मन के जागने पर कोई सोया रह नही सकता ।

जागरूकता का अचूक उपाय है—श्वास-प्रेक्षा । हम भीतर जाने वाले श्वास को भी देखे और बाहर निकलने वाले श्वास को भी देखे । यदि मन जागरूक होगा तो श्वास को ठीक से देखा जा सकेगा । यदि मन जागरूक नही होगा तो न बाहर जाने वाला श्वास दीखेगा और न भीतर जाने वाला श्वास ही दीखेगा । दरवाजे पर खडा प्रहरी यदि जागरूक नही होता है तो कोई भी भीतर जा सकता है, कोई भी बाहर आ सकता है । फिर प्रहरी होने का कोई अर्थ ही नही है । आते-जाते, श्वास को देखते-देखते मन इतना जागरूक हो जाता है कि फिर एक भी उससे बचकर निकल नही पाता । श्वास का काम है निरन्तर चलना । मन का काम यह नही है कि वह इसी सीमा मे चले, श्वास के साथ ही रहे । श्वास का क्षेत्र सीमित है । मन का क्षेत्र असीम है । श्वास की यात्रा छोटी है । नथुने से फेफडे तक ही उसकी यात्रा होती है । किन्तु मन का मार्ग बहुत लम्बा-चौडा है, बहुत दीर्घ है । वह एक क्षण मे सारी दुनिया का चक्कर लगा सकता है । इतनी विशाल यात्रा करने वाले और इतनी तीव्र गति से चलने वाले मन को श्वास जैसे छोटे यात्री के साथ जोडे रखना बहुत ही कठिन काम है । मन को छोटी-सी यात्रा और सकीर्ण यात्रा-पथ से बाध लेना, वास्तव मे ही बड़ी बात है । किन्तु यह किया जा सकता है । ऐसा करने पर ही मन जागरूक होता है । फिर वह कभी नही सोता । उसकी जागृति बनी रहती है । वह श्वास का साथी बन जाता है ।

साधना की तीसरी निष्पत्ति है—अन्त.करण का रूपान्तरण रूपान्तरण की बहुत बडी समस्या है । व्यक्ति ने बदलने के लिए हजारो प्रयत्न किए हैं । वह कितना साहित्य पढता है, प्रवचन सुनता है, आदर्श पुरुषो की जीवन-गाथा पढ़ता है, कितने प्रलोभन और भय से वह गुजरता है, फिर भी वह नही बदलता और यदि कुछ थोडा सा रूपान्तरण होता है तो वह नगण्य-सा होता है । प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को भला बनाने की बात निरतर सोचता है, चाहे फिर वह स्वय भला हो या न हो । कवि कविताए बनाता है और यही चाहता है कि उसकी कविताओ से सारा रूपान्तरण घटित हो जाए, सारे आदमी कविता को सुनकर बदल जाए । किंतु वह स्वय खाली ही रह जाता है ।

एक कवि ने अपनी पत्नी से कहा—'आज ऐसी कविता सुनाऊगा कि

सारी दुनिया मे आग लग जाएगी ।' पत्नी ने कहा—'क्यों शेखी बघारते हो! दुनिया की बात छोडो । आज घर मे कोयला नही है, लकडी नही है । अपने कविता-पाठ से चूल्हे को जला दो तो जानू ।'

दुनिया में आग लगाने वाला कवि अपने घर के चूल्हे मे आग नही लगा पाता । दुनिया को बदलने का प्रयत्न करने वाला प्रवचनकार स्वयं को नही बदल पाता । दुनिया को हंसाने वाला स्वयं रो-रोकर जिंदगी विताता है ।

ब्रिटेन का बहुत बड़ा हास्यकार था—ग्रेमाल्डी । वह बीमार हो गया । डॉक्टर के पास जाकर बोला—'डॉक्टर ! मेरी चिकित्सा करो । मैं बहुत दु:खी हू । मैं बहुत खिन्न हूं । मैं मानसिक व्यथाओ से घिरा हुआ हूं, पीडित हू ।' डॉक्टर ने उसका परीक्षण किया, कुछेक प्रश्न पूछे । अन्त में डॉक्टर ने कहा—'मैंने तुम्हारी बीमारी का मूल पकड़ लिया है । मैं तुम्हे कोई दवा नही दूगा । मेरा एक परामर्श मानो, तुम स्वस्थ हो जाओगे । तुम एक सप्ताह अपने देश के प्रसिद्ध हास्यकार ग्रेमाल्डी के पास रहो । तुम नीरोग हो जाओगे । तुम्हारी मानसिक ग्रन्थियां खुल जाएगी ।'

उसने सुना । वह अवाक् रह गया । आश्चर्य-भरी वाणी से वह बोला—'डॉक्टर ! मै ही हू ग्रेमाल्डी । दुनिया को हसाने वाला, सुख देने वाला, तृप्ति देने वाला मै ही हू ग्रेमाल्डी । मैं कितना दु:खी हू ! '

यह है संसार का रवैया । प्रत्येक कवि, साहित्यकार, नेता—सब दुनिया को वदलने मे लगे हैं । वे स्वय के अतिरिक्त सब-कुछ वदल देना चाहते हैं । वे यही चाहते हैं कि ससार का प्रत्येक आदमी पवित्र वन जाए । दुनिया का नक्शा ही वदल जाए । किन्तु जब तक वृत्ति का रूपातरण नही होता, जब तक वृत्ति का मूल नही वदलता, तब तक वास्तविक रूपांतरण घटित नही होता । जब तक अन्त करण नही वदलता तब तक बाहरी कलेवर वदल जाने पर भी कुछ नही वदलता । इतना मात्र होता है कि जो बीमारी वाहर होती है वह और गहरी चली जाती है । डॉक्टर के लिए समस्या वन जाती है । जो दिन मे किया जाता था, वह रात मे होने लगता है । जो प्रकाश मे किया जाता था, वह अधेरे मे होने लगता है । केवल इतना परिवर्तन आ सकता है, और अधिक नही ।

जादूगर ने चूहे को वाघ वना दिया । सोचा कि लोगो को करतब दिखाऊगा । करतब दिखाने का मौका आया । सामने से एक विल्ली आई और वाघ भाग खड़ा हुआ । जादूगर हैरान रह गया । उसने सोचा—'चूहा वाघ वन गया, पर उसका अन्त करण नही वदला । अन्त.करण मे वह चूहा ही रहा, इसीलिए विल्ली को देखते ही वह भाग गया ।'

जब तक अन्त:करण नही वदलता तब तक चूहा चाहे वाघ वन जाए या और कुछ, वह विल्ली से डरता ही रहेगा ।

हमारी साधना परिवर्तन की साधना है। यह केवल कपड़े बदलने या शरीर को बदलने की साधना नही है, यह अन्त.करण को बदलने की साधना है। अन्तःकरण को बदलने का उपाय है—चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा। हमारे शरीर मे अनेक चैतन्य-केन्द्र है। हम उनकी प्रेक्षा करते है। कभी हम तीन चैतन्य-केन्द्रो, कभी दो और कभी एक को देखते है। कभी पूरे वर्तुल में उनकी प्रेक्षा करते है, उन पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। जैसे ही हमारा ध्यान, जैसे ही हमारी मानसिक आखे उन केन्द्रो पर टिकती हैं, वे सक्रिय हो जाते हैं। उनके स्रावो मे परिवर्तन होने लगता है। जो कर्म-शरीर के सक्रिय गुप्तचर थे, हमारे गुप्तचर बन जाते हैं। वे हमारे अधीन हो जाते है। वे गुप्तचर नही 'खुलेचर' बन जाते हैं। सारी क्रियाओ मे परिवर्तन होने लग जाता है। जब ग्रन्थियों के स्राव में परिवर्तन आता है तब अन्त.करण अपने आप बदल जाता है।

एक व्यक्ति चेन-स्मोकर है। बहुत सिगरेट पीता है। पहली सिगरेट से दूसरी सिगरेट सुलगाता है। साधना शिविर मे आने से पूर्व उससे कहा—'सिगरेट छोड़ दो। इससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।' उसने कहा—'क्या मैं इतना भी नही समझता ? क्या मैं मूर्ख हू ? दुनिया मे इतने पदार्थ है, यदि व्यक्ति उनका उपभोग न करे तो क्या होगा उन पदार्थो का ? वे फिर बनाए ही क्यो जाएंगे ? यदि हम सिगरेट न पीएं तो क्या एक व्यवसाय बद नही हो जाएगा ? क्या आर्थिक दृष्टि से समाज घाटे मे नही रहेगा ?'

वह व्यक्ति शिविर मे रहा। ध्यान का क्रम सीखा। चैतन्य-केन्द्रो पर मन एकाग्र करना सीखा। धीरे-धीरे उसका अन्तःकरण बदलने लगा। उसको सिगरेट से घृणा हो गयी और आज यह स्थिति है कि उसके पास भी यदि कोई सिगरेट पीता है तो उसे वमन जैसा होने लगता है। यह है अन्तःकरण का रूपातरण। जब अन्त करण बदल जाता है तब किसी उपदेश की आवश्यकता नही होती, जो होना होता है वह स्वत. घटित होने लग जाता है। व्यक्ति स्वय द्रष्टा बन जाता है। उपदेश, शिक्षा और कथन उन व्यक्तियो के लिए हैं, जो देखना नही जानते, जो द्रष्टा नही है।

विज्ञान मे तीन आयाम मान्य हैं—लबाई, चौडाई और ऊचाई। उसमे अब चौथा आयाम भी मान्य हो गया है। चौथा आयाम है—काल। पुरुष के भी तीन आयाम हैं—स्मृति, चिंतन और कल्पना। उसका चौथा आयाम प्रेक्षा हो सकता है। इस आयाम मे किसी को कुछ कहने की जरूरत नही होती। मनुष्य स्वय चलता है, प्रवृत्त होता है। चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा के अभ्यास के द्वारा सब कुछ घटित होता है। द्रष्टाभाव यह चौथा आयाम है। जब यह खुल जाता है तब रूपातरण घटित होता है।

साधना से सब कुछ एक साथ हो जाता है, यह अति-कल्पना है।

साधना जादू का डडा नही है कि उसे घुमाते ही सारे परिवर्तन घटित हो जाएं। इसे निष्पत्ति का आदि-विन्दु माने। उपलब्धि होगी, पर धीरे-धीरे। ज्यो-ज्यो साधना परिपक्व होगी, मन की एक दिशागामिता सधेगी, आकर्षण की धारा मुडेगी तो सब कुछ प्राप्त होता जाएगा। हम दस दिन या एक महीने की साधना कर यह न माने कि हमने साधना की चोटी का स्पर्श कर लिया, हम वीतराग बन गए या सभी आकर्षणो से छूट गए, हमारी वासनाएं समाप्त हो गयी। यह भ्राति है। यह कुछ ही समय मे घटित होने वाली अवस्था नही है। यह काल-सापेक्ष है। इसकी उपलब्धि पुरुषार्थ, आस्था साधना की दीर्घकालिता और निरतरता पर निर्भर है। यदि पुरुपार्थ, श्रद्धा, दीर्घकालिता और निरन्तरता बनी रही तो एक दिन साधना की चरम उपलब्धि हो सकती है, सिद्धि का शिविर हस्तगत हो सकता है। साधक वीतराग बन सकता है, आत्मा के अस्तित्व का साक्षात् कर सकता है।

साधना की चौथी निष्पत्ति है—अपनी समस्याओ का समाधान अपने-आप मे ढूढना। इस खोज की मनोवृत्ति को जगाना चाहिए। राजनीति का सूत्र है दूसरे को देखो। राजनेता सारा दोष दूसरो पर मढता है। वही सफल राजनेता होता है जो दूसरो को अधिक से अधिक दोषी ठहराए और स्वय दोषो से वच निकले। अध्यात्म इसके विपरीत है। सफल आध्यात्मिक वह होगा जो अपने दोषो को पहले देखेगा। दूसरो के दोषो की ओर अंगुली नही करेगा। उसका सूत्र ही है—स्वयं को देखो। जव हम स्व-प्रेक्षा करने लग जाते है तव पर-प्रेक्षा का धागा टूट जाता है और इसके साथ-साथ दूसरो से समाधान पाने की वात भी छूट जाती है। साधक अपने मे ही सारे समाधान ढूढने लगता है और समाधान के सारे सूत्र उसे वहां उपलब्ध हो जाते हैं।

हम नही जानते कि हमारे भीतर सारे समाधान हैं, इसलिए हम समाधानो की खोज वाहर मे करते हैं। यदि यथार्थ मे यह वात ज्ञात हो जाए तो हमारा भटकाव मिट सकता है।

एक-दो प्रयोगो की चर्चा प्रस्तुत करता हू। जव कभी अकर्मण्यता, आलस्य या प्रमाद छा जाए तव हम दर्शन-केंद्र की प्रेक्षा करें। कुछ ही समय मे ताजगी का सचार होगा। अकर्मण्यता, आलस्य और प्रमाद मिट जाएगे। स्फूर्ति का अनुभव होने लगेगा। मन कर्मण्यता और उत्साह से भर जाएगा।

कोई व्यक्ति मानसिक उत्तेजना से ग्रस्त है। वह यदि दस मिनट तक ज्ञान-केंद्र पर नारगी रंग का ध्यान करता है तो उत्तेजना शात हो जाती है।

कोई व्यक्ति वासनाओ के उभार से पीडित है। वह यदि दस मिनट तक ज्योति-केंद्र, ललाट के मध्य मे ध्यान करे और आतरिक श्वास गले को छूते हुए ले तो वासनाएं शांत हो जाती हैं।

ये चैतन्य-केंद्रो पर ध्यान करने के कुछेक फलित हैं। उनमे और-और समाधान भी है। प्रयत्न करने पर वे सारे खोजे जा सकते हैं। समस्या भी बाहर से लाते है, समस्या का भार बाहर से ढोते हैं और समाधान भी बाहर मे खोजते है। भीतर कोई समस्या नही है, यह सच है। समस्या बाहर से ही आती है। परन्तु उसका समाधान हम बाहर से ही क्यो लाएं ? भीतर उसका समाधान है। यह अनुभूति तब होती है जब हम चैतन्य-केंद्र-प्रेक्षा करते हैं। हमारे भीतर समाधान बहुत हैं। सारे हमने खोज लिये, यह मै नही कहता। जितने खोजे गए है, उनका हम उपयोग करे।

: ३ :

मानसिक प्रशिक्षण

प्रवचन २० | संकलिका

१. चेतना के दो आयाम—इन्द्रिय चेतना का आयाम और मनश्चेतना का आयाम ।

२ ये दो आयाम द्वन्द्व की आपूर्ति से सबद्ध ।

३ द्वन्द्व पाच है—

- ० लाभ और अलाभ का पहला द्वन्द्व ।
- ० सुख और दुःख का दूसरा द्वद्व ।
- ० जीवन और मरण का तीसरा द्वद्व ।
- ० निन्दा और प्रशसा का चौथा द्वंद्व ।
- ० मान और अपमान का पांचवां द्वंद्व ।

४ तीसरा आयाम है समभाव ।

५ यह है—अध्यात्म के विकास का आदि-विंदु ।

६. यह है – द्वद्वातीत चेतना ।

चेतना का तीसरा आयाम

हम मनुष्य है। मनुष्य हैं, इसलिए सौभाग्यशाली हैं। हमारे सौभाग्य का मूल आधार है -हमारी शक्तियों के विकास करने की क्षमता। इन्द्रिय चेतना, मानसिक चेतना और मनोतीत चेतना को विकसित करने की क्षमता हमारे भीतर है। इन्द्रिय चेतना प्राणी मात्र मे होती है। अत्यन्त अविकसित प्राणियो -स्थावर प्राणियो में भी वह होती है। दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले प्राणियों मे वह चेतना उपलब्ध है किन्तु मनुष्य मे इस चेतना को विकसित करने की अपूर्व क्षमता और सभावनाए हैं। ऐसी संभावना दूसरे प्राणियो को उपलब्ध नही है। मानसिक चेतना की भी यही स्थिति है। मन दूसरे प्राणियो मे भी होता है, पशुओ मे भी मन होता है, किन्तु मन के विकास की जो सभावनाएं मनुष्य को उपलब्ध हैं, वे पशुओ को उपलब्ध नही हैं। मनुष्य मन का बहुत विकास कर सकता है, मन की शक्ति को शिखर तक ले जा सकता है।

मन बहुत शक्तिशाली है। उसमे अनत शक्तिया हैं। मन के द्वारा स्मृति होती है, कल्पना और चिंतन होता है। हम स्मृति करते हैं, इसलिए मन की क्षमता को जानते है। हम कल्पना करते है, इसलिए मन की क्षमता से परिचित है। हम चिंतन करते है, इसलिए मन की क्षमता से परिचित हैं। किन्तु मन की क्षमताए इतनी ही नही हैं, और भी व्यापक हैं। किन्तु वे व्यापक क्षमताएं तब जानी जा सकती है और तब उनका विकास किया जा सकता है जब सबसे पहले हम ज्ञात क्षमताओ से कुछ दूर हट सके। जब तक हम स्मृति, कल्पना और चिंतन के घेरे मे रहेगे तब तक मन की सभावित क्षमताओ के बारे मे हम जान नही पाएगे।

हमने मन की एक सीमा बना ली है। हम उसके बाहर जाकर देखना नही चाहते। इस संकुचित दायरे को तोडे बिना क्षमताओ का विकास नही हो सकता। स्मृति, कल्पना और चिंतन—इन तीनो वलयो को तोडे बिना हम अपनी मानसिक क्षमताओ का अकन नही कर सकते। मन की शक्ति के द्वारा दूसरो के विचार जाने जा सकते है, दूसरो के विचारो को प्रभावित किया जा सकता है, सदेश भेजा जा सकता है, संदेश मगाया जा सकता है। मन की शक्ति से पौधो को भी प्रभावित किया जा सकता है। जिस प्रकार चेतन को प्रभावित किया जा सकता है वैसे ही अचेतन को भी प्रभावित किया जा सकता है। मन से पदार्थ परिचालित किए जा सकते हैं, स्थानातरित

किए जा सकते है, एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजे जा सकते है। इस प्रक्रिया मे केवल मन की शक्ति ही काम करती हैं। किसी को छूने की जरूरत नही है। जब मन जागृत हो, अभ्यस्त और प्रशिक्षित हो तो ये कार्य सहज-सरल हो जाते है।

प्रश्न होता है कि मन को प्रशिक्षित और अभ्यस्त कैसे किया जा सकता है? उसको जागृत करने का उपाय क्या है?

मन को जागृत करने का एकमात्र उपाय है—जीवन की दिशा को वदलना, जीवन की गति को वदलना। श्वास को बदले बिना जीवन की दिशा को नही वदला जा सकता। श्वास की गति को बदले बिना जीवन की गति को नही वदला जा सकता। हमारी सारी शक्तियो का प्रतिनिधि है—श्वास, प्राण। सारा जीवन प्राण के द्वारा संचालित है। हम प्राणी हैं। प्राण हैं, इसलिए हम जीवित हैं। निष्प्राण का अर्थ है मृत। जब तक प्राण का दीप जलता है तब तक सब कुछ है। हम ऐसा प्रयत्न करे, जिससे यह दीप सदा जलता रहे। ऐसे दीप इस दुनिया मे जले है जो शताब्दियो तक जलते रहे हैं। एक दीप वह होता है जो घण्टा-भर जलकर बुझ जाता है। किन्तु मनुष्य ने ऐसे दीप भी जलाए, जो सैकडो वर्षो तक जलते ही रहे।

इटली देश का एक किसान खेत मे काम कर रहा था। काम करते-करते उसका फावडा एक स्थान पर अटक गया। आस-पास से खोदना शुरू किया। वहा एक दरवाजा दिखाई दिया। दरवाजे को तोडा। जब वह उसके भीतर प्रवेश करने लगा तब उसे वहा प्रकाश दिखाई दिया। एक दीया जल रहा था। उसने सोचा–प्रेतात्मा है। भला, जमीन के भीतर दीया कैसे जले? वह निकट गया। उसने देखा, न तेल है और न वाती। वह बिना तेल और वाती का दीया था, उसके बुझने का प्रश्न ही नही होता। वह जलता रहा है और जलता ही रहेगा। वह निरन्तर जलने वाला दीया था। उसको मनुष्य ने ही वनाया था।

जब बाहर ऐसे दीप जलाए जा सकते हैं, तब क्या भीतर ऐसे दीप नही जलाए जा सकते, जो सहस्राब्दियो तक निरन्तर जलते रहे! ऐसे दीप जलाए जा सकते हैं। उनके लिए अलग प्रकार की वाती चाहिए, अलग प्रकार का तेल चाहिए, जो कभी समाप्त न हो। ऐसे दीपो के लिए हवा की आवश्यकता नही होती। उनको जलाने के लिए विशेष ईन्धन चाहिए। पहला ईन्धन है—श्वास। श्वास के ईन्धन से ही ऐसे दीप जलाए जा सकते हैं, जो निरतर जलते रहे। जिन लोगो ने श्वास की साधना नही की, श्वास को नही देखा, नही जाना, वे कभी भी प्रकाश-केन्द्र तक नही पहुंच सकते। क्योंकि जब तक श्वास को नही देखा जाता तब तक विकल्पो का शमन नही हो पाता और जब विकल्पो का शमन नही होता, स्मृति और कल्पना की उधेड़बुन समाप्त

नही होती, तब तक निरतर जलने वाला, वाती और तेल से शून्य, दीप नही जलाया जा सकता। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि जितने अर्हत्, तीर्थंकर या विशिष्ट ज्ञानी हुए है, विशिष्ट साधक हुए है, उन सबने श्वास का ईंधन काम मे लिया है। वर्तमान के विशिष्ट साधक भी इसी ईंधन के सहारे प्रकाश तक पहुचते है और अनागत काल मे भी यही ईंधन प्रकाश तक ले जाने वाला होगा। यही एकमात्र उपाय है। श्वास का सयम और श्वास की गति का परिवर्तन—साधना की यह प्रमुख शर्त है।

मन की शक्ति को विकसित करने के लिए प्राणवायु की शक्ति का विकास करना बहुत आवश्यक होता है। प्राण की शक्ति को विकसित करने के लिए श्वास की शक्ति बहुत जरूरी है। इसकी एक शृखला है। सूक्ष्म शरीर से प्राण की शक्ति आती है। उस प्राण के द्वारा प्राणी बनता है और यह प्राण की धारा श्वास के सहारे चलती है। श्वास का सहारा लिये बिना, श्वास के रथ पर चढे बिना प्राण की धारा नही चल सकती। श्वास और प्राण, श्वास और मन—ये अभिन्न बन जाते है, अटूट कडी के रूप मे काम करते हैं। एक कडी यदि अस्त-व्यस्त होती है तो दूसरी कड़ी भी गडबडा जाती है। मन को हम सीधा (डाइरेक्ट) नही पकड़ सकते। बहुत शक्ति चाहिए मन को पकडने के लिए। प्राण की धारा को भी सीधा नही पकड़ा जा सकता। किन्तु श्वास के माध्यम से प्राण को पकडा जा सकता है और प्राण के माध्यम से मन को पकडा जा सकता है। मन को पकड़ने के लिए प्राण को पकडे और प्राण को पकडने के लिए श्वास को पकडे। जब श्वास की पकड आती है तब सारा व्यक्तित्व ही बदल जाता है। श्वास-परिवर्तन के द्वारा हम मानसिक विकास कर सकते है।

मानसिक विकास को बढाने के लिए 'सामायिक' जरूरी होती है। जब तक सामायिक नही होती तब मानसिक विकास भी पर्याप्त नही होता। सामायिक के बिना समता का विकास नही होता और जो विकास है वह भी खडित होने लगता है। जो निर्मित होता है वह टूटने लग जाता है। दोनो का योग है। मानसिक शक्ति का विकास हुए बिना सामायिक का विकास नही हो सकता और सामायिक का विकास हुए बिना मानसिक शक्ति का विकास नही हो सकता।

सामायिक हमारी चेतना का तीसरा आयाम है। हम चेतना के दो आयामो में जीते हैं, जिनका संबंध द्वंद्व की आपूर्ति से है। हमारे जीवन मे बहुत सारे द्वन्द्व है। लाभ और अलाभ का एक द्वन्द्व है, सुख और दुःख का एक द्वन्द्व है, जीवन और मरण का एक द्वन्द्व है, निन्दा और प्रशसा का एक द्वन्द्व है, मान और अपमान का एक द्वद्व है—ये पांच प्रकार के द्वन्द्व हैं। अध्यात्म शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र इन पाचो द्वंद्वों के आधार पर चलते हैं।

शकुन का शास्त्र भी इन्ही द्वद्वो के आधार पर चलता है।

ज्योतिषी ग्रहों की गति के आधार पर लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण का निर्णय करता है। शकुनशास्त्री शकुनो के आधार पर और स्वरशास्त्री स्वरो के आधार पर इनका निर्णय करता है। मनुष्य के भाग्य का निपटारा इन द्वन्द्वो के आधार पर होता है। जब इन द्वद्वों के विषय की जिज्ञासा समाप्त हो जाती है तब द्वंद्व समाप्त हो जाते है। अध्यात्मशास्त्र इनसे प्रारभ होता है, किंतु द्वन्द्वातीत चेतना के आधार पर चलता है। सामान्य जीवन मे हम द्वद्वो से ही परिचित होते है। प्रतिकूल स्थिति मे मन में शोक और अनुकूल स्थिति मे मन मे हर्ष आना स्वाभाविक है। हमने शोक को भी स्वाभाविक मान लिया और हर्ष को भी स्वाभाविक मान लिया। हमारे लिए कष्ट स्वाभाविक, सवेदना स्वाभाविक, और भी सारे सुख-दु ख स्वाभाविक। हमने इन सबको स्वाभाविक मान लिया, अर्थात् चेतना के परे भी कोई ससार है, चेतना के आयामों के परे भी कोई मन की स्थिति है—यह हमे ज्ञात ही नही है। हमारे जीवन का पूरा क्रम इन दो आयामो—इन्द्रिय चेतना और मनश्चेतना मे चलता है, उनकी परिधि में चलता है। अध्यात्म का विकास वहा से शुरू होता है जहा ये आयाम टूट जाते है। वहा तीसरा नया आयाम खुलता है। वह समभाव का आयाम है। वहा सारे द्वंद्व समाप्त हो जाते है। न शोक, न हर्ष। न सुख, न दु.ख। न जीने का हर्ष और न मरने का शोक। न मान के प्रति आकर्षण और न निन्दा के प्रति प्रकंपन। इन सभी द्वंद्वों से हटकर एक ऐसी स्थिति बन जाती है, जो सतुलित होती है। यह है चेतना का तीसरा आयाम।

प्रवचन २१ | संकलिका

२. मानसिक शक्ति को जगाने के चार सूत्र—
   ० शिथिलीकरण ।
   ० शक्तियो के अपव्यय से बचना ।
   ० प्राणधारा को निश्चित दिशा मे प्रवाहित करना ।
   ० भावना का पूर्ण अभ्यास ।

२. मस्तिष्क और मेरुदण्ड द्वारा सचालित सक्रियता को जिस सीमा तक रोकते है उस सीमा तक स्वैच्छिक नाडी-मंडल द्वारा सचालित अवचेतन की सक्रियता बढती है। उससे शरीर के 'इन्वोलेण्टरी' क्रिया कलापो पर नियंत्रण ।

३ प्रशिक्षित व्यक्ति मानस-तरंगो की आवृत्तियो को कम कर सकता है, उनकी लम्बाई को बढा सकता है।

मानसिक शक्ति का विकास और उपयोग

अध्यात्म की साधना आत्म दर्शन की साधना है। आत्मा को देखने के दो शक्तिशाली अस्त्र हैं—मानसिक शक्ति और प्राण शक्ति। एक अस्त्र है मन का और दूसरा है प्राण का। मानसिक शक्ति का जागरण और प्राण का सचय—ये दो महत्त्वपूर्ण साधन है। जब मानसिक योग और प्राणिक योग सधता है तब आध्यात्मिक शक्ति की बात सहज सध जाती है। मन को शक्तिशाली बनाए बिना, प्राण की शक्ति को विकसित किए बिना यदि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक शक्ति का साक्षात्कार करना चाहे, आत्मा को देखना-जानना चाहे तो यह चाह मात्र हो सकती है, उसे सफलता कभी नही मिल सकती।

मन बहुत शक्तिशाली है। उसकी अनगिन शक्तिया है। वे प्रशिक्षण के द्वारा जागृत होती है। मन की दो स्थितियां हैं—प्रशिक्षित और अशिक्षित। अशिक्षित मन अपनी शक्तियो का विकास नही कर सकता। शक्तियां शक्तिया मात्र रह जाती है। आदमी सोया का सोया रह जाता है। वह कभी जागता ही नही। जागरण के बिना शक्ति का उपयोग ही नही हो सकता। जब मन एक निश्चित पद्धति से प्रशिक्षित हो जाता है तब आश्चर्यकारी घटनाओ को घटित करने मे वह सक्षम हो जाता है। मन के प्रशिक्षण की एक पद्धति है। यह कोई आध्यात्मिक बात नही है। जो लोग ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे पूर्ण निष्ठावान् नही होते, जिनका आचरण बहुत ऊचा भी नही होता, वे लोग भी मानसिक शक्ति का जागरण कर लेते हैं। क्योकि यह तो एक पद्धति का अभ्यास है। कोई भी इसे कर सकता है। शरीर की लाघवता को घटित किया जा सकता है। शरीर को हलका बनाना पद्धति-सापेक्ष है। आठ सिद्धियो मे एक सिद्धि है—अणिमा। इसके अभ्यास से शरीर हलका हो जाता है। इतना हलका कि वह चाहे जहां टिक सकता है, ठहर सकता है। यह योग की एक प्रक्रिया है, किन्तु यह भी कोई आध्यात्मिक प्रक्रिया नही है। जितनी सिद्धिया हैं, वे सब अध्यात्म के नीचे रह जाती हैं। ये सिद्धियां मानसिक शक्ति के जागरण और मांपेशियो के समूचित व्यायाम के द्वारा उपलब्ध होती हैं।

रूपाकोशा मगध देश की राजनर्तकी थी। आचार्य कपिलदेव के पास उसने नृत्य और संगीत का अभ्यास किया। धीरे-धीरे वह अपनी नृत्यकला मे इतनी निपुण हो गयी कि सरसो के ढेर पर रखी सुई पर नाचने मे वह सक्षम

प्रवचन २१ | संकलिका

२. मानसिक शक्ति को जगाने के चार सूत्र—
- ० शिथिलीकरण ।
- ० शक्तियो के अपव्यय से बचना ।
- ० प्राणधारा को निश्चित दिशा मे प्रवाहित करना ।
- ० भावना का पूर्ण अभ्यास ।

२. मस्तिष्क और मेरुदण्ड द्वारा सचालित सक्रियता को जिस सीमा तक रोकते है उस सीमा तक स्वैच्छिक नाडी-मडल द्वारा सचालित अवचेतन की सक्रियता बढती है। उससे शरीर के 'इन्वोलेण्टरी' क्रिया कलापो पर नियत्रण ।

३ प्रशिक्षित व्यक्ति मानस-तरंगो की आवृत्तियों को कम कर सकता है, उनकी लम्बाई को वढा सकता है ।

मानसिक शक्ति का विकास और उपयोग

अध्यात्म की साधना आत्म दर्शन की साधना है। आत्मा को देखने के दो शक्तिशाली अस्त्र हैं—मानसिक शक्ति और प्राण शक्ति। एक अस्त्र है मन का और दूसरा है प्राण का। मानसिक शक्ति का जागरण और प्राण का सचय—ये दो महत्त्वपूर्ण साधन है। जब मानसिक योग और प्राणिक योग सधता है तब आध्यात्मिक शक्ति की बात सहज सध जाती है। मन को शक्तिशाली बनाए बिना, प्राण की शक्ति को विकसित किए बिना यदि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक शक्ति का साक्षात्कार करना चाहे, आत्मा को देखना-जानना चाहे तो यह चाह मात्र हो सकती है, उसे सफलता कभी नही मिल सकती।

मन बहुत शक्तिशाली है। उसकी अनगिन शक्तिया है। वे प्रशिक्षण के द्वारा जागृत होती है। मन की दो स्थितियां हैं—प्रशिक्षित और अशिक्षित। अशिक्षित मन अपनी शक्तियों का विकास नही कर सकता। शक्तियां शक्तिया मात्र रह जाती है। आदमी सोया का सोया रह जाता है। वह कभी जागता ही नही। जागरण के बिना शक्ति का उपयोग ही नही हो सकता। जब मन एक निश्चित पद्धति से प्रशिक्षित हो जाता है तब आश्चर्यकारी घटनाओं को घटित करने मे वह सक्षम हो जाता है। मन के प्रशिक्षण की एक पद्धति है। यह कोई आध्यात्मिक बात नही है। जो लोग ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे पूर्ण निष्ठावान् नही होते, जिनका आचरण बहुत ऊचा भी नही होता, वे लोग भी मानसिक शक्ति का जागरण कर लेते हैं। क्योकि यह तो एक पद्धति का अभ्यास है। कोई भी इसे कर सकता है। शरीर की लाघवता को घटित किया जा सकता है। शरीर को हलका बनाना पद्धति-सापेक्ष है। आठ सिद्धियो मे एक सिद्धि है—अणिमा। इसके अभ्यास से शरीर हलका हो जाता है। इतना हलका कि वह चाहे जहां टिक सकता है, ठहर सकता है। यह योग की एक प्रक्रिया है, किन्तु यह भी कोई आध्यात्मिक प्रक्रिया नही है। जितनी सिद्धिया हैं, वे सब अध्यात्म के नीचे रह जाती हैं। ये सिद्धियां मानसिक शक्ति के जागरण और मांपेशियो के समूचित व्यायाम के द्वारा उपलब्ध होती हैं।

रूपाकोशा मगध देश की राजनर्तकी थी। आचार्य कपिलदेव के पास उसने नृत्य और संगीत का अभ्यास किया। धीरे-धीरे वह अपनी नृत्यकला मे इतनी निपुण हो गयी कि सरसो के ढेर पर रखी सुई पर नाचने में वह सक्षम

हो गयी । सरसो का एक दाना भी ढेर से अलग न हो और सुइयो से पैर भी न विंधे । यह था नृत्य का कौशल । रूपाकोशा उस नृत्य मे उत्तीर्ण थी ।

बीकानेर के महाराजा गगासिहजी की हीरक जयन्ती मनाई जा रही थी । एक नर्तक आया हुआ था । वह अपना नृत्य दिखा रहा था । एक मच पर वह नाच रहा था । मंच के नीचे अनाज के दो-चार ढेर किए हुए थे । वह नर्तक मच पर नाचते-नाचते अनाज के ढेरो पर थिरकने लगा । जिस रूप मे वह मच पर नाच रहा था उसी रूप मे वह अनाज के ढेर पर नाच रहा था । अनाज के दाने ज्यो के त्यो थे ।

अनाज के ढेर पर नाचा जा सकता है और सरसो पर रखी हुई सुइयो पर भी नाचा जा सकता है । इसका रहस्य यही है कि जब शरीर के गुरुत्वाकर्षण को अभ्यास के द्वारा, साधना के द्वारा कम कर दिया जाता है तब शरीर भारहीन हो जाता है । जब गुरुत्वाकर्षण समाप्त हो जाता है तब नर्तक चाहे अनाज के ढेर पर नाचे या सुई पर नाचे या अधर में नाचे, कोई अन्तर नही आता । एक अन्तरिक्षयात्री जब अन्तरिक्ष की यात्रा करता है और गुरुत्वाकर्षण की सीमा से परे चला जाता है तब वह आकाश मे तैरने लग जाता है । भारहीन अवस्था मे कही भी अवस्थित होने मे कोई कठिनाई नही होती ।

शिष्य ने पूछा—'भते ! पदार्थ किस पर टिके हुए है ?'

भगवान् ने कहा—'वत्स ! पदार्थ स्व-प्रतिष्ठित है । वे किसी अन्य पदार्थ पर टिके हुए नही है ।'

यह कैसे हो सकता है ? स्पष्ट है कि हम पृथ्वी पर टिके हुए है । वृक्ष, पेड़-पौधे आदि सारे पदार्थ पृथ्वी पर टिके हुए है । यह कैसे कहा जा सकता है कि पदार्थ स्व-प्रतिष्ठित है ? व्यवहार के धरातल पर हम कहते है कि पदार्थ पृथ्वी पर टिके हुए है । निश्चय के धरातल पर कहा जा सकता है कि पदार्थ अपने आधार पर टिके हुए हैं । व्यवहार स्थूल होता है । उसका निरूपण स्थूल ही होगा । निश्चय सूक्ष्म की व्याख्या करता है । सूक्ष्म सत्य यह है कि सब पदार्थ स्व-प्रतिष्ठित हैं । कोई किसी पर आधारित नही है, कोई किसी पर टिका हुआ नही है । गुरुत्वाकर्षण केवल आरोपित है । गुरुत्वाकर्पण समाप्त होते ही कोई किसी पर आधारित नही रहेगा । घडा घडा रहेगा, पानी पानी रहेगा । न घडे में पानी है और न पानी मे घडा है । घडा अपने अस्तित्व में है और पानी अपने अस्तित्व मे है । स्थूलदृष्टि से निरूपण किया जाता है कि घड़े मे जल है । घडा और पानी—दो वस्तुए है । घडे मे पानी है—यह हमारी स्थूलदृष्टि है । व्यवहार नय है । घडा अपने स्वरूप में है और पानी अपने स्वरूप मे है । गुरुत्वाकर्पण समाप्त होते ही भारीपन समाप्त हो जाता है । फिर आधार की कोई अपेक्षा ही नहीं रहती ।

मन की शक्ति अभ्यास के द्वारा जागृत होती है। अभ्यास की पद्धति प्राप्त हो जाए और बार-बार अभ्यास किया जाए तो उस दिशा में विकास हो जाता है। अभ्यास की हजारो पद्धतिया हैं जिनसे मन को शिक्षित किया जा सकता है। एक ही व्यक्ति सब पद्धतिया साधे, यह संभव नही है। एक दिशा मे अभ्यास किया जा सकता है। एक व्यक्ति ने सोचा कि मैं एक अभ्यास कर बिजली को जलाने और बुझाने की शक्ति प्राप्त कर लूगा। एक दिशा मे अभ्यास प्रारम्भ किया। सकल्प बढा। वह दूर बैठा ही बिजली जलाने-बुझाने मे सफल हो गया। इसको हम कोई आध्यात्मिक मूल्य नही दे सकते। यह केवल मानसिक शक्ति का एक प्रयोग-मात्र है। एक व्यक्ति ने प्रयोग किया कि मै मन की शक्ति के द्वारा किसी को वरदान और किसी को शाप दूगा, किसी पर अनुग्रह करूगा और किसी पर निग्रह करूगा। उसी धारा मे मन को प्रवाहित किया और उसे वह शक्ति प्राप्त हो गयी।

एक सन्यासी भिक्षा के लिए गया। बहिन ने सुना-अनसुना कर दिया। संन्यासी का क्रोध भभक उठा। उसने शाप देते हुए कहा—'भस्म हो जाओ।' स्त्री ने हसते हुए कहा—'महाराज! मै वह चिडिया नही हू जिसको आपने भस्म किया है। मै पतिव्रता नारी हू। आपकी मनःशक्ति मेरे पर काम नही करेगी।'

मन की अनगिन शक्तिया हैं। विख्यात धनुर्धर एक व्यक्ति के समक्ष अपनी प्रशसा कर रहा था। उस व्यक्ति ने कहा—'भाई! तुम प्रसिद्ध धनुर्धर हो। परन्तु मेरे गुरु की तुलना मे तुम नही आ सकते। वह गुरु को देखने गया। धनुर्विद्या का चमत्कार दिखाने की प्रार्थना की। गुरु उसे एक पहाड़ की चोटी पर ले गया। गुरु ने आकाश को एकटक देखना प्रारम्भ किया। आकाश की ऊंचाई पर पक्षियो का एक झुण्ड उड रहा था। वह उसकी दृष्टि की रेज में आ गया। ज्योही उसकी दृष्टि पक्षियो पर पडी, सारे पक्षी जमीन पर आ गिरे। उसने न कोई प्रत्यंचा तानी और न कोई तीर साधा। केवल अनिमेप प्रेक्षा से यह सब कुछ हो सकता है। उड़ते पक्षियो को गिराया जा सकता है, चलते वाहनो को रोका जा सकता है।

ये सब आध्यात्मिक नही, केवल मानसिक शक्ति के प्रयोग है। आध्यात्मिक व्यक्ति को भी मानसिक शक्ति का जागरण करना होता है। मानसिक शक्ति के जागरण के बिना आगे नही बढा जा सकता। जिसका अच्छा ध्येय है, उसके मानसिक शक्ति का विकास होता है और जिसका बुरा ध्येय है उसके मानसिक शक्ति का विकास नही होता—यह नियम नहीं है। शत्रुओ को नष्ट करने के लिए किसी ने विद्या की साधना की तो वह

भी सिद्ध हो गयी और किसी ने दूसरो की भलाई या कल्याण के लिए विद्या की साधना की तो वह भी सिद्ध हो गयी। अध्यात्म का मार्ग ही एक ऐसा मार्ग है जहा अपवित्र मन, वचन और कर्म के लिए कोई अवकाश नही है। नितात निर्मल मन, निर्मल वाक् और निर्मल कर्म ही अध्यात्म की अपेक्षा है। अन्य क्षेत्रो मे यह नियामकता नही है।

शक्ति-जागरण का अभ्यास जटिल नही है। उसमे कुछेक तथ्य अपेक्षित होते है।

पहला तथ्य है—शिथिलीकरण। तनाव की स्थिति मे कोई भी शक्ति जागृत नही हो सकती। शिथिलीकरण अर्थात् प्रवृत्ति का विसर्जन। जब प्रवृत्ति का विसर्जन होता है तब भीतरी शक्तियो को जगाने का अवसर मिलता है। भीतरी शक्तिया जागना चाहती है, किन्तु उनके सामने प्रवृत्ति का अवरोध आ जाता है तब वे जाग नही पाती। जब प्रवृत्ति का अवरोध समाप्त होता है तब वे जाग जाती है। जो व्यक्ति कायोत्सर्ग साध लेता है, वह शक्ति-जागरण का बीजमन्त्र पा लेता है।

दूसरा तथ्य है—शक्तियो के अपव्यय से बचना। सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति शक्तियो का अपव्यय करता है। आवश्यकता हो या न हो आदमी सोचता रहता है, चिंतन करता रहता है। मस्तिष्क को एक क्षण भी विश्राम नही मिलता। सोते है तब भी वह चलता है। स्वप्न आते है, मस्तिष्क सक्रिय रहता है। शक्ति का कितना बडा अपव्यय है!

मन निरन्तर क्रियाशील रहता है। शरीर भी स्थिर नही रहता। कभी आधा घंटा भी एक आसन मे बैठ जाते हैं तो अनेक स्थानो पर दर्द होने लग जाता है। स्थिरता का हमे अभ्यास ही नही है। हम मानते है कि शरीर गतिशील होगा तो शक्ति बढेगी, मन गतिशील होगा तो चिन्तन की शक्ति विकसित होगी, बुद्धि बढेगी और वाणी गतिशील होगी तो वक्तृत्व का विकास होगा। किन्तु वास्तविकता यह है—जब मन, वाणी और काया का अप्रयोग होता है तब शक्ति का जागरण सभव बनता है।

हमारे नाडी-संस्थान के दो भाग है—एक है स्वत चालित और दूसरा है परत चालित। स्वत.चालित नाडी-सस्थान को हम कम काम मे लेते हैं। परत चालित नाडी-सस्थान का उपयोग अधिक करते हैं। इसलिए हमारी आन्तरिक शक्तियां जागृत नही होती। उन्हे जागृत होने का अवसर ही नही मिलता।

शक्ति-जागरण के लिए यह अत्यन्त अपेक्षित है कि स्थूल या चेतन मन की सक्रियता को, परतःचालित नाडी-संस्थान की सक्रियता को कम कर आंतरिक मन की सक्रियता को बढाया जाए।

तीसरा तथ्य है—प्राणधारा को निश्चित दिशा मे बहाना। जब हम प्राणधारा को एक निश्चित दिशा मे प्रवाहित करते है तब एक बिन्दु ऐसा आता है जहा दिशा उद्घाटित हो जाती है।

एक है ज्ञात स्थान को जानना। घर से हजारो मील दूर बैठा व्यक्ति मन को एकाग्र कर प्राणधारा को अपने घर की दिशा मे नियोजित करे। कुछ ही समय पश्चात् उसे अपना घर प्रत्यक्षत: दीखने लग जाएगा। वहा की सारी हलचल प्रत्यक्ष हो जाएगी।

कोई साधक चाहता है कि वह अज्ञात देश को जाने। वह प्रयोग करता है। जिस दिशा मे वह देश स्थित है, उस दिशा मे वह अपनी प्राण-धारा को प्रवाहित करना प्रारम्भ कर देता है। पूरी तन्मयता और एकाग्रता के साथ वह ऐसा करता है। कुछ दिनो तक यह प्रयोग चलता है। सकल्प जब पूर्ण स्थिर हो जाता है तब एक दिन वह अज्ञात देश उसके लिए ज्ञात बन जाता है।

जैसे अज्ञात देश को जाना जा सकता है वैसे ही अज्ञात काल को भी जाना जा सकता है। अतीत की यात्रा भी हो सकती है और सूक्ष्म पर्यायो की यात्रा भी हो सकती है। स्थूल पर्यायो की यात्रा भी हो सकती है और सूक्ष्म पर्यायो की यात्रा भी हो सकती है। प्रयोग से यह सब सभव है। यह व्यक्ति पर निर्भर होता है कि वह क्या चाहता है? जो व्यक्ति अपने लक्ष्य को बहुत ऊचा निर्धारित करता है वह नीचे की बातो मे नही फसता।

रामकृष्ण परमहस ने विवेकानद से कहा—'तुम आर्थिक संकट मे से गुजर रहे हो। मां काली के पास जाओ और प्रार्थना करो कि तुम्हारा आर्थिक संकट मिट जाए।' गुरु के आदेश को मानकर विवेकानन्द मा काली के समक्ष गए। हाथ जोडे और कुछ बोलना चाहा। पर वे बोल नही सके। मां के ध्यान मे लीन हो गए। प्रतिदिन ऐसा ही होता रहा। वे अपनी प्रार्थना कर ही नही पाए। एक बार रामकृष्ण ने पूछा—'क्या तुमने मा से प्रार्थना की?' विवेकानन्द ने कहा—'मैं प्रार्थना कर ही नही पाता। भला, अपने छोटे-से स्वार्थ के लिए मा को कष्ट दू। यह कभी नही हो सकता।'

जो व्यक्ति परम की साधना मे लग जाता है, वह आत्मा की साधना मे लग जाता है। वह अपनी सारी ऊर्जा और प्राणशक्ति को आत्मा की खोज मे प्रवाहित कर देता है, बीच मे नही रुकता। यह वास्तविकता है कि जो भी अध्यात्म योगी हुए हैं, आत्मा की खोज करने वाले हुए हैं, वे बहुत चामत्कारिक नही हुए हैं। चमत्कारो के जाल मे वे कभी नही फसे हैं। जो अध्यात्म योगी नही हुए हैं, इस मध्यवर्ती मार्ग मे रहे है, वे चामत्कारिक हुए है। वरदान और शाप की शक्ति को प्राप्त करने मे ही उन्होने अपनी साधना

नियोजित की। किसी का भला कर देना और किसी का बुरा कर देना—यही सफलता का मानदण्ड बन गया। ऐसे लोग सामान्य जनता मे आतक उत्पन्न कर देते हैं। भय से प्रताडित लोग ऐसे व्यक्तियो के भक्त बन जाते है। किन्तु यह सच है कि जिन्होने चमत्कारो मे पडकर, प्रदर्शन को ही सब कुछ मान लिया, उन लोगो को दु ख का जीवन जीना होता है। ऐसे लोग अन्त समय में कहते है—'कोई भी इस मार्ग को न अपनाए। यह निकृष्ट मार्ग है।'

हम सटोरियो को बहुत बार यह कहते हुए देखते हैं—भाई! यदि कोई अपना भला चाहे तो वह सट्टे के व्यापार में न फसे। कोई उन्हे पूछता है—'फिर आप क्यो करते है?' वे कहते है—'यह हमारी आदत की लाचारी है। हम तो फंस गए। दूसरे इसमे कभी न फसें। यह बरबादी का मार्ग है। इस मार्ग मे पडकर कोई सुखी नही हुआ है।'

ठीक यही दिशा उन लोगो की है जो तुच्छ शक्तियो के लिए अपनी मानसिक शक्ति नियोजित करते है। वे छोटी-छोटी सिद्धियो मे उलझकर अपने महान् लक्ष्य को भुला बैठते हैं।

कुछेक व्यक्ति अध्यात्म के मार्ग पर चलने मे रुचि रखते हैं और कुछ चामत्कारिक साधना को अपना ध्येय बनाते हैं। दोनो की दो दिशाएं है। एक दिशा मजिल तक पहुंचाती है और एक दिशा भटकाती है। एक आत्मगामी दिशा है और एक अनात्मगामी। एक आंतरिक यात्रा की दिशा है और एक बहिर् भटकाव की दिशा है। मन की शक्ति का जागरण दोनो दिशाओ मे होता है। केवल अन्तर है—उस शक्ति के उपयोग का।

अध्यात्म की साधना परम की साधना है। उसमे मन की शक्ति का उपयोग अध्यात्म की दिशा मे करना होता है। मन को निर्मल बनाना, आत्म-साक्षात्कार करना—यह सबसे बडा चमत्कार है। इससे बढ़कर दुनिया में कोई लब्धि नही है। जो साधक परम को पकड लेता है वह तुच्छ मे नही उलझता। जो अनन्यदर्शी है वह दूसरे को नही देखता, स्वयं को ही देखता है। जो अनन्यदर्शी है वह दूसरे मे रमण नही करता, स्व मे ही रमण करता है। जो अनन्यदर्शी होता है वह दूसरे को नही, परम को ही चाहता है। जो अनन्य मे रमण करता है, दूसरे मे रमण नही करता, वह अनन्य को देख लेता है।

अनन्य का अर्थ है—आत्मा। अनन्यदर्शन की प्रक्रिया आत्मदर्शन की प्रक्रिया है। इसका तात्पय है—केवल आत्मा को देखना, और किसी को नही देखना। हमारा घोष है—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें। श्वास को देखना भी आत्मा को देखना है, क्योकि श्वास उसी का एक हिस्सा है। आत्मा न हो

तो श्वास होगा ही नही। शरीर को देखना, उसके सूक्ष्मतम स्पंदनो को देखना भी आत्मा को देखना है। शरीर के स्पदन आत्मा से बने हुए है, इसीलिए हम शरीर के स्पंदनों को देखने को महत्त्व देते हैं। आत्मा को देखने के लिए हम इन सबको देख रहे हैं। जो अनन्यदर्शी होता है वह आत्मा के अतिरिक्त और किसी को नही देखता।

आत्मा को देखने के लिए मन की शक्ति का जागरण अत्यन्त अपेक्षित है। मन की शक्ति को शिथिलीकरण या पूर्ण विश्राति के द्वारा जगाया जा सकता है। डॉक्टर की भाषा मे पूर्ण विश्राम का अर्थ होता है—विस्तर पर लेटे रहना। अध्यात्मशास्त्र के अनुसार उसका अर्थ है—मन, वाणी और शरीर—तीनो को सुला देना। जहा डॉक्टर केवल शरीर को सुलाता है, वहां अध्यात्म योगी तीनो को सुला देता है। डॉक्टर कभी-कभी वाणी को सुलाने की बात कहता है, मौन रहने की बात कहता है। पर मन को सुलाने की बात उसे प्राप्त भी नही है। अध्यात्म की साधना करने वाला साधक मन, वचन और शरीर की गुप्ति से युक्त होकर अपनी सारी प्रवृत्तियों को सुला देता है।

चौथा महत्त्वपूर्ण तथ्य है—भावना। भावना का अभ्यास वहुत सूक्ष्म वात है। जव तक भावना का अभ्यास नही होगा, मन परम से भावित नही होगा, तव तक शक्तियो का विकास नही होगा। 'भाविअप्पा'—भावितात्मा शव्द जैन आगमो का महत्त्वपूर्ण शव्द है। उसके पीछे रहस्यमयी भावना छिपी हुई है। जो भावितात्मा होता है वह अपनी भावना के अनुसार काम करने मे सक्षम होता है। भावना का अर्थ केवल कुछ सोच लेना मात्र नही है। उसका अर्थ है—हमारे ज्ञान-तन्तुओ को, कोशिकाओ को अपने वशवर्ती कर लेना, उन पर अपनी भावना को अकित कर देना।

हमारे शरीर मे अरखों-खरवो न्यूरॉन है, जीवकोशिकाए हैं। ये न्यूरॉन हमारी अनेक प्रवृत्तियो का नियमन करते हैं। जो सकल्प न्यूरॉन तक पहुंच जाता है वह सफल हो जाता है। न्यूरॉन वडे-वडे काम सपादित करते है।

इनकी कार्य-प्रणाली को समझना वहुत ही कठिन है। अरवों-खरवो की सख्या मे ये ज्ञान-तन्तु हमारे मस्तिष्क मे विखरे पडे हैं। इनका मन की शक्ति के जागरण में वहुत वड़ा उपयोग है।

प्राकृतिक चिकित्सक कहते हैं कि कोष्ठवद्धता हो तो पहले स्थिर वैठकर ध्यानस्थ हो जाओ, ज्ञान-तन्तुओ को सूचना दो कि शौच साफ हो रहा है, पेट साफ हो रहा है और ज्ञान-तन्तु वैसा ही आचरण करने लग जाएगे। मानसिक विकास के क्षेत्र में स्वत.सूचन का वहुत वड़ा महत्त्व है। सम्मोहन की प्रक्रिया भी आश्चर्यकारी है। इसकी पृष्ठभूमि मे ज्ञानततुओं का ही

चमत्कार है। इन ज्ञान-तंतुओ मे विचित्र क्षमताएं है, जिनकी हम कल्पना भी नही कर सकते। सम्मोहन का प्रयोग सूचना के आधार पर चलता है। सूचना के आधार पर शारीरिक अवयव भी उसी प्रकार काम करने लग जाते हैं। अपने-आप सूचना दें। पुराने को बदलने के लिए, नए को घटित करने के लिए उन तन्तुओं के साथ आत्मीयता स्थापित करे। जो होना चाहेंगे, वह अवस्था घटित होने लगेगी। परिणमन प्रारम्भ हो जाएगा। मन की शक्ति का विकास होने लगेगा।

मन की शक्ति के जागरण की यह एक प्रक्रिया है।

प्रवचन २२ | संकलिका

१. मन की शक्ति जागे और द्वद्व-चेतना रहे, तब दु:ख अधिक ।
२ द्वद्व-चेतना से तनाव । तनाव से मानसिक विकार और रोग ।
३. मानसिक चिकित्सा का मुख्य अंग है—तनाव का अल्पीकरण ।
४. समता के तेल मे जागृति की बाती निरन्तर जले ।
५ द्वद्व-चेतना आवेग के लिए उर्वरा । सारी समस्याए यही अकुरित होती है । सारे दु:ख यही पनपते है ।

द्वन्द्वातीत चेतना की तीन प्रेरणाएं—

- ० मनुष्य दु ख और समस्या नहीं चाहता ।
- ० मानव मस्तिष्क मे भौतिकता से परे की चाह ।
- ० स्वतन्त्रता की अनुभूति ।

१. अन्य चाहो से बडी चाह है—निर्द्वन्द्व चेतना की उपलब्धि करना ।
२ द्वद्वातीत चेतना का नाम है—सामायिक ।
३ सामायिक के फलित ।
४ मन की गति पर अकुश ।
५ समस्याओ की समाप्ति ।
६ समस्यामुक्त, दु.खमुक्त जीवन का प्रारम्भ ।

द्वन्द्वातीत चेतना

हमारा जीवन दो विपरीत दिशाओ मे चल रहा है। एक है शक्ति की दिशा और दूसरी है शक्ति-शून्यता की दिशा। जव शक्ति जागृत नही होती तव अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है और जव शक्ति जाग जाती है तब भी अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। शक्ति का न होना भी एक समस्या है और शक्ति का अधिक होना भी एक समस्या है।

शक्ति-जागरण के वाद यदि द्वद्वातीत चेतना नही होती, सारी चेतना द्वद्व मे बद्ध होती है, उस स्थिति मे भयकर समस्याओ का सामना करना पडता है। शक्ति के जागने के वाद उसे झेलने के लिए द्वन्द्वो से अतीत चेतना आवश्यक होती है। उसके विना जागी हुई शक्ति से अनर्थ घटित हो सकता है। भूतो को वश मे करने वाले जानते हैं कि जव भूत जागते हैं तव वलि की माग करते है। उस समय भूत-साधक घवड़ा जाता है। यदि वह स्थिति को नही सभाल पाता तो जागा हुआ भूत उसे ही लील जाता है। यदि वह भूत की मांग पूरी कर देता है तो भूत उसके वश मे हो जाता है। यही वात शक्ति-जागरण मे घटित होती है। शक्ति-जागरण हो जाने पर जो साधक जागृत शक्ति की मागे पूरी कर देता है तो वह शक्ति उसके लिए वहुत उपयोगी हो जाती है। यदि वह उसकी मागे पूरी नही कर पाता तो जागी हुई शक्ति साधक के लिए शाप वन जाती है।

केवल शक्ति से ही सब कुछ नही होता। यह समन्वय का ससार है। किसी एक तत्त्व से कुछ नही होता। प्रकृति के सारे तत्त्वो मे ऐसा सामजस्य और सतुलन है कि अनेक मिलते हैं तभी एक घटना घटित होती है।

आनन्दमय जीवन के लिए चार तथ्य अपेक्षित है—ज्ञान, दर्शन, वीतरागता और शक्ति। जव इन चारो का अवतरण एक साथ होता है तव व्यक्ति मे पूर्णता आती है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जीवन सरिता की भाति प्रवहमान है, जिसके दोनो तटवन्ध व्यवस्थित हैं, जिसमे जीवन-धारा निर्वाध गति से प्रवाहित हो रही है। यह सव होता है समन्विति के द्वारा। एक से कुछ नही होता। हम केवल शक्ति, केवल चेतना या केवल वीतरागता के उपासक न वने। हम चारो के उपासक वनें। हम यह मानकर चलें कि वीतरागता होगी तो चेतना—ज्ञान, दर्शन का जागरण होगा, चेतना का जागरण होगा तो शक्ति का जागरण होगा, शक्ति का जागरण होगा तो वीतरागता का जागरण होगा। चारो साथ-साथ जागेंगे। ज्ञान, दर्शन,

वीतरागता और शक्ति—ये चारो जागेंगे तव व्यक्तित्व का पूरा विकास होगा। सारा जीवन खिल उठेगा। शक्ति का वहुत महत्त्व है। किन्तु यदि केवल शक्ति का ही विकास होता है, द्वद्वातीत चेतना का विकास नही होता है तो वह शक्ति लाभदायक नही होती। वह शक्ति द्वंद्व को ही वढायेगी, घटायेगी नही।

द्वद्व-चेतना तनाव उत्पन्न करती है। जब तनाव होता है तव मानसिक रोग और मानसिक विकार उभरते है। उस समय व्यक्ति को यह नही लगता कि वहुत वडा अनर्थ हो रहा है। अनर्थ जैसा कुछ भी प्रतीत नही होता। किंतु वे धीरे-धीरे सचित होते जाते हैं और एक बिन्दु ऐसा आता है कि वह मानसिक विकार मानसिक पागलपन के रूप मे वदल जाता है। वर्तमान जगत् मे मानसिक विकारो और मानसिक उन्मादो की जितनी भयकर स्थिति है, सभवत अतीत मे वैसी नही रही होगी। आज मानसिक विकारो और मानसिक पागलपन को बढाने के लिए बहुत अवकाश है। आज मानसिक विकार इतने बढ गए है कि उनका समाधान नही हो रहा है। उनकी चिकित्सा असंभव-सी प्रतीत हो रही है।

आज की साइकोसोमेटिक पद्धति के द्वारा एक वात प्रतिपादित हुई है कि जो वहुत सारी शारीरिक वीमारिया समझी जाती है, वे वास्तव मे मनोकायिक वीमारिया है। वे पहले मन मे जन्म लेती है और फिर शरीर मे अभिव्यक्त होती है। उनका मूल कारण शरीर नही, मन है। वीमारी के मूल मे मानसिक विकृति की खोज होनी चाहिए।

इस स्थिति मे एक ज्वलत प्रश्न है कि इतने मानसिक रोग हैं तो उनका उपचार कैसे किया जाए? मानसिक चिकित्सा की अनेक पद्धतिया हैं। मनोश्चिकित्सक, विजली के झटके देकर तनाव की चिकित्सा करते है। लगातार निद्रा दिलाते है। ऐसी दवा इजेक्ट करते है, जिससे रोगी चौवीस घटे तक निद्रा मे रहे। अर्द्ध निद्रा भी दिलाते है। कुछ ऐसी दवाइयां देते है, जिनसे रोगी आधी नीद मे रहता है। मस्तिष्क मे करेंट का निरन्तर प्रयोग किया जाता है। तनाव-विसर्जन मे ये उपाय उपयोगी माने जाते हैं। इस प्रकार चिकित्सा की अनेक पद्धतिया है। उन सारी पद्धतियो से दो वातें स्पष्ट होती हैं कि रोग-निवारण के लिए औषधि का प्रयोग होता है या विद्युत् का प्रयोग होता है। सवका प्रयोजन है मस्तिष्क को आराम देना, विचारो और विकल्पो की उधेडवुन को समाप्त करना। जो विचार उभर रहे हैं, उनका शमन करना, नीद लाना, वहोशी लाना—ये सव स्मृति को खोने के लिए किए जाते हैं। क्या इनके दुष्परिणाम नही होते? आज का चिकित्सक यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि आज जो औषधिया दी जाती हैं, वे प्रतिक्रिया पैदा करती है, शरीर मे क्षति पैदा करती हैं, और भी अनेक मानसिक

समस्याए पैदा होती है। ये चिकित्सा-पद्धतियां पूर्ण निर्दोष नहीं है।

इस सदर्भ में हम प्रेक्षा-ध्यान प्रणाली पर विचार करे। जो कार्य औषधियां और विद्युत् से सपन्न होता है क्या वह कार्य प्रेक्षाध्यान से संभव है? इस प्रश्न का उत्तर 'हा' मे दिया जा सकता है। प्रेक्षाध्यान के अतर्गत हम जो छोटे-छोटे प्रयोग करते है, वे इस सदर्भ मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण बन जाते है। जो काम औषधिया नही कर पाती वह काम ध्यान के ये छोटे-छोटे अभ्यास कर देते हैं। प्रश्न है मस्तिष्क को विश्राम देना। प्रश्न है विचारो की उधेडबुन को समाप्त करना। कायोत्सर्ग से जितना विश्राम मस्तिष्क को मिलता है, स्नायु-संस्थान को मिलता है उतना विश्राम किसी दूसरी प्रणाली से नही मिलता। न औषधिया और न विद्युत् ही उतना आराम दे पाते हैं। इनकी अपेक्षा ही नही होती। विचारो की उधेडबुन भी ध्यान से समाप्त हो जाती है।

प्रेक्षा-ध्यान मे शरीर और श्वास की प्रेक्षा की जाती है। जब मन शरीर की प्रेक्षा मे लग जाता है तब बाहरी विकल्प समाप्त हो जाते है। यदि हम दिन मे आधा घटा भी विकल्पशून्य रह सकते हैं, विचारो की उधेडबुन से छुट्टी पा सकते हैं तो समूचे दिन की क्रिया सपन्न हो जाती है, फिर और कुछ करने की जरूरत ही नही होती। प्रेक्षा से बडी-बडी उपलब्धिया भी सभव हो सकती है।

भरत चक्रवर्ती ने प्रेक्षा के द्वारा बहुत बडी उपलब्धि प्राप्त की। एक दिन वे स्नानगृह में गए। स्नान से निवृत्त होकर वस्त्र धारण कर बाहर आए। अपने आदर्शगृह (काचघर) मे गए। आदर्शगृह वह होता है, जिसमे सब कुछ प्रतिबिम्बित हो सकता है। वहां जाकर वे बैठ गए। चारो ओर उनके प्रतिबिम्ब दीखने लगे। एक प्रतिबिम्ब पर उनका ध्यान अटका। वे उसे अनिमेष दृष्टि से देखने लगे। अनिमेष प्रेक्षा प्रारभ हो गयी। भरत अपने ही प्रतिबिम्ब मे खो गए। स्थूल शरीर की प्रेक्षा करते-करते वे सूक्ष्म शरीर की प्रेक्षा करने लगे। सबसे ज्यादा सूक्ष्म शरीर है कर्म-शरीर। वे कर्मों के विपाक की प्रेक्षा करने लगे। वहा घटित होने वाली सूक्ष्मतम अवस्थाओ को वे देखने लगे। असंख्य और अनन्त अवस्थाए। सारे पर्याय सामने आने लगे। सारा नया ही नया। नया संसार दृष्टिगोचर होने लगा। अनिमेष दृष्टि। आखे प्रतिबिम्ब पर टिकी हुई है और वे सूक्ष्मतम पर्यायो का अवलोकन कर रही हैं। शरीर की प्रेक्षा करते-करते शुभ परिणाम आए। शुभ अध्यवसाय और लेश्या बढती गयी। एक बिन्दु ऐसा आया कि समग्र चेतना निरावृत हो गयी। सारे बन्धन टूट गए। पूर्ण चेतना प्रकट हो गयी। वे केवलज्ञान और केवलदर्शन को उपलब्ध हो गए। अब भरत चक्रवर्ती समाप्त हो गए। नए धर्म चक्रवर्ती का जन्म हो गया। आदर्शगृह में बैठे-बैठे, इस शरीर-प्रेक्षा के

द्वारा उन्होंने उच्चतम उपलब्धि प्राप्त कर ली।

परम्परा के अनुसार भरत के इस कथानक मे कुछ भेद है। अगुली से अगूठी के गिर जाने पर भरत चक्रवर्ती अनित्य भावना मे आरूढ़ होते है और भावना के प्रकर्ष मे केवलज्ञानी बन जाते है। यह परम्परागत कथानक है। किंतु जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में 'अत्ताणं पेहेमाणे' का स्पष्ट पाठ है। वे शरीर को देखते-देखते, अपने शरीर की प्रेक्षा करते-करते इतने गहरे चले गए कि अनन्त-अनत कर्म-वर्गणा के स्कधों को चीरकर पूर्ण चेतना, केवल चेतना के साम्राज्य मे उन्होंने प्रवेश पा लिया।

शरीर-प्रेक्षा का इतिहास बहुत पुराना है। यह इतिहास उस आदि-युग से जुड जाता है जो धर्म का प्रारम्भिक युग था। प्रेक्षा-ध्यान की परंपरा नई नही है। हा, वह विस्मृत कर दी गयी थी। उसका आज पुन. उद्धार हो रहा है।

दुनिया मे नया कुछ भी नही होता। जो बहुत पुराना हो जाता है, उसी का नाम होता है नया। एक वात प्रारम्भ होती है। फिर वह विस्मृत हो जाती है। अतीत का अन्तराल बढ़ जाता है। फिर जब वह सामने आता है तव लोग उसे नया कहते हैं।

प्रेक्षा का पहला प्रयोग भरत चक्रवर्ती ने किया था, यह इतिहास-प्रसिद्ध वात है। इतने युगो तक यह विस्मृत रही। वह आज फिर प्रचलित हो रही है। यह ध्यान की सरल पद्धति है। जो साधना-पद्धति कठिन होती है, वह कभी मान्य नही होती। मनुष्य की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि वह कभी कठोर वात को सहसा स्वीकार नही करती। वह सरलतम मार्ग को स्वीकार करती है। प्रेक्षा की पद्धति द्वन्द्व चेतना से मुक्त होने का सरलतम मार्ग है।

वस्तुत सारे दु ख द्वन्द्व की चेतना से प्रसूत हैं।

जव तक द्वन्द्व-चेतना है, मूर्च्छा की चेतना प्रवल है, तव तक ज्ञान, दर्शन, शक्ति—ये तीनों कार्यकर नही होते। मूर्च्छा उत्पादक केन्द्र है। वह आवेग को उत्पन्न करती है, द्वन्द्व को उत्पन्न करती है।

कोई भी मनुष्य समस्या नही चाहता, दु ख नही चाहता। यह एक प्रेरणा है द्वंद्व-चेतना को समाप्त करने की। यहा एक व्याप्ति वनती है। जव तक द्वंद्व-चेतना होगी तव तक दु.ख निश्चित ही होगे। द्वन्द्व-चेतना का होना ही दु ख का होना और द्वन्द्व-चेतना का नही होना ही दु.ख का नही होना है। समस्याओ और दु खो से मुक्ति पाने का एक ही उपाय है और वह है द्वंद्व-चेतना का समापन।

द्वन्द्व-चेतना के समापन का एक और हेतु है। वह यह है कि मानव

निर्द्वन्द्व चेतना को चाहता है। इस द्वद्वातीत चेतना का नाम है—सामायिक। सामायिक के घटित होने पर मन की गति पर एक अंकुश लग जाता है। मन की गति पर अकुश होता है तब समस्याए समाप्त होने लगती है। उस स्थिति मे समस्यामुक्त दुःखमुक्त जीवन का अभ्यास प्रारभ हो जाता है।

मस्तिष्क मे अभौतिकता की एक चाह निरतर बनी रहती है। यह मनुष्य की प्रकृति है। मनुष्य की इस प्रकृति का बोध उन लोगो को नही होता, जो अभाव से ग्रस्त होते है। क्योकि उनकी सारी ऊर्जा पदार्थों की ओर ही प्रवाहित होती है। किन्तु जो लोग पदार्थों को उपलब्ध हो चुके है, जिन्हे भौतिक पदार्थो की कोई चाह नही है, उनको यह बोध होता है कि मनुष्य मे एक ऐसी अमिट चाह है, जो उन भौतिक पदार्थों से भी परे है। यदि भौतिक पदार्थो की सपन्नता शिखर पर पहुच जाए और आदमी पूरा संतुष्ट हो जाए, तब तो कथा समाप्त। कोई खोज की जरूरत ही नही। किंतु शिखर पर पहुचने पर ऐसा लगता है दु.खो की नयी तलहटी सामने आ गयी है। तब यह भावना जागती है—कुछ और होना चाहिए, जो पूर्णता दे सके। ये भौतिक पदार्थ पूर्णता नही दे पा रहे है। उस स्थिति मे द्वद्वातीत चेतना की खोज प्रारंभ होती है। यह अभौतिकता की चाह, जो अन्तर मे होती है, उसे समझने का मौका मिल जाता है।

प्रत्येक शरीर के चारो ओर एक आभामडल होता है। आभामण्डल निर्जीव वस्तु में भी होता है। एक सिद्धात है कि प्रत्येक स्थूल पदार्थ से रश्मिया विकीर्ण होती है, रश्मियो का उत्सर्जन होता है। यही फोटोग्राफी का सिद्धात है। मनुष्य के चले जाने पर भी, उस स्थान पर उस मनुष्य का फोटो लिया जा सकता है। आभामंडल को हम देख नही पाते, किंतु उसको देखने की भी एक पद्धति है। हम अन्धेरे मे बैठ जाएं। कही से प्रकाश की रेखा न आए। अपने हाथ को ऊचा करे। थोडे समय तक वैसे ही बैठे रहे। हमे हाथ तो दिखाई नही देगा, किंतु हाथ के आसपास चारो ओर जो आभामंडल होता है वह दीखने लग जाएगा। दोनो हाथो को ऊंचा करेंगे तो यह लगेगा कि एक हाथ की रश्मिया दूसरे हाथ मे जा रही हैं और दूसरे हाथ की रश्मिया पहले हाथ मे आ रही है।

एक और प्रसिद्ध पद्धति है। दो व्यक्ति दस हाथ की दूरी पर अन्धेरे मे बैठ जाए। वे एक दूसरे को दिखायी नही देंगे। वे यदि नग्न हो तो उनका आभामडल स्पष्टता से दिखाई देने लगेगा। देखते-देखते कुछ समय के पश्चात् एक नीले रग का आकार सामने दीखने लगता है। जो चीज प्रकाश मे दिखाई नही देती, वह अन्धेरे मे दीखने लग जाती है।

अभौतिक सत्ता की चाह, चेतन तत्त्व की चाह, जिसका हमे जीवन की चकाचौंध मे पता ही नही लगता था, किन्तु जब भौतिक पदार्थो का सेवन करते-करते जीवन मे घोर अन्धेरा छा जाता है तब पता चलता है कि भीतर मे एक और भी चाह है, जो इन चाहों से बहुत बड़ी चाह है। वह चाह ही इस सचाई को प्रकट करती है कि द्वद्व-चेतना से परे भी मनुष्य

निर्द्वन्द्व चेतना को चाहता है। इस द्वद्वातीत चेतना का नाम है—सामायिक। सामायिक के घटित होने पर मन की गति पर एक अकुश लग जाता है। मन की गति पर अकुश होता है तब समस्याए समाप्त होने लगती है। उस स्थिति मे समस्यामुक्त दुःखमुक्त जीवन का अभ्यास प्रारंभ हो जाता है।

प्रवचन २३ | संकलिका

१. जब द्वन्द्व के आघात से चेतन सत्ता के साक्षात् की भावना और स्वतत्रता की अनुभूति जागती है तब आत्मिक उन्मेष घटित होता है। यही है—सामायिक।

२. जितना आत्मा का अनुभव उतना ही समभाव।

३ ध्यान और ध्येय के बीच दूरी जितनी अधिक उतने ही विकल्प अधिक, जितनी दूरी कम उतने ही विकल्प कम। दूरी समाप्त, विकल्प समाप्त।

४ हमारा परिणमनात्मक अस्तित्व। इस प्रक्रिया से हम तन्मय या तद्‌रूप हो, हम वही हो जाते है जैसा हमारा ध्येय होता है।

५ अज्ञान+शक्ति=अश्रेयस् की यात्रा।
ज्ञान+शक्ति=श्रेयस् की यात्रा।

६ 'बनने' के चार स्तंभ—
- ० कल्पनाशक्ति
- ० सकल्पशक्ति
- ० एकाग्रता की शक्ति।
- ० तन्मयता की शक्ति।

७ मन की दो भूमिकाए—
- ० व्यग्रता
- ० एकाग्रता।

८ कर्म-शरीर महाप्रपात है, शेष सारे छोटे-छोटे प्रपात है।

शक्ति की श्रेयस् यात्रा

मन की शक्ति का जागरण जीवन की एक महत्त्वपूर्ण यात्रा है। जिसके चरण इस यात्रा मे आगे नही बढते, वह कुछ भी करने मे सक्षम नही होता। अक्षम व्यक्ति दरिद्र होगा। उसकी दीनता कभी समाप्त नही होगी। वह जीवन भर दया का पात्र बना रहेगा। इस दुनिया मे अच्छा या बुरा जो कुछ हुआ है, वह समर्थ व्यक्ति के द्वारा ही हुआ है। अशक्त व्यक्ति ने कुछ भी नही किया। उसने कुछ बुरा भी नही किया और कुछ अच्छा भी नही किया। शक्ति-सपन्नता जीवन की सफलता का पहला चिह्न है। किन्तु केवल शक्तिशाली होना ही पर्याप्त नही है। पर्याप्तता के लिए कुछ और भी होना आवश्यक है। व्यक्ति शक्तिशाली है और अज्ञानी है तो शक्ति का दुरुपयोग होगा, शक्ति की अश्रेयस् यात्रा शुरू हो जाएगी। शक्तिशाली पुरुष यदि ज्ञानी होता है तो जीवन की यात्रा श्रेयसोन्मुख हो जाती है। जब शक्ति और ज्ञान के सहयोग से श्रेयस् की यात्रा प्रारम्भ होती है तब व्यक्ति की सारी जीवनधारा बदल जाती है।

एक मनुष्य शक्ति-सपन्न है किंतु वह ज्ञान-संपन्न नही है तो वह दूसरो का उत्पीडन करेगा। तथ्य यह है कि वह स्वय का भी उत्पीडन करेगा। वह दूसरो को यथार्थ की यात्रा पर ले जाएगा। दूसरो को ही नही, वह स्वयं अयथार्थ की यात्रा पर चल पड़ेगा। वह अनात्मा की ओर बढ़ेगा। वह दूसरो को ठगेगा। साथ-साथ स्वयं को भी ठगेगा। उसकी सारी यात्रा अश्रेयस् की यात्रा होती है, अकल्याण की यात्रा होती है। किन्तु जब ज्ञान और शक्ति—दोनो एक साथ घटित होते हैं तब व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ, सारा पराक्रम श्रेयस् मे लग जाता है। वह स्वयं को जानने का प्रयत्न करता है, स्वय को पाने का प्रयत्न करता है और जब व्यक्ति स्वय को जानने और पाने का प्रयत्न करता है तब वह दूसरो के लिए अहितकर, अकल्याणकर या अश्रेयस्कर नही होता। वह ऐसा हो ही नही सकता। हजार प्रयत्न करने पर या हजार परिस्थितियो के आने पर भी वह अनिष्ट, अहित या अश्रेयस् नही कर सकता। जब स्वयं को जानने-देखने की अभीप्सा तीव्र होती है तब मूर्च्छा का वलय टूटने लगता है, मूर्च्छा की तन्द्रा समाप्त होती है और आदमी जाग जाता है। जागरण की अवस्था में कुछ विचित्र-सा घटित होता है।

एक व्यक्ति मे जब जागरण घटित हो गया, तब उसने कहा—

'बन्धो ! क्रोध ! विधेहि किञ्चिदपरं स्वस्याधिवासास्पदं,
भ्रातर् ! मान ! भवानपि प्रचलतु, त्वं देवी ! माये ! व्रज ।
हंहो ! लोभ ! सखे यथाभिलषितं गच्छ द्रुतं वश्यतां,
नीतः शान्तरसस्य सम्प्रति लसद्वाचा गुरूणामहम् ॥'

—'भाई क्रोध ! अब तुम अपना दूसरा ठिकाना खोज लो। इस स्थान मे तुम्हे अब अवकाश नही है।' क्रोध ने सोचा—'यह क्या ? यह कैसा पागल है ? हम अनन्त काल से साथ रह रहे हैं, आज अचानक मुझे बाहर ढकेल रहा है। यह क्या हो गया ?' साधक ने मान को सम्बोधित कर कहा—'भाई मान ! तुम भी चले जाओ। हे देवी माया ! अब तुम्हारा यहा कोई काम नही है तुम भी चली जाओ।' सबने सोचा, शायद साधक पागल हो गया है, अन्यथा वह अपने जीवन-साथियो को चले जाने के लिए क्यो कहता ? हमने कभी यह सोचा भी नही था कि इससे बिछुड़ना पड़ेगा। यह हमे इस प्रकार चुनौती देगा। यह हमारे समझ से परे की बात थी। इतने मे साधक ने कहा—'अरे भाई लोभ ! तुम भी अपना स्थान खाली करो। यहां से जहा चाहो चले जाओ।' क्रोध, मान, माया और लोभ चारो असमंजस मे पड़ गये। उन्होने कहा—'हम सदा तुम्हारे साथ रहे हैं। एक क्षण के लिए भी हमने तुम्हारा साथ नही छोडा। तुम्हारे सुख मे भी हम साथ रहे और दु.ख मे भी हमने तुम्हारा साथ निभाया। आज तुम हमें छोड़ रहे हो, यह अन्याय है।'

साधक ने कहा—'जब मैं सोया था तब तुम जागते थे। जब तक मैं सोया रहा, तुम मेरे मे बने रहे। आज मै जाग गया हू। मेरी मूर्च्छा टूट गयी है। ऐसी कोई अमृत-वर्षा हो रही है जिसमे मैं आकण्ठ-मग्न हू। अब तुम नही रह पाओगे। मैं सोया रहता हूं तब ही तुम कुछ कर पाते हो। जागने के बाद तुम अकिञ्चित्कर हो जाते हो। मालिक सोता है तब घर मे चोर घुस जाते हैं, घर मे रह सकते हैं, किन्तु जब मालिक जाग जाता है तब चोर घर मे नही रह सकते।'

जीवन मे जब कोई आत्मिक उन्मेप जागता है, आध्यात्मिक घटना घटित होती है तब सारी दिशा बदल जाती है और सारी शक्ति श्रेयस् की दिशा मे प्रवाहित होने लग जाती है। यह आ[illegible] ही सामायिक है। यह जागना ही सामायिक है। सामायिक, स[illegible] घटित होता है जब स्वानुभाव का एक लव भी जागृत हो [illegible] क स्व का अनुभव नही होता, आत्मा का अनुभव नही हो[illegible] ष नही जागता तब तक जीवन मे सामायिक घटित नहीं

सामायिक और चैतन्य का अनुभव—दोनो [illegible]। जितना चैतन्य क[illegible] ी-उतनी सामायिक।

उतना-उतना चैतन्य का अनुभव। परानुभव और स्वानुभव—ये दो विरोधी दिशाए है। ये कभी मिलने वाली नही है। परानुभव भी चलता रहे और स्वानुभव भी होता रहे, यह कभी सभव नही है। दो समानान्तर रेखाए कभी नही मिलती। परानुभव और स्वानुभव दो समानान्तर रेखाए है। परानुभव और सामायिक साथ-साथ भले ही चले, पर वे परस्पर कभी नही मिल सकते। सामायिक करने की भावना तब जागती है जब स्वानुभव का उन्मेष होता है।

उन्मेष और निमेष—दोनो का क्रम सतत चलता रहता है। तरगे उठती है। तरगे गिरती है। तरगो का उन्मेष होता है। तरगो का निमेष होता है। पलके खुलती है। पलके गिरती है। पलको का उन्मेष होता है। पलको का निमेप होता है। यह उन्मेप और निमेष का चक्र चलता रहता है।

आत्मिक उन्मेष जागा, किन्तु वह स्थायी कैसे हो, यह महत्त्वपूर्ण बात है। जो ज्योति जली, वह अखड ज्योति कैसे बने, शाश्वत ज्योति कैसे बने, उसमे निमेष आए ही नही, सदा उन्मेष ही रहे, यह कैसे सभव हो सकता है? इसके लिए सान्निध्य की जरूरत है। इसके लिए मन की शक्तियो का प्रयोग और सकल्प-शक्ति जरूरी है।

सबसे पहली बात है सान्निध्य की। कोई व्यक्ति समता की यात्रा प्रारम्भ करता है, यह अनजानी यात्रा है, अज्ञात यात्रा है। यह वह मार्ग है जिस पर वह पहले कभी चला नही है। यह वह दिशा है जिस दिशा मे पैर कभी आगे नही बढे हैं। अज्ञात मार्ग मे सहारा अपेक्षित होता है। अन्यथा व्यक्ति भटक जाता है। जहाजो के लिए भी दिशा-निर्देश यत्र की आवश्यकता होती है, जो दिशा का ठीक निर्देश दे सके। इसी प्रकार इस अज्ञात यात्रा मे किसी-न-किसी व्यापक या गमक साधन की जरूरत होती है, जिससे ठीक दिशा का पता लग सके और सही दिशा मे यात्रा हो सके। अध्यात्म के इस अनजाने मार्ग पर पादन्यास करने से पूर्व साधक सान्निध्य की याचना करता है। वह कहता है—'करेमि भते! सामाइय—भगवान्! मै सामायिक मे उपस्थिति हो रहा हू, मे सामायिक कर रहा हू, आपकी सन्निधि मुझे प्राप्त हो, आपका सान्निध्य मुझे प्राप्त हो। मैं आपकी साक्षी से इस मार्ग पर चल पड़ा हू।'

वह सामायिक करता है भगवान् की साक्षी से। वह पहले सान्निध्य को अपने मे उतारता है। वह उस आत्मा के सान्निध्य को उपलब्ध होता है जिस आत्मा ने सामायिक के चरम शिखर पर पहुंचकर सामायिक के उत्कर्ष को प्राप्त कर लिया है। ऐसे सान्निध्य को प्राप्त करने से कोई लाभ नहीं होता, जिसने स्वय सामायिक का अभ्यास नही किया है। ऐसा सान्निध्य और अधिक असामायिक की ओर ले जाएगा। सान्निध्य का बहुत बडा प्रभाव

'बन्धो ! क्रोध ! विधेह् किञ्चिदपरं स्वस्याधिवासास्पदं,
भ्रातर् ! मान ! भवानपि प्रचलतु, त्वं देवी ! माये ! व्रज ।
हंहो ! लोभ ! सखे यथाभिलषितं गच्छ द्रुतं वश्यता,
नीतः शान्तरसस्य सम्प्रति लसद्वाचा गुरूणामहम् ॥'

—'भाई क्रोध ! अब तुम अपना दूसरा ठिकाना खोज लो। इस स्थान मे तुम्हे अब अवकाश नही है।' क्रोध ने सोचा—'यह क्या ? यह कैसा पागल है ? हम अनन्त काल से साथ रह रहे है, आज अचानक मुझे बाहर ढकेल रहा है। यह क्या हो गया ?' साधक ने मान को सम्बोधित कर कहा—'भाई मान ! तुम भी चले जाओ। हे देवी माया ! अब तुम्हारा यहा कोई काम नही है तुम भी चली जाओ।' सबने सोचा, शायद साधक पागल हो गया है, अन्यथा वह अपने जीवन-साथियो को चले जाने के लिए क्यो कहता ? हमने कभी यह सोचा भी नही था कि इससे बिछुड़ना पड़ेगा। यह हमे इस प्रकार चुनौती देगा। यह हमारे समझ से परे की बात थी। इतने मे साधक ने कहा—'अरे भाई लोभ ! तुम भी अपना स्थान खाली करो। यहा से जहा चाहो चले जाओ।' क्रोध, मान, माया और लोभ चारो असमंजस मे पड़ गये। उन्होने कहा—'हम सदा तुम्हारे साथ रहे हैं। एक क्षण के लिए भी हमने तुम्हारा साथ नही छोडा। तुम्हारे सुख मे भी हम साथ रहे और दु.ख मे भी हमने तुम्हारा साथ निभाया। आज तुम हमे छोड़ रहे हो, यह अन्याय है।'

साधक ने कहा—'जब मै सोया था तब तुम जागते थे। जब तक मै सोया रहा, तुम मेरे मे बने रहे। आज मै जाग गया हू। मेरी मूर्च्छा टूट गयी है। ऐसी कोई अमृत-वर्षा हो रही है जिसमे मै आकण्ठ-मग्न हू। अब तुम नही रह पाओगे। मै सोया रहता हू तब ही तुम कुछ कर पाते हो। जागने के बाद तुम अकिञ्चित्कर हो जाते हो। मालिक सोता है तब घर मे चोर घुस जाते है, घर मे रह सकते हैं, किन्तु जब मालिक जाग जाता है तब चोर घर मे नही रह सकते।'

जीवन मे जब कोई आत्मिक उन्मेष जागता है, आध्यात्मिक घटना घटित होती है तब सारी दिशा बदल जाती है और सारी शक्ति श्रेयस् की दिशा मे प्रवाहित होने लग जाती है। यह आत्मिक उन्मेष ही सामायिक है। यह जागना ही सामायिक है। सामायिक, समता, साम्य तब घटित होता है जब स्वानुभाव का एक लव भी जागृत हो जाता है। जब तक स्व का अनुभव नही होता, आत्मा का अनुभव नही होता, आत्मा का उन्मेष नही जागता तब तक जीवन मे सामायिक घटित नही होता।

सामायिक और चैतन्य का अनुभव—दोनो साथ जुड़े हुए है। जितना-जितना चैतन्य का अनुभव उतनी-उतनी सामायिक। जितना-जितना सामायिक

उतना-उतना चैतन्य का अनुभव। परानुभव और स्वानुभव—ये दो विरोधी दिशाएं है। ये कभी मिलने वाली नही है। परानुभव भी चलता रहे और स्वानुभव भी होता रहे, यह कभी सभव नही है। दो समानान्तर रेखाए कभी नही मिलती। परानुभव और स्वानुभव दो समानान्तर रेखाए है। परानुभव और सामायिक साथ-साथ भले ही चले, पर वे परस्पर कभी नही मिल सकते। सामायिक करने की भावना तब जागती है जब स्वानुभव का उन्मेष होता है।

उन्मेष और निमेष—दोनो का क्रम सतत चलता रहता है। तरगे उठती है। तरगे गिरती है। तरगो का उन्मेष होता है। तरगो का निमेप होता है। पलके खुलती है। पलके गिरती है। पलको का उन्मेष होता है। पलको का निमेष होता है। यह उन्मेष और निमेष का चक्र चलता रहता है।

आत्मिक उन्मेष जागा, किन्तु वह स्थायी कैसे हो, यह महत्त्वपूर्ण बात है। जो ज्योति जली, वह अखड ज्योति कैसे बने, शाश्वत ज्योति कैसे बने, उसमे निमेष आए ही नही, सदा उन्मेप ही रहे, यह कैसे सभव हो सकता है? इसके लिए सान्निध्य की जरूरत है। इसके लिए मन की शक्तियो का प्रयोग और सकल्प-शक्ति जरूरी है।

सबसे पहली बात है सान्निध्य की। कोई व्यक्ति समता की यात्रा प्रारम्भ करता है, यह अनजानी यात्रा है, अज्ञात यात्रा है। यह वह मार्ग है जिस पर वह पहले कभी चला नही है। यह वह दिशा है जिस दिशा मे पैर कभी आगे नही बढ़े है। अज्ञात मार्ग मे सहारा अपेक्षित होता है। अन्यथा व्यक्ति भटक जाता है। जहाजो के लिए भी दिशा-निर्देश यत्र की आवश्यकता होती है, जो दिशा का ठीक निर्देश दे सके। इसी प्रकार इस अज्ञात यात्रा मे किसी-न-किसी व्यापक या गमक साधन की जरूरत होती है, जिससे ठीक दिशा का पता लग सके और सही दिशा मे यात्रा हो सके। अध्यात्म के इस अनजाने मार्ग पर पादन्यास करने से पूर्व साधक सान्निध्य की याचना करता है। वह कहता है—'करेमि भते! सामाइयं—भगवान्! मै सामायिक मे उपस्थित हो रहा हू, मे सामायिक कर रहा हू, आपकी सन्निधि मुझे प्राप्त हो, आपका सान्निध्य मुझे प्राप्त हो। मैं आपकी साक्षी से इस मार्ग पर चल पडा हूं।'

वह सामायिक करता है भगवान् की साक्षी से। वह पहले सान्निध्य को अपने मे उतारता है। वह उस आत्मा के सान्निध्य को उपलब्ध होता है जिस आत्मा ने सामायिक के चरम शिखर पर पहुंचकर सामायिक के उत्कर्ष को प्राप्त कर लिया है। ऐसे सान्निध्य को प्राप्त करने से कोई लाभ नही होता, जिसने स्वयं सामायिक का अभ्यास नही किया है। ऐसा सान्निध्य और अधिक असामायिक की ओर ले जाएगा। सान्निध्य का बहुत बड़ा प्रभाव

होता है। कोई व्यक्ति सामायिक के पथ पर चल रहा है और उसे सान्निध्य मिलता है असामायिक की ओर ले जाने वाले व्यक्ति का, विषमता की ओर ले जाने वाले का तो व्यक्ति भटक जाएगा। वह कहेगा—'कहा जा रहे हो ? हिंसा और उत्पीड़न किए विना रोटी कमाकर कैसे खा सकोगे ? क्या विना पैसे के बाल-बच्चो को पढ़ा पाओगे ? क्या रहने के लिए मकान बना पाओगे ? क्या आधुनिक सुख-सुविधाओ का उपभोग कर सकोगे ? तुम कहा भटक गए ? यह सामायिक का रास्ता गलत है।' व्यक्ति ऐसा भटकता है, मार्ग-च्युत होता है कि सामायिक कही रह जाती है। इसलिए सान्निध्य ऐसा मिले जो समता की ओर ले जा सके, जिससे यह सतत प्रेरणा और स्फुरणा मिलती रहे कि जीवन मे यदि सामायिक उपलब्ध नही हुआ तो कुछ भी उपलब्ध नही हुआ। सब कुछ पाकर भी व्यक्ति दरिद्र है, यदि उसे सामायिक प्राप्त नही है।

जब हमारे सामने एक परम पवित्र आत्मा विराजमान रहती है, उस परम आत्मा का सान्निध्य हमारे अन्त करण मे, हमारी चेतना के कण-कण मे विद्यमान होता है, उस समय कोई भी शक्ति हमे समता से विचलित नही कर सकती।

सन्निधि का अर्थ है—निकटता। जब सामायिक के चरम शिखर को उपलब्ध आत्मा के साथ हमारी एकात्मकता होती है, तब सहज ही हमारे जीवन में सामायिक का अवतरण हो जाता है। सामायिक जीवन की एक बहुत बड़ी घटना है। जब व्यक्ति सभी पापमय प्रवृत्तियो से अपने अस्तित्व को पृथक् अनुभव करता है तब सामायिक घटित होती है। जब तक सावद्य कर्मों के साथ, क्लेश मे डालने वाले कर्मो के साथ अपने अस्तित्व को जोड़ता चलता है तब तक सामायिक घटित नही होती। जब व्यक्ति अपने अस्तित्व को पृथक् देखना शुरू करता है और अपने अस्तित्व से परे की सारी वस्तुओ को भिन्न देखता है, उस क्षण मे जीवन मे सामायिक घटित होती है। जितनी भी सावद्य प्रवृत्तिया है, राग-द्वेष की प्रवृत्तिया हैं, जिनको हमने अस्तित्व का अग बना रखा है, जब तक उनके साथ अभिन्नता की दृष्टि बनी रहेगी तब तक सामायिक अवतरण नही होगा। जब यह सम्यग्दृष्टि आ जाएगी— ये विजातीय तत्त्व मेरे अंग नही है, ये सब 'पर' हैं, मेरे स्वत्व पर अधिकार जमाए हुए है, मुझे दु.ख के चक्र मे डाले हुए हैं तब सामायिक घटित होगी।

हम सामायिक को उपलब्ध करने के लिए मन की शक्तियो का प्रयोग करें। मन की शक्ति का प्रयोग अनावश्यक नही है। वह भ्रम नही है।

मन की पहली शक्ति है—कल्पना। कल्पना-शक्ति का उपयोग किए विना कोई भी आदमी बडा काम नही कर सकता। ध्यान के अभ्यास-काल मे हम वार-बार कहते है—'कल्पना मत करो, कल्पना मत करो,

विकल्प मत करो।' किन्तु काम के समय कल्पना की बहुत अपेक्षा होती है। निर्विकल्प शक्ति के द्वारा कल्पनाशक्ति का विकास होता है। यह न माने कि निर्विकल्प दशा मे और कल्पना की मनोदशा मे कोई सर्वथा विरोध है। उनमे सर्वथा विरोध नही है। ध्यान-काल मे कोई विकल्प न करे, कोई कल्पना न करे शक्ति के सवर्धन के लिए। ध्यानमुक्त काल मे कल्पना करे। दोनो जरूरी है। ध्यान के विकास के लिए कल्पना करना बहुत जरूरी है। ध्यान मे बैठने से पूर्व कल्पना करनी चाहिए। अर्हत् की कल्पना करे। मन मे एक स्वस्थ आकृति का निर्माण करें। जब तक कोई आकृति स्पष्ट नही होती तब तक काम आगे नही बढ सकता। सबसे पहले कल्पना करनी होती है, एक चित्र का निर्माण करना होता है कि मै यह बनना चाहता हू। ध्यान मे यह क्षमता है कि वह व्यक्ति को अपने सकल्प के अनुसार ढाल सकता है। जैसा चाहे वैसा बने—इसमें ध्यान माध्यम बनता है। एक व्यक्ति चाहता है कि मै अमुक्त व्यक्ति को पीडित करू। ऐसी शक्ति भी ध्यान के द्वारा ही प्राप्त होती है, एकाग्रता के द्वारा ही प्राप्त होती है। एकाग्रता के द्वारा शक्ति को अर्जित कर अनेक व्यक्ति दूसरों का उत्पीडन करते हैं, दूसरो को सताते हैं, लूटते है और मार भी डालते है। कोई व्यक्ति किसी का भला करना चाहे, अच्छा करना चाहे तो यह शक्ति भी ध्यान के माध्यम से ही प्राप्त होती है। आत्मविकास करने वाले व्यक्ति का यह पहला कर्त्तव्य है कि जो बनना है उसका वह चित्र बनाए। जब तक यह नही होता, तब तक जो बनना होता है, वह नही बना जा सकता।

इसके पश्चात् संकल्पशक्ति का उपयोग करे, इच्छाशक्ति का उपयोग करे। जो हमारी भावना है, उसमे प्रबलता लाए। भावना मे प्रबलता का नाम ही इच्छाशक्ति, संकल्पशक्ति या दृढ निश्चय है। जब इच्छाशक्ति प्रबल होती है तब 'बनने' की दिशा में गति प्रारभ हो जाती है। इच्छाशक्ति के द्वारा विचारो मे ऐसे प्रकपन पैदा होते हैं कि हमारा परिणमन प्रारम्भ हो जाता है। न केवल हमारे विचारो मे प्रकंपन शुरू होता है किन्तु आकाश-मडल भी प्रकपित हो उठता है। वायुमंडल मे प्रकपन होते है और वह घटित होने लग जाता है, जो होना है।

हम कभी-कभी सुनते हैं कि अमुक्त व्यक्ति ने भगवान् का साक्षात्कार कर लिया। कैसे किया ?—यह एक प्रश्न है। जिस व्यक्ति के मन मे महावीर का चित्र स्पष्ट था, उसने महावीर का साक्षात्कार कर लिया। जिस व्यक्ति के मन मे राम या कृष्ण का चित्र स्पष्ट था, उसने राम या कृष्ण का साक्षात् कर लिया। यह साक्षात् उसी रूप मे होता है जिस रूप मे व्यक्ति ने महावीर, राम या कृष्ण को देखा है, जाना है, समझा है। जिस व्यक्ति के मन मे आचार्य भिक्षु का चित्र स्पष्ट था उस व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु के दर्शन कर

लिये । न जाने कितने भक्त कितने भगवानो को देख लेते हैं । वे देखते उसी भगवान् को हैं जिसका चित्र मन मे स्पष्ट होता है । दूसरे भगवानो को नही देखा जा सकता है । इसका तात्पर्य यही है कि पहले हमने एक चित्र वनाया। फिर कल्पनाशक्ति या सकल्प शक्ति के द्वारा वायुमडल को इतना आदोलित कर दिया, इतनी तरंगे पैदा कर दी कि सारा वायुमडल प्रकंपित हो उठा और उसमे से जो हमारा इष्ट था, उसकी आकृति हमारे सामने स्पष्ट हो गयी । यही हमारा साक्षात्कार है ।

तीसरी शक्ति है—एकाग्रता । इसका भी उपयोग करे । हम जो होना चाहते हैं, उसी ओर मन की सारी शक्ति को प्रवाहित कर दे । भटकाव को मिटा दें । मन की शक्ति जव इधर-उधर दौडती है, एक लक्ष्य की ओर प्रवाहित नही होती तब सफलता नही मिल सकती । मन की ऊर्जा जव एक दिशागामी होती है तव हम जो बनना चाहते है, वह वन जाते हैं । 'एगायणरयस्स'—जो एक ही आयतन मे रत होता है, जो एक ही आयतन को देखता है, वह उस आयतन तक पहुच जाता है । हम सीधी दिशा मे चले, परिक्रमा न करें । परिक्रमा करने वाला उस निश्चित वर्तुल में ही घूमता रहता है, आगे नही वढ पाता । आगे वह बढता है जो एक ही दिशा मे चलता रहता है । मन की सारी ऊर्जा को एक दिशा मे प्रवाहित करना सफलता का चिह्न है । जब तीनो शक्तियो—कल्पनाशक्ति, सकल्पशक्ति और एकाग्रता की शक्ति—का उपयोग सम्यक् होने लगता है, उस समय हम तन्मय होकर ध्यान की स्थिति मे चले जाते है ।

हमारा ध्येय है सामायिक । हम है ध्याता । प्रश्न होता है—ध्याता और ध्येय के बीच कितनी दूरी है ? इसका कुछ निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता । किन्तु इसके लिए एक सिद्धात स्थापित किया जा सकता है कि जितनी व्यग्रता उतनी ही दूरी, जितनी एकाग्रता उतनी ही दूरी की कमी ।

मन की दो भूमिकाए हैं । एक है व्यग्रता की भूमिका और दूसरी है एकाग्रता की भूमिका । व्यग्र मन अर्थात् एक अग्र—आलवन पर न टिकने वाला मन, नाना अग्रो—आलंवनो पर भटकने वाला मन । उसका भटकाव कभी नही मिटता । एकाग्र मन अर्थात् एक ही अग्र पर टिकने वाला मन । इसमे भटकाव मिट जाता है ।

ज्ञान की दो अवस्थाए है – ज्ञान और ध्यान । दोनो ज्ञान है । जो चेतना चंचल है उसका नाम है ज्ञान और जो चेतना स्थिर है, उसका नाम है ध्यान । प्रत्येक ध्यान ज्ञान है । ऐसा कोई भी ध्यान नही है जो ज्ञान न हो, अज्ञान हो । किन्तु प्रत्येक ज्ञान ध्यान नही है । वही ज्ञान ध्यान है, जो एकाग्र है, एक आलवन पर चलने वाला है ।

ध्याता और ध्येय मे वहुत बडी दूरी है । उसे पाटना बहुत कठिन

होता है। जब साधक इस दूरी को पाटने का प्रयत्न करता है तब बीच मे अनेक अवरोध आ जाते हैं। ध्यान भग हो जाता है। एकाग्रता मिट जाती है। मन बाहर की चीजो मे उलझ जाता है। ध्येय धुधला हो जाता है, छूट जाता है। जब ध्येय की दिशा में गमन ही नही होता या भटकाव हो जाता है तब ध्येय उपलब्ध कैसे हो सकता है ? दूरी तभी मिट सकती है जब हमारे मन की गति निरतर ध्येय की दिशा मे होती है। जब मन व्यग्रता से शून्य हो जाता है तब ध्येय की निकटता होने लगती है। जब निकटता बढते-बढते हमारे चरण ध्येय तक पहुच जाते हैं तब मन की जो स्थिति बनती है, वह है तन्मयता। तन्मय हो जाने का अर्थ है—एक हो जाना। ध्येय और ध्याता तब दो नही रहते, एक हो जाते है। पूर्व मिट जाता है और ध्येय का रूप अवतरित हो जाता है। पूर्व व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है और ध्येय का व्यक्तित्व समाविष्ट हो जाता है। वहा 'मैं' समाप्त हो जाता है। जो बनना होता है वह घटित हो जाता है। ध्याता स्वय ध्येय रूप बन जाता है। फिर व्यक्ति अलग नही होता और सामायिक अलग नही होती। व्यक्ति स्वयं सामायिक बन जाता है। फिर वह ऐसा नही कह सकता कि 'मैं सामायिक कर रहा हू।' कौन करने वाला और कौन सामायिक ? 'मैं सामायिक करता हू'—इसका तात्पर्य है कि एक करने वाला है और एक की जाने वाली वस्तु है। यह भेद समाप्त हो जाता है। तब 'मैं' और 'सामायिक' दो नही रहते। करने की बात छूट जाती है। सामायिक जीवन मे अवतरित हो जाती है। समता के ध्येय को उपलब्ध करने के लिए जीवन मे सामायिक की घटना घटित होनी आवश्यक होती है। इसकी सपूर्ति के लिए चारो प्रकार की शक्तियो का उपयोग करना होता है—

१ कल्पना की शक्ति
२ इच्छा की शक्ति
३. एकाग्रता की शक्ति
४ तन्मयता की शक्ति

जब ये चारो शक्तिया साधक को उपलब्ध हो जाती हैं, तब जीवन मे सामायिक अवतरित होती है। यह केवल सामायिक की ही प्रक्रिया नही है। जो भी ध्येय बनाए, जो भी चित्र बनाए, जिसको उपलब्ध होना चाहते हैं, उसकी यही प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के द्वारा हम जो चाहें वह साध सकते हैं, उसे उपलब्ध कर सकते हैं। यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

हम प्रेक्षा का अभ्यास करते हैं। हमारा ध्येय है—चैतन्य का अनुभव करना। यह ध्येय तो हमने चुन लिया किन्तु प्रेक्षा ध्यान मे हम सबसे पहले चमडी को, हड्डियो को, फिर मास को, फिर मज्जा और रक्त को, फिर और-और चीजो को देखने जाते हैं। शरीर मे जितनी गदगी है उसको देखना प्रारम्भ करते हैं। ध्येय तो है आत्मा के अनुभव का और देखते हैं दूसरी-दूसरी चीजो को। यह विरोध-सा लगता है। किन्तु यह विरोधी बात नही

है। दिशा का भटकाव नही है। सही दिशा मे हमारी गति का क्रम है। हमे चैतन्य का अनुभव करना है। चैतन्य क्या आकाश से टपकता है? हम बन्दर तो नहीं है, जिसने मगरमच्छ से कहा था कि तुम मेरा कलेजा चाहते हो पर मैं तो अपने कलेजे को साथ लेकर नही फिरता। उसे मैं वृक्ष पर टाग आया हू। आदमी बन्दर नही है। वह नहीं कह सकता कि मै मेरे अध्यात्म को, मै मेरी सामायिक को कही अन्यत्र रखकर आया हूं। आदमी विकसित चेतना वाला प्राणी है। *वह बन्दर की तरह अल्प विकसित प्राणी नही है।*

जो व्यक्ति अपने जीवन मे कुछ घटित करना चाहता है, अपने चैतन्य की यात्रा करना चाहता है, वह यह बहाना नही कर सकता कि मेरा चैतन्य कही वृक्ष पर टंगा हुआ है। सारा का सारा चैतन्य इसी शरीर के भीतर अवस्थित है। जब वह शरीर के भीतर है, तब उसे प्राप्त करने के लिए हमे शरीर की यात्रा करनी होगी। इस यात्रा का प्रारम्भ हमे चमड़ी से करना होगा। फिर एक-एक आवरण को पार कर हमे नाडी-संस्थान तक पहुंचना होगा। फिर हमे तैजस शरीर को पार करना होगा। तैजस शरीर हमारी समस्त प्रवृत्तियो का सचालक है। हमारी प्राणशक्ति तैजस शरीर के द्वारा प्राप्त होती है। उसके पश्चात् हमे कर्म शरीर की यात्रा प्रारम्भ करनी होगी, जहा से सारी शक्तिया उमड़-उमडकर आती हैं। ये सब छोटे-मोटे झरने हैं। महाप्रपात तो वही कर्म-शरीर है। सूक्ष्म कर्म-शरीर के एक-एक अणु पर, अनादिकाल से चिपके हुए संस्कारो को देखना होगा और एक-एक को पार करने का प्रयत्न करना होगा।

सूक्ष्म शरीर का बहुत बडा ससार है। वह इतना बड़ा संसार है कि आज के अरबो-खरबों दृश्य संसार इसमें सहजता से समाविष्ट हो सकते है। इतना बड़ा ससार दूसरा है नही। कुछ तारे ऐसे है जिनमे सात नील पृथ्विया समा जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म कर्म-शरीर के सामने ये तारे भी छोटे हैं। इसमे अनन्त संसार समाहित है। उस अनन्त संसार को, अनन्त सस्कारो के समार को हमे पार करना होगा। उसको पार करते ही चैतन्य का अनुभव प्रारम्भ हो जाता है।

प्रवचन २४ | संकलिका

१. व्यक्तित्व के छह खंड—
- ० भौगोलिक व्यक्तित्व—जो आकार-प्रकार देता है।
- ० आनुवंशिक व्यक्तित्व—जो जन्म के साथ-साथ बहुत कुछ देता है।
- ० सामाजिक व्यक्तित्व—जो विकास और प्रकाश का अवसर देता है।
- ० शारीरिक व्यक्तित्व—जो तृप्ति-अतृप्ति की अनुभूति का माध्यम बनता है।
- ० मानसिक व्यक्तित्व—जो सबके दायित्वों और प्रतिक्रियाओं का भार अकेला ढोता है।
- ० परामानसिक व्यक्तित्व—जो व्यक्ति के सभी प्रकारों पर अपना स्वामित्व रखता है, सबको अपने प्रभाव से संचालित करता है।

२. सामायिक है—व्यक्तित्व के नव निर्माण की प्रक्रिया।

३. सामायिक है—रेचन की प्रक्रिया।

४. सामायिक है—अतीत के व्यक्तित्व को विसर्जित कर नए व्यक्तित्व को घटित करने की प्रक्रिया।

व्यक्तित्व का नव निर्माण

हमारा व्यक्तित्व छह खडो में विभाजित है। ये खड कर्मशास्त्रीय अवधारणा के आधार पर होते है। कर्मशास्त्र के अनुसार मैने इन छह खडो पर व्यक्तित्व को देखने का प्रयत्न किया है। ये छह खड है :—

१ भौगोलिक व्यक्तित्व	४ शारीरिक व्यक्तित्व
२. आनुवशिक व्यक्तित्व	५ मानसिक व्यक्तित्व
३ सामाजिक व्यक्तित्व	६ परामानसिक व्यक्तित्व।

सबसे पहला है—भौगोलिक व्यक्तित्व। हमारा एक व्यक्तित्व ऐसा होता है जिसके निर्माण मे भूगोल का बहुत बडा अनुदान होता है। एक व्यक्ति भारत मे जन्म लेता है। दूसरा व्यक्ति यूरोप मे जन्म लेता है। एक व्यक्ति उत्तर मे जन्म लेता है। दूसरा व्यक्ति दक्षिण मे जन्म लेता है। दोनो मे अपनी-अपनी विशेषता होती है। यह विशेषता भौगोलिक है। हम व्यक्ति के वर्ण, रहन-सहन आदि को देखकर जान लेते हैं कि यह अमुक देश का है, अमुक प्रान्त का है। उसकी क्षेत्रीय विशिष्टता उसके भौगोलिक व्यक्तित्व को उजागर करती है।

आनुवशिकता का भी व्यक्तित्व मे बहुत बडा अवदान होता है। आनुवशिकता का भी एक पूरा व्यक्तित्व बन जाता है। माता-पिता के गुण-दोष सतान मे सक्रात होते है। माता-पिता के अवयव, अवयवो के गुण-दोष सतान मे सक्रमित होते है। सतान माता-पिता का मिश्रण है। उसमे तीन अवयव माता के और तीन अवयव पिता के होते है। मनुष्य मनुष्य जैसा होता है, वह हाथी जैसा नही होता। इसका कारण है—आनुवशिकता। आनुवशिकता ही यह निश्चित करती है कि मनुष्य मनुष्य के आकार का ही होगा, हाथी के आकार का नही। मानव को मानव आकार मिलता है, मास-पेशिया मिलती है, अस्थि-सस्थान, मस्तिष्क आदि मिलते है, वह सब आनुवशिकता के कारण मिलता है।

व्यक्तित्व का तीसरा खड है—सामाजिक व्यक्तित्व। समाज के कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व बनता है। वह समाज से परे रहने पर नही बनता। एक आदमी दूसरे से बातचीत करता है, स्पष्ट बोलता है। अपनी बात दूसरो को समझाता है और दूसरो की बात स्वयं समझता है। वह विकास समाज के आधार पर ही होता है। यदि समाज न हो तो यह विकास नही हो सकता। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ व्यवहार करता है, लेन-देन करता है, यह सारा

सामाजिक व्यक्तित्व है। जितनी परस्परता है वह सामाजिक व्यक्तित्व है। समाज के नियम है, समाज की व्यवस्थाए है और समाज की अवधारणाए हैं। एक व्यक्ति एक प्रकार की वेशभूषा पहनता है और दूसरा दूसरे प्रकार की। यह सामाजिक प्रभाव है। जो व्यक्ति जिस समाज मे रहता है वह उसकी अवधारणा के अनुसार वस्त्र पहनता है और यदि वह कुछ भी परिवर्तन करता है तो वह स्वयं एक प्रश्नचिह्न वन जाता है। वेशभूषा, व्यवहार और आचार-विचार—ये सारे हमारे सामाजिक व्यक्तित्व के कारण है। यदि व्यक्ति अकेला व्यक्ति होता, यदि उसका सामाजिक व्यक्तित्व नही होता तो शायद वह अपने तक ही सीमित रहता, वहुत विकास नही कर पाता।

व्यक्तित्व का चौथा खड है—शारीरिक व्यक्तित्व। शरीर के आधार पर हमारा एक व्यक्तित्व निर्मित होता है। शरीर की अवधारणाओ के आधार पर, शरीर की दीप्ति के अनुसार एक व्यक्तित्व निर्मित होता है। हमारे वहुत सारे कार्य शारीरिक अवधारणाओ के आधार पर होते है। शरीर की मांग के आधार पर, शरीर की तृप्ति और अतृप्ति के आधार पर अनेक वर्जनाएं और कार्य की अनेक विधाए चल सकती हैं।

व्यक्तित्व का पाचवा खड है—मानसिक व्यक्तित्व। यह सव व्यक्तित्वो का भार ढोने वाला है। यह सव व्यक्तित्वो के दायित्वो और प्रतिक्रियाओ का भार ढोता है। परामानसिक व्यक्तित्वो का भार भी यही ढोता है। सभी प्रकार के व्यक्तित्वो के दायित्व का वहन करना, प्रतिक्रियाओ को झेलना, क्रियाओ का उत्सर्जन करना—यह सव मानसिक व्यक्तित्व करता है। यह व्यक्तित्व मन के आधार पर खडा है। इसने मान्यताए वना रखी हैं। इनमे दोनो प्रकार की मान्यताए है—वर्जना की मान्यताए और वहुत करने की मान्यताए। हमने इतनी मान्यताए खडी कर रखी हैं कि पूरा मानसिक व्यक्तित्व हमारे ऊपर छाया हुआ है।

ये पाचो व्यक्तित्व स्पष्ट हैं। इनकी प्रतिष्ठापना के लिए वहुत तर्क अपेक्षित नही हैं। वहुत सरलता से इन्हे समझाया जा सकता है। व्यक्ति पर माता-पिता का, समाज का, शरीर का और मन का प्रभाव होता है। ये ऐसी उजली, सफेद वाते है कि इनको देखने के लिए दीया जलाने की आवश्यकता नही होती। जो स्वय मे स्पष्ट है उसके लिए प्रकाश आवश्यक नही है।

हमारे व्यक्तित्व का छठा खड है—परामानसिक व्यक्तित्व। यह छिपा हुआ है, तमस् मे है, अधेरे मे है। प्रकट नही है। किन्तु यह ऐसा व्यक्तित्व है जिसके हाथो मे दूसरे पाचो व्यक्तित्वो की नकेल है। वह चाहे तो भौगोलिक, आनुवशिक, सामाजिक, शारीरिक और मानसिक—सभी प्रभावो को नष्ट कर सकता है। वनाना और विगाड़ना, सृष्टि और सहार, प्रलय और

निर्माण—सब कुछ इसके हाथ मे है। यह भीतर छिपा रहकर इस प्रकार सचालन कर रहा है कि सब इसके इशारे पर नाच रहे हैं।

वर्तमान वैज्ञानिको और मानसशास्त्रियो ने बहुत बडी क्रांति की। उन्होने कहा—'चेतन मन के स्तर पर या भौतिक स्तर पर जो घटित हो रहा है वह अचेतन मन का प्रतिविम्ब है। यह भौतिक जगत् मे बहुत बडी घटना है, जो समूचे सिद्धांत को बदल देती है। जहा केवल शरीर या स्थूल मन के आधार पर सारी अवधारणाए चलती है, उस स्थिति मे यह प्रतिपादन सामने आया कि व्यक्ति जो स्वप्न लेता है, व्यक्ति के मन मे जो वासनाए उभरती है, जो वासनाए है, वे सब दमित वासनाए स्वप्न मे उभरती हैं और जागते मे उभरती है।

मन के दो स्तर है—चेतन मन का स्तर और अवचेतन मन का स्तर। अवचेतन मन का स्तर अत्यत शक्तिशाली है। जितनी घटनाए घटित होती है, हमारे जितने आचरण है, उन सबका स्रोत है—अवचेतन मन। कर्मशास्त्र ने हजारो वर्षो पूर्व इस विषय का प्रतिपादन किया था कि व्यक्ति जो कुछ करता है उसके पीछे कर्म की प्रेरणा होती है। 'कम्मुणा जायए'—कर्म से ही होता है। यही प्रेरक तत्त्व है। हमारे सभी आचरणो का मूल स्रोत है कर्म। जो कर्म सचित है, जो कर्म अस्तित्व मे है, सत्ता मे है और जब वे उदय मे आते है, जब उनका विपाक होता है तब नाना प्रकार की घटनाए घटित होती हैं। सारा का सारा व्यक्तित्व उनके आधार पर चलता है। कर्मशास्त्र की भाषा मे जिसे हम कर्मो का विपाक कहते है, उसे ही मनोविज्ञान की भाषा मे दमित इच्छाओ का उभार कहते है। दोनो का आशय तो निकट है ही, भाषा की दूरी भी नही है।

हमारे समूचे व्यक्तित्व के पीछे, व्यक्तित्व मे घटित होने वाली घटनाओ के पीछे जो रहस्यमय सत्ता छिपी हुई है, वह है सूक्ष्म शरीर या कर्मशरीर की सत्ता या सूक्ष्म शरीरीय चेतना की सत्ता। इसे हम परामानसिक सत्ता कहते है। इस तक पहुचे विना किसी भी कार्य या घटना की व्याख्या नही की जा सकती।

कर्म का सबध परामानसिक है। एक व्यक्ति उसी भूखड मे रहता है जहा दूसरे लोग रहते हैं। कुछ लोगो पर भौगोलिकता का असर नही होता और कुछ लोगो पर भौगोलिकता का प्रभाव होता है। इसकी व्याख्या कैसे की जाए? यदि हम केवल भौगोलिकता के आधार पर उसकी व्याख्या करे तो पूरी व्याख्या नही हो सकती। परामानसिक व्यक्तित्व उसमे परिवर्तन ला देता है। आनुवशिकता की बात भी ऐसी ही है। यह भी सर्वथा लागू होने वाला सार्वभौम सिद्धात नही है। शारीरिक, सामाजिक और मानसिक व्यक्तित्वो मे अनेक अपवाद मिलते हैं। उन सब अपवादो को घटित करने वाला

परामानसिक व्यक्तित्व है। परामानसिक व्यक्तित्व व्यक्ति को चलते-चलते वदल देता है। चेतन मन की इच्छा होती है—साधना करू, ध्यान करू। किंतु परामानसिक व्यक्तित्व एक ऐसी प्रक्रिया चालू करता है कि ध्यान कही रह जाता है, सर्वथा छूट जाता है और व्यक्ति ध्यान की प्रतिकूल अवस्थाओ मे चला जाता है। मन की इच्छा कुछ होती है और उसके विपरीत ही सव कुछ घटित होने लग जाता है। कोई व्यक्ति सच्चरित्र है, सामाजिक प्रतिवद्धताओ, नियमो और अवधारणाओ को मानकर चलने वाला है, किन्तु ऐसा कोई अकल्पित कार्य कर बैठता है कि लोग आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वे सोचते हैं – ऐसे आदमी ने यह जघन्य अपराध कैसे कर डाला? कितना समझदार, बुद्धिमान् और विवेकी था, फिर भी यह कार्य कर बैठा। वहा लोगो की समझ काम नही करती। तर्क के आधार पर भी इसे नही समझा जा सकता। वह कार्य अतार्किक और अहेतुक है। कोई तर्क या हेतु स्पष्ट नही दीखता। किन्तु उसके भीतर भी एक सूक्ष्म हेतु है. जो उस कार्य को घटित करता है। वह सूक्ष्म हेतु अन्दर काम करता है। हम इस सचाई को समझे—जव तक अतीत हमारा पीछा करता रहेगा तव तक हम जो चाहते है, वह जीवन मे घटित नही कर पाएगे। अतीत का भूत हमारा पीछा कर रहा है, हम इससे पीछा छुडाए। जव ऐसा होगा तभी हम स्वतत्र रूप मे अपना स्वतत्र जीवन सचालित कर पाएगे। वह हमारा पीछा करता रहे, हम उससे न वच पाए तो हम स्वतत्र व्यक्तित्व को नही पनपा सकेगे। परतन्त्रता का सामना हमे पग-पग पर करना पडेगा।

सामायिक करने वाला व्यक्ति इस वात से वहुत सावधान और जागरूक रहता है, इसलिए वह कहता है – 'करेमि भंते! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि!'—'भते! मैंने आपका सान्निध्य प्राप्त किया है। मैंने समताभाव के साथ तादात्म्य स्थापित करने का सकल्प लिया है। मैंने सावद्य कर्मो और प्रवृत्तियो को त्यागने का सकल्प किया है। मै कोई भी अवाछनीय कर्म नही करूगा। मन से, वचन से और काया से मै सावद्य कर्म न करूगा, न कराऊगा और न करने वाले का ही अनुमोदन करूगा।'

यह वहुत ही स्वस्थ सकल्प है। सान्निध्य भी उपलब्ध है। सव कुछ ठीक है। साथ-साथ साधक इस सचाई के प्रति जागरूक भी है कि मेरा यह सकल्प तव ही फलित हो सकता है जव अतीत का पीछा छूट जाए। इसलिए वह साधक दोहराता है—'पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि।' 'भते! अतीत मे मैंने जो आचरण किए थे, मै उनका प्रति-

क्रमण करता हू । उस भूमिका से अब मैं नयी भूमिका में लौट आया हूं । मै विषमता की भूमिका से समता की भूमिका मे लौट आया हूं । मैं अपने से दूर चला गया था, अपने स्वत्व से दूर चला गया था, अपने घर को छोड कर बाहर चला गया था, अब मै अपने घर मे फिर लौट आया हूं । मैं निंदा करता हूं । मैंने विषमता का जो आचरण किया था, आज मैं अनुभव करता हूं कि वह निंदनीय और कुत्सित था । मैं गर्हा करता हू । सारा पापकर्म घृणित था । आदरणीय नही था ।' 'मै अपने सारे पुराने व्यक्तित्वो का विसर्जन करता हू । आज से मैं व्यक्तित्व का नव निर्माण करता हूं । सामायिक से पूर्व जो मेरा व्यक्तित्व था, उसका विसर्जन करता हूं । आज से मेरा नया जन्म होगा, व्यक्तित्व का नव निर्माण होगा और मैं नए सिरे से जन्म प्राप्त कर अपना जीवन धारण करूगा ।'

यह बहुत बड़ी जागरूकता है । जब तक अतीत का शोधन नही होता तब तक हमारा सकल्प चलता नही है । व्यक्ति दिन मे १०-२० बार सोच लेता है कि यह काम अच्छा नही है, मुझे नही करना चाहिए । किन्तु समय आते ही वही काम हो जाता है । इसी प्रकार क्रोध न करने की सोचता है किन्तु घटना आते ही गुस्सा तैयार है । व्यक्ति अनेक मनोरथ निर्मित करता है किन्तु जब अवसर आता है तब सारी बातें व्यर्थ हो जाती है, विलीन हो जाती है । ऐसा क्यों होता है? इसलिए होता है कि हम केवल वर्तमान को सुधारना चाहते है, किन्तु अतीत की निर्जरा करना नही चाहते । अतीत की निर्जरा किए विना, अतीत की शक्ति को क्षीण किए विना केवल वर्तमान को सुधारने की बात व्यर्थ हो जाती है । वर्तमान मे रहना बहुत ही जरूरी है । किन्तु वर्तमान मे रहना तभी सम्भव है जब अतीत पीछा करना छोड़ दे । अतीत को क्षीण करने का एकमात्र उपाय है—द्रष्टाभाव का विकास । जिस व्यक्ति ने अपने द्रष्टाभाव को विकसित कर लिया, उसने अतीत से अपना पिंड छुडा लिया । जिसने द्रष्टाभाव का विकास नही किया, उसे अतीत भूत की भाति सताता रहता है । जब वह ध्यान करने बैठता है तब हजारो प्रकार की वासनाएं उभर आती हैं । व्यक्ति निराश हो जाता है । सोचता है—ध्यान मेरे वश की बात नही है । ध्यान मन की शांति के लिए करता हू किन्तु ध्यान करने के लिए बैठते ही मन अशात हो जाता है । वह निराश व्यक्ति ध्यान को छोड देता है । जब तक द्रष्टाभाव का विकास नही होता तब तक स्थिति मे परिवर्तन नही हो सकता । प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से द्रष्टाभाव विकसित होता है, सुस्थिर होता है । हमारी चेतना की ऐसी अवस्था निर्मित हो जाती है कि जो कुछ घटित होता है, वह देखा जाता है, प्रतिक्रिया नही होती । साधक मात्र द्रष्टा रहे, प्रतिक्रिया न करे । द्रष्टाभाव का विकास होते ही प्रतिक्रियाएं पीछे रह जाती हैं ।

अतीत को रेचन करने के लिए दो आलवन अपेक्षित हैं--कायोत्सर्ग और प्रेक्षा। जव साधक को यह लगे कि अतीत सता रहा है, मन को झकझोर रहा है, वासनाए उभर रही है, आकाक्षाएं वढ रही है, लोभ वढ रहा है, तृष्णा वढ़ रही है तव वह कायोत्सर्ग करे। जो भी विचार आए, उसे देखता रहे। विचारो को रोके नही। उन्हे आने का मुक्त अवकाश दे। द्रष्टाभाव से देखता जाए। जो आता है वह अपने आप चला जाएगा। जब साधक द्रष्टाभाव मे रहता है तव अतीत कुछ विगाड़ नही सकता। कर्मो का, सस्कारो का उभार होता है, उनका उदय होता है, साधक द्रष्टाभाव से सव कुछ देखता जाता है। वे विपाक मे आते हैं और मिट जाते हैं। उनका आना-जाना चालू रहता है और साधक का देखना चालू रहता है। यही प्रेक्षाध्यान की पद्धति है।

आचार्य हेमचद्र ने योगशास्त्र लिखा। उसमे वारह प्रकरण हैं। प्रथम ग्यारह प्रकरणो मे उन्होने परपरागत ध्यान की पद्धति का प्रतिपादन किया और वारहवे प्रकरण मे अपने अनुभूत तथ्यो का उल्लेख किया। उन्होने लिखा —'मैं जो कुछ इस प्रकरण मे लिख रहा हू वह किसी शास्त्र के आधार पर नही लिख रहा हू, किसी परपरा के आधार पर नही लिख रहा हू, किंतु मेरा अपना जो अनुभव है वह मैं यहा प्रकट कर रहा हू।' अपने अनुभवो के प्रकटीकरण मे उन्होने वताया कि जो विचार आते है, उन्हे रोको मत। विचारो को रोकने से वे भीतर दव जाते है। उनके ये विचार आज की मनोविज्ञान की भाषा मे इस प्रकार कहे जाते हैं--'इच्छाओ का दमन मत करो। इच्छाओं का दमन करोगे तो वे और गहरे मे चली जाएगी और फिर भयकर रूप धारण कर सताएगी।

आचार्य कहते है—'विचारो को रोको मत, दवाओ मत।' तो क्या वुरे विचारो को भी आने दे? धार्मिक लोग वुरे विचारो को कैसे आने देंगे। वे कहेगे—'वुरे विचारो पर नियत्रण लगाना चाहिए। उन्हे रोकना चाहिए।' आज के धार्मिक स्वय के वुरे विचारो के प्रति इतने जागरूक नही होते, जितने जागरूक वे दूसरो के वुरे कर्मों के प्रति रहते हैं। वे दूसरो को वुरे कर्मो से वचाने के लिए अनेक प्रकार का नियन्त्रण रखते है, अनेक नियम-उपनियम वनाते है। ऐसा लगता है कि मानो धर्म नियत्रण के आधार पर चल रहा है। नियत्रण से परिष्कार नही आता। यह परिष्कार या निर्जरा की पद्धति नही है। यह तो एक ऐसी पद्धति है कि जिससे रोग दव जाता है, मिटता नही।

प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति दोषो को वाहर निकालकर स्वास्थ्य प्रदान करती है। दोषो को दवाती नही।

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति पचकर्म के द्वारा दोषो को समाप्त कर-

शरीर को स्वस्थ वनाती है ।

ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति दोषो को दवाती है । जव दोष दव जाते है तव व्यक्ति मे स्वस्थ होने का भ्रम पैदा होता है । कालान्तर मे ये दोप उभरते है और व्यक्ति को दबोच लेते हैं ।

नियत्रण से बुराई को मिटाने की तुलना ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति से की जा सकती है । इसमे बुराई मिटती नही, उपशात होती है । जो उपशात होती है, वह उभरती है । जो मिट जाती है, उसके उभार का प्रश्न ही पैदा नही होता । मोह कर्म का उपशमन करने वाला वीतराग की स्थिति तक चला जा सकता है । उसका वीतराग व्यक्तित्व प्रकट हो जाता है । किन्तु उस साधक ने मोह के अणुओ को दवाया है, उपशांत किया है । उसने कषायो का उपशमन किया है । वे आत्मा मे दवे पडे है । उनका अस्तित्व वना हुआ है । निमित्त मिलते ही वे उछलते है और वीतराग व्यक्ति पुन अवीतराग बन जाता है, नीचे चला जाता है, गिर जाता है । वह लक्ष्य तक नही पहुच पाता ।

उपशमन की प्रक्रिया, दवाने की प्रक्रिया, भीतर रहने देने की प्रक्रिया वहुत ही खतरनाक होती है । वहुत सारे अधिकारी लोग प्रतिकूल घटना को दवाने मे अधिक विश्वास करते हैं । वे भूल जाते है कि दवी हुई घटना भयकर रूप धारण करती है और उससे अपराध भी भयकर होता है ।

हम दवाए नही, परिष्कार करे, निर्जरा करे । विचार चाहे अच्छा हो या वुरा, उसे दवाए नही, खुलकर आने दे । जैसे श्वास और शरीर की प्रेक्षा करते है, चैतन्य-केन्द्रों और कर्म-विपाको की प्रेक्षा करते है, वैसे ही विचारो की प्रेक्षा करे । विचारो को तटस्थभाव से देखते चले जाए । विचार अपने आप विसर्जित हो जाएंगे ।

प्राणायाम मे तीन वातें की जाती है—रेचक, पूरक और कुभक । हमारे व्यक्तित्व मे दो वाते प्राप्त होती हैं—रेचक और पूरक, छोडना और लेना । किंतु वास्तव मे देखा जाए तो लेने की वात गौण हो जाती है, क्योकि हम मानते है कि आत्मा पूर्ण है । आत्मा को कुछ भी लेना नही है । उपादेय कुछ भी नही है । वहा केवल रेचन की वात प्रधान है । हमारी पूर्णता इसलिए प्रकट नही होती कि हम रेचन करना नही जानते । हमारे सकल्प, हमारी कामनाए और भावनाए, हमारे मनोरथ इसीलिए अधूरे रह जाते हैं कि हम रेचन करना नही जानते ।

सामायिक के साथ रेचन की वात आवश्यक अग के रूप मे जुडी हुई है । 'तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाण वोसिरामि'—यह रेचन की प्रक्रिया है ।

प्रत्येक साधक रेचन करना सीखे । अच्छे विचार आने पर खुश न हो

और बुरे विचार आने पर निराश न हो। जो होता है उसे होने दे। जब नए लोग ध्यान का अभ्यास करते हैं तब बुरे विचार आते ही घबरा जाते है। वे कहते है—आज बहुत बुरा हुआ। मै कहता हू—बहुत अच्छा हुआ कि उतनी गदगी बाहर निकल गयी। ध्यान का अर्थ है गहराई मे जाना। जब व्यक्ति गहराई मे उतरता है तब एक के बाद एक परत उघडती हैं और दबे हुए सारे सस्कार उदित होने लगते हैं। यह ध्यानकाल के प्रारभ मे होता ही है। साधक इससे घबराए नही।

दो प्रकार के ज्वर होते हैं—हाडज्वर और सामान्य ज्वर। जब ज्वर हड्डीगत हो जाता है तब लगता है कि कोई ज्वर नही है किन्तु वह ज्वर बहुत ही खतरनाक होता है। जिस ज्वर के लक्षण प्रत्यक्ष दीखते है उसकी चिकित्सा की जा सकती है। किन्तु अस्थि-ज्वर ऐसा नही है। वह बाहर नही दीखता। भीतर ही भीतर चलता है। विचारो का, सस्कारो का भी यही क्रम है। साधक के द्वारा जब उन सस्कारो को कुरेदा जाता है, उखाडा जाता है तब वे आक्रमण करते हैं।

जो साधक इनसे घबराकर ध्यान छोड देता है, वह पथच्युत हो जाता है। यदि वह उस स्थिति को सभाल लेता है तो आगे बढ जाता है। यह एक ऐसा बिन्दु है जहा से व्यक्ति नीचे गढे मे भी गिर सकता है और छलाग मारकर शिखर तक भी पहुंच सकता है।

इसलिए सामायिक की साधना करने वाला व्यक्ति समझ लेता है कि जो अतीत का ऋण या देय है, वह प्रकट होगा, सामने अवश्य ही आएगा, किन्तु मुझे घबराना नही है, क्योकि मैं अपने व्यक्तित्व के नव निर्माण मे लगा हुआ हू और पुराने व्यक्तित्व को विसर्जित करने मे प्रयत्नशील हू। मैंने अनेक मान्यताओ और धारणाओ के आधार पर जिस व्यक्तित्व का निर्माण किया था उसे आज छोड रहा हू, उसका रेचन कर रहा हू। व्यक्तित्व के नव निर्माण के लिए नई ईंटे, नया चूना और नई सामग्री चाहिए। मैंने नई सामग्री जुटा ली है। पुराने व्यक्तित्व के विसर्जित हो जाने के कारण अब मै सामायिक की साधना मे निरन्तर आगे से आगे बढता जाऊंगा।

प्रवचन २५ | संकलिका

१ शक्ति और समता की धारा एक साथ बहती है तब मानसिक स्वास्थ्य घटित होता है।

२ समता की साधना के सूत्र ही मानसिक स्वास्थ्य की साधना के सूत्र है—

अपने-आप को जाने—अपनी क्षमता-अक्षमता को जाने।
अपने कृत के परिणामो को स्वीकार करे।
सत्य (सार्वभौम नियमो) के प्रति समर्पित रहें।
सहिष्णुता को विकसित करे।
अपना यथार्थ रूप प्रस्तुत करे।

३. पर्शनेलिटी पेरामीटर

४ इससे व्यक्तित्व का अङ्कन और मानसिक स्वास्थ्य की परख होती है। इसके छह सकेत-बिन्दु है—

१ वेशभूषा—कपडे कैसे पहनता है ? अपने प्रति कितना सजग है ?
२ व्यवहार—विभिन्न परिस्थितियो मे कैसा व्यवहार करता है ?
३ विचार—अपने वारे मे तथा दूसरे के वारे मे कितना सामंजस्य स्थापित कर पाता है ?
४ प्रतिक्रिया—उतार-चढाव या विभिन्न परिस्थितियो की क्या प्रतिक्रिया होती है ?
५ स्वभाव कैसा है ?—आशा, निराशा, मिलनसारिता।
६ निर्णय-शक्ति—व्यक्तिगत और सामाजिक—दोनो स्तर पर।

मानसिक स्वास्थ्य

क्या हम स्वस्थ हैं ?—यह प्रश्न हम किसी दूसरे न पूछे, अपने आप से पूछे। इस प्रश्न का उत्तर किसी दूसरे से पाने का प्रयत्न न करे किंतु अपने आप से ही इसका उत्तर पाने का प्रयत्न करे। यदि हमारे जीवन मे समता है तो समझना चाहिए कि हम शरीर से भी स्वस्थ है और मन से भी स्वस्थ है। यदि समता नही है तो हम शरीर से भी स्वस्थ नही है और मन से भी स्वस्थ नही हैं। हम स्वास्थ्य को दो भागो मे बाटते है। एक है शारीरिक स्वास्थ्य और दूसरा है मानसिक स्वास्थ्य। यदि हम गहरे मे उतरकर देखे तो यह विभाजन जरूरी नही लगता। मन स्वस्थ है तो समझ लेना चाहिए कि शरीर स्वस्थ है। शरीर स्वस्थ है तो समझ लेना चाहिए कि मन स्वस्थ है। शरीर और मन— दोनो जुडे हुए है। मन शरीर को प्रभावित करता है और शरीर मन को प्रभावित करता है। किन्तु मन का प्रभाव शरीर पर गहरा होता है। यदि मन स्वस्थ है तो शरीर स्वस्थ होगा ही। मन का स्वास्थ्य समता से सम्बन्धित है। यदि मन मे समता है तो मानसिक स्वास्थ्य होगा और यदि समता नही है तो मन कभी स्वस्थ नही हो सकता। समता की साधना के जो सूत्र हैं, वे ही मानसिक स्वास्थ्य की साधना के सूत्र हैं।

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का पहला सूत्र है— अपने-आपको जानो। जो व्यक्ति अपने-आपको नही जानता, वह मन से स्वस्थ नही होता। मानसिक स्वास्थ्य के लिए अपने आपको जानना बहुत जरूरी है। जो अपनी क्षमता को नही जानता, अपनी अक्षमता को नही जानता, वह व्यक्ति मन से स्वस्थ कैसे हो सकता है ? हमारे मे योग्यता है, क्षमता है, किन्तु हमने कभी अपने-आपको जानने का प्रयत्न नही किया। व्यक्ति सक्षम होते हुए भी अपने-आपको अक्षम अनुभव करता है। मन अनुताप से भर जाता है। अपने प्रति अभद्र व्यवहार देखकर व्यक्ति भभक उठता है, मन मे असतोष उभर आता है, क्योकि वह अपनी अक्षमता को नही जानता। जब वह अपनी अक्षमता को नही जानता तब वह दूसरो को ही देखता है, स्वय को नही देख पाता। पिता के दो पुत्र हैं। पिता एक पुत्र को दायित्व सौप देता है तब दूसरे के मन मे असंतोष की ज्वाला उभर आती है। यह इसलिए उभरती है कि वह यह नही जानता कि वह इस दायित्व के लिए अक्षम है। जो व्यक्ति अपने-आपको नही जानता, वह अपने मन मे सदा जलने वाली आग सुलगा देता है और उसमे

सदा जलता रहता है । मानसिक स्वास्थ्य के लिए स्वय की योग्यता और अयोग्यता का निरीक्षण बहुत आवश्यक है ।

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का दूसरा सूत्र है– परिणामो की स्वीकृति । हम प्रवृत्ति करते है, किन्तु उसके परिणामो को स्वीकार नही करते और इसीलिए मन मे असंतोष और अशाति पैदा होती है । कृत के परिणामो से जहां अपने-आप को बचाने की मनोवृत्ति होती है, वहा मानसिक स्वास्थ्य खतरे मे पड जाता है । रोग का एक कीटाणु उसमे घुस जाता है । परिणाम को स्वीकार करने के लिए मन बहुत शक्तिशाली चाहिए । जो मन शक्तिहीन होता है वह कभी परिणामो को स्वीकार नहीं कर सकता । हमे अच्छे या बुरे —सभी प्रकार के परिणामो को स्वीकारना चाहिए । इसमे कभी हिचकिचाहट नही होनी चाहिए । जिस व्यक्ति मे परिणामो को स्वीकार करने का साहस नही होता, भय होता है, वह परिणामो को दूसरे के माथे पर मढ देता है । स्वय बच निकलना चाहता है । यदि परिणाम अच्छा है तो उसका श्रेय स्वय लेना चाहेगा और यदि बुरा परिणाम है तो उसका अश्रेय दूसरे पर उडेल देगा । यह साहसहीनता है । इससे मन मलिन होता है, बीमार होता है ।

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का तीसरा सूत्र है—सत्य के प्रति समर्पण । सत्य की व्याख्या बहुत ही जटिल है । किसे सत्य माना जाए ? हमे इसमे उलझना नही है । सत्य का अर्थ है—सार्वभौम नियम (यूनिवर्सल लॉ) मृत्यु एक सार्वभौम नियम है, यह एक बडी सचाई है । कोई भी इसे नही टाल सकता । इस दुनिया मे तीर्थंकर, भगवान्, अर्हत्, मसीहा आदि-आदि अनेक शक्तिशाली व्यक्ति हुए हैं, जो इस शाश्वत नियम को नही टाल पाए हैं । कोई भी इस सार्वभौम नियम का अपवाद नही बन सकता । कोई अमर नही रह सकता । कोई भी प्राणी सदेह अमर नही होता । विदेह मे जो अमर होना है, वह हमारे सामने नही है । मृत्यु एक सचाई है । कर्म एक सचाई है । काल एक सचाई है । वस्तु-स्वभाव एक सचाई है । जो भी सार्वभौम सचाइया हैं, व्यापक सत्य है, उनके प्रति जो समर्पित रहता है, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रह सकता है ।

एक व्यक्ति की घडी गुम हो गयी । व्यक्ति रोने लगा । उसका विलाप कई दिनो तक चलता रहा । उसके मुह पर उदासी छा गई । जो करोडपति है, उनकी जेब से भी यदि सौ रुपये गुम हो जाते हैं, तो उनका सारा दिन उदासी मे बीतता है । इसका मतलब है कि वे सचाई के प्रति समर्पित नही है । वे इस सचाई को नही जानते कि जहा सयोग होता है वहा वियोग निश्चित है । हम इस सचाई के प्रति समर्पित हो 'सयोगा. विप्रयोगान्ता.' संयोग वियोग से जुडे रहते हैं । जिस क्षण मे संयोग होता है वही से वियोग

का सिलसिला भी चालू हो जाता है। जन्म के साथ ही मृत्यु का क्षण भी प्रारम्भ हो जाता है। जन्म का अतिम परिणाम है मृत्यु। जन्म हो और मृत्यु न हो, यह कभी सभव नही है। जो इस सचाई के प्रति समर्पित नही होते, वे असतुलित और विकृत हो जाते है। उनका मन अस्वस्थ हो जाता है। उन्हे मानसिक रोग आक्रात कर लेता है। जो मृत्यु की सचाई को जानते हैं वे किसी के मर जाने पर अपना सतुलन नही खोते। कुछ दु ख होता है, किन्तु वह भी स्थायी नही रहता, क्षणिक होता है। जिन्होने इस शाश्वत सत्य के प्रति समर्पण नही किया, वे मृत्यु की घटना से विचलित हो जाते है और अपने को रोगी बना देते है।

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का चौथा सूत्र है—सहिष्णुता का विकास। सहिष्णुता को विकसित किए बिना कोई व्यक्ति सतुलित जीवन नही जी सकता। जो व्यक्ति सहिष्णु नही होता, वह अपने मन को सदा दु ख मे डाले रहता है। काच का बर्तन कब फूट जाए, कहा नही जा सकता। असहिष्णु व्यक्ति का मन कब टूट जाए, कहा नही जा सकता। सदा आशका बनी की बनी रहती है। थोडी-सी कोई स्थिति आती है और तत्काल मन बेचैन हो उठता है। व्यक्ति ध्यान करने बैठता है। गर्मी के दिन है। पखा अचानक बन्द हो जाता है। अब मन ध्यान से हट कर पखे मे उलझ जाता है। मन तडपने लगता है। मन इतना आकुल-व्याकुल हो जाता है कि बेचारा ध्यान कही अटक जाता है।

यह क्यो होता है ? यह इसीलिए होता है कि व्यक्ति ने सहिष्णुता का मूल्याकन नही किया। हजारो पदार्थों के उपलब्ध होने या न होने पर भी सहिष्णुता अपना मूल्य नही खोती। जीवन की सारी सुख-सुविधाए उपलब्ध हो, किन्तु वे शाश्वत नही हैं। यह सार्वभौम नियम है कि वे प्राप्त होती है, और दूर हो जाती है। जिस क्षण मे छूटती है उस क्षण मे क्या बीतती है, यह वही व्यक्ति जान सकता है, जिसने सहिष्णुता को नही समझा है। जिसने सहिष्णुता को साध लिया है उसके लिए सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुविधा-असुविधा कोई अर्थवान् नही होते। क्योकि ऐसे व्यक्तियो ने अपने मन का और अपने शरीर का ऐसा निर्माण कर डाला है कि वह हर स्थिति को झेलने मे समर्थ और सक्षम होता है। जब हर स्थिति को झेलने का सामर्थ्य नहीं होता तब अनेक समस्याए उठती है, व्यक्ति घबरा जाता है। जो व्यक्ति कठिनाइयो मे पला-पुसा, फिर कुछ सुविधाए उपलब्ध हुई आराम से जीने लगा, फिर कठिनाइया आ गयी तो ऐसा व्यक्ति उन कठिनाइयो को झेल सकता है। वह विचलित नही होता। जिस व्यक्ति ने आग को झेला है, वह हर आग मे से गुजरने मे सफल हो जाता है। किन्तु जो व्यक्ति आराम मे रहा है, जिसने कभी दु ख-दुविधाओ को नही देखा, वह व्यक्ति आकस्मिक

कठिनाइयो मे टूट जाता है। वह उनको सहन नही कर सकता। इसलिए विपदाओ को झेलने का अभ्यास करना चाहिए।

लोग सकल्प करते है, पर अपने सकल्प पर टिक नही पाते। इसके तीन कारण है—

१. चित्त की चपलता।

२. असहिष्णुता।

३. इन्द्रियो की उच्छृंखलता।

'अत्यक्तचित्तचापल्याः, अजितोग्रपरीषहाः।
अनिरुद्धक्षसन्तानाः, प्रस्खलन्त्यात्मनिश्चये ॥

सकल्प करते समय कष्टो की धारणा नही होती, किन्तु वे आते है तब जिनमे तितिक्षा का अभ्यास नही होता, उनका जीवन ही नष्ट हो जाता है।

जीवन मे सहिष्णुता का विकास अत्यन्त आवश्यक है। तितिक्षा का इतना विकास होना चाहिए कि व्यक्ति आने वाली प्रत्येक परिस्थिति को झेल सके और उसके साथ सामजस्य स्थापित कर सके। ऐसी स्थिति मे विश्व की कोई शक्ति मन को विचलित नही कर सकती। जिस व्यक्ति ने सहिष्णुता का अभ्यास कर लिया, सहिष्णुता साध ली, उस व्यक्ति के मन को भगवान् भी असतुष्ट नही कर सकता। जिसने सहिष्णुता का अभ्यास नही किया, उस व्यक्ति के मन को भगवान् भी स्वस्थ नही बना सकता। सब कुछ मिल जाने पर भी वह यही कहेगा—अमुक वस्तु नही मिली। उसका असतोष उभर-उभरकर बाहर आता रहेगा। सहिष्णुता का विकास होने पर असतोष मिट जाता है।

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का पाचवा सूत्र है—अपने-आपको यथार्थ रूप मे प्रस्तुत करना। समाज के सदर्भ मे व्यक्ति अपने-आपको यथार्थ-रूप मे प्रस्तुत करना नही चाहता। वह अपने-आपको बडे के रूप में प्रस्तुत करता है जिससे कि उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढे और वैवाहिक सबध सुविधापूर्वक हो सके। किन्तु जब यथार्थ सामने आता है, तब बहुत कठिनाइया पैदा हो जाती है। तब मन-मुटाव होता है, लडाइया होती हैं, मानसिक अशाति होती है और वह वर्षो तक बनी रहती है। एक व्यक्ति अपनी लडकी के लिए दूसरे गांव मे लडका देखने गया। वहा पहले से ही षड्यंत्र रच रखा था। एक कमरे से रुपयों के टनकार की आवाज आ रही थी। वह टनकार क्षण भर के लिए भी बद नही हो रही थी। लडकी वालो ने सोचा, कितना धन है इनके पास ? कितने समय से ये रुपये गिन रहे हैं ? बहुत संपन्न लगते हैं। विवाह की बात तय हो गयी। ठीक समय पर विवाह हो गया। फिर वास्तविकता का पता चला। दोनो परिवार वाले एक-दूसरे से कट गए। संबधो मे दरारें पड़ गयी।

सामाजिक सदर्भ मे अपने-आपको अयथार्थरूप मे प्रस्तुत करना अपने-आपको धोखा देना है, दूसरे को धोखा देना है। इससे न जाने कितनी कठिनाइया और समस्याए पैदा हो जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के हर क्षेत्र मे यथार्थ को छिपाता है और अयथार्थ को प्रस्तुत करता है। यह द्वैध है। जो सुन्दर नही है, वह अपने को सुन्दर दिखाने का भरपूर प्रयत्न करता है। वह सभी उपाय काम मे लाता है। जितनी भी प्रसाधन की सामग्री है उसका वह उपयोग करता है। पर वास्तविकता जब खुलती है तब नग्न सत्य सामने आता है। सामने वाला व्यक्ति भी असतुष्ट होता है और स्वय भी असंतुष्ट होता है।

एक व्यक्ति था। वह अनेक बार सपर्क मे आता। वह सदा यही कहता—'मैंने जीवन मे एक व्रत ले रखा है कि मैं जैसा हू वैसा ही दीखू, वैसा ही अपने-आपको प्रस्तुत करू। ऐसा न हो कि मै हू तो कुछ किन्तु प्रस्तुत कुछ और ही करू। अपने व्यक्तित्व पर ऐसा परदा डाल दू कि देखने वाले को वह और किसी रूप मे दीखे। यह धोखा है।' जो व्यक्ति सामाजिक सदर्भो मे अपने-आपको यथार्थ रूप मे प्रस्तुत करता है वह मानसिक दृष्टि से बहुत स्वस्थ और शक्तिशाली होता है। अयथार्थ रूप मे वही व्यक्ति अपने को प्रस्तुत करता है, जो मन मे दुर्बल होता है। ऐसा व्यक्ति अपनी कमजोरी का लाभ उठाना चाहता है।

मानसिक स्वास्थ्य के ये कुछेक सूत्र हैं। ये ही क्षमता के सूत्र हैं। जिस व्यक्ति के मन मे समता प्रतिष्ठित है वह कभी अपने को अयथार्थ रूप मे प्रस्तुत नही करेगा। जिस व्यक्ति के मन मे सहिष्णुता का विकास है वह समता को साध सकेगा। जिसके मन मे सहिष्णुता नही है, वह समता नही साध सकता। वह बालू क्या समता साध पाएगी जो थोडी-सी गर्मी मे गर्म हो जाती है और ठडे मे ठडी हो जाती है? प्रश्न है कि क्या बालू गर्म है? क्या बालू ठंडी है? उत्तर कुछ भी नही दिया जा सकेगा। वह सर्दी के दिनो मे ठडी और गर्मी के दिनो मे गर्म होती है। दिन मे बालू गर्म होती है और रात मे ठडी। उसका अपना कुछ नही है। वैसे ही हवा भी न ठण्डी होती है और न गर्म। सर्दी के दिनो मे वह ठण्डी और गर्मी के दिनो मे गर्म हो जाती है। हवा अपने-आप मे ठंडी भी नही है और अपने-आप मे गर्म भी नही है।

जिस व्यक्ति का मन मूढता से आप्लावित नही है, जिस व्यक्ति का मन समता मे प्रतिष्ठित है, वह न ठण्डा है और न गर्म, वह न राजी है और न नाराज। कुछ भी नही कहा जा सकता। जिसका मन मूढ होता है वह पहले क्षण राजी होता है और दूसरे ही क्षण मे नाराज हो जाता है। मन के अनुकूल होता है तो वह राजी होता है और प्रतिकूल होने पर तत्काल नाराज

हो जाता है। वह मदारी के हाथ का वन्दर वन जाता है। जव चाहो तव नचा लो, जैसा चाहो वैसा नचा लो। समता के आने पर यह सब छूट जाता है। नाराजगी और राजीपन का चक्र टूट जाता है।

मन की अनन्त पर्याये है। वह प्रतिपल वदलता रहता है। मन के आधार पर किसी एक निश्चित सिद्धात की स्थापना नही की जा सकती। किसी एक निश्चय की अनुभूति नही की जा सकती। मन अनेक रूप वदलता है। एक निश्चय पर ले जाने का एक ही मार्ग है। वह मार्ग है सहिष्णुता का। सहिष्णुता और समता का पारस्परिक अनुबध है। सहिष्णुता से समता का विकास होता है। मन अनुकूल और प्रतिकूल—दोनो स्थितियो को समभाव से सह सके, यह है उसको एक निश्चय पर ले जाना।

जब व्यक्ति सत्य के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है तब समता की साधना विकसित होती है। जो व्यक्ति सत्य के प्रति समर्पित नही होता वह सामायिक नही कर सकता, समता की साधना नही कर सकता। समता और मानसिक स्वास्थ्य अलग-अलग नही है। समता का ही एक नाम है—स्वास्थ्य। दोनो पर्यायवाची है। आयुर्वेद मे शरीर के स्वास्थ्य को ही स्वास्थ्य नही माना है, मन के स्वास्थ्य को भी स्वास्थ्य माना है। एक प्रश्न आया—स्वस्थ कौन है? इसके उत्तर मे कहा गया—

समाग्निः समदोषश्च, समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना, स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

—जिस व्यक्ति के शरीर की धातुए सम है, विषम नही है, अग्नि सम है, विषम नही है, दोष सम हैं, विषम नही है तथा धातु और मल की क्रिया भी सम है, वह स्वस्थ है। ये स्वास्थ्य के लक्षण हैं। जिसकी इन्द्रिया उच्छृखल नही है, जिसका इन्द्रियो पर नियत्रण है, जो प्रसन्न-आत्मा है, वह स्वस्थ है। जिसकी शरीर की धातुए और मल-दोष सम है किन्तु मन की प्रसन्नता नही है, निर्मलता नही है तो वह व्यक्ति स्वस्थ नही हो सकता। स्वस्थ रहने के लिए शरीर की क्रियाओं का ठीक होना और मन की प्रसन्नता का होना—दोनो आवश्यक हैं। मन की प्रसन्नता का अर्थ हर्ष नही है। जहा हर्ष है वहा शोक है। जहा शोक है वहा हर्ष है। केवल हर्ष या केवल शोक नही होता। यह एक जोडा है, द्वन्द्व है। मन की निर्मलता इससे भिन्न वस्तु है। निर्मल गगन—आकाश निर्मल है। इसका अर्थ है कि आकाश वादलो से रहित है, निर्मल है। जो आकाश वादलो से व्याप्त है, रेत और धूप से व्याप्त है, वह निर्मल नही होता। जो इन सबसे शून्य है वह निर्मल होता है। जिसमे हर्ष और शोक—दोनो नही है, वह है मन की निर्मल अवस्था, मन की प्रसन्न अवस्था। शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्वास्थ्य को विभक्त नही किया जा सकता। मानसिक स्वास्थ्य और समता को भी नही वाटा जा सकता।

मनोविज्ञान ने मानसिक स्वास्थ्य के परीक्षण की कसौटिया दी है। उसने 'पर्सनेलिटी पेरामीटर' की पद्धति से व्यक्तित्व को अकित करने और मानसिक स्वास्थ्य को जाचने के कुछ सूत्र दिए हैं, कुछ विन्दु प्रस्तुत किए हैं।

पहला पेरामीटर है—वेश-भूषा। व्यक्ति कैसे कपडे पहनता है ? वह अपने प्रति कितना सजग है ? वह कपडो को किस चतुराई से धारण करता है ? कपडे पहनने की विधि से मन की प्रसन्नता नापी जा सकती है।

दूसरा पेरामीटर है—व्यवहार। व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियो मे कैसा व्यवहार करता है ? कभी सतुलित व्यवहार और कभी असतुलित व्यवहार करने वाले का मन स्वस्थ नही होता। जो व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है, उसके प्रति सामने वाला कितना ही दुर्व्यवहार क्यो न करे, वह अपना संतुलन नही खोएगा। वह अच्छा व्यवहार ही करेगा। वह अपने अच्छे व्यवहार के द्वारा सामने वाले व्यक्ति के व्यवहार को वदलेगा या उसे यह सोचने के लिए वाध्य करेगा कि यह व्यक्ति सचमुच ही विनम्र और सद्व्यवहार करने वाला है।

अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिकन आध्यात्मिक व्यक्ति थे। साधारण मे साधारण व्यक्ति भी उनके सामने आता, टोपी उतारकर प्रणाम करता तो स्वय राष्ट्रपति भी अपना हेट उतारकर उसके अभिवादन को स्वीकार करते। राष्ट्रपति के मित्रो ने यह देखकर कहा—'आप राष्ट्रपति हैं। आपको सामान्य व्यक्ति के आगे हेट नही उतारना चाहिए। एक सामान्य नागरिक आपका अभिवादन करता है तो वह उसका कर्त्तव्य है, उसे करना ही चाहिए। पर आप राष्ट्रपति है, आपको अपने स्थान की गरिमा रखनी चाहिए।' राष्ट्रपति वोले—'अमेरिका का राष्ट्रपति विनम्रता और व्यवहार मे किसी से छोटा पड़ना नही चाहता। अमेरिका का नागरिक सद्व्यवहार करे और अमेरिका का राष्ट्रपति तुच्छ व्यवहार करे, यह कैसे हो सकता है ?'

मानसिक स्वास्थ्य की एक कसौटी है—विनम्र व्यवहार। जो व्यक्ति मन से स्वस्थ होता है, वह अच्छा व्यवहार करने वाले के प्रति अच्छा व्यवहार करता है और उस व्यक्ति के प्रति भी अच्छा व्यवहार करता है, जो प्रतिकूल व्यवहार करता है। अच्छे के प्रति अच्छा और वुरे के प्रति भी अच्छा। वह ऐसा इसलिए करता है कि यदि सामने वाला व्यक्ति मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ है तो क्या वह भी अस्वस्थ हो जाए ? वमन करने वाले को देखकर क्या स्वय भी वमन करने लग जाए ? मन की स्वस्थता रखने वाला व्यक्ति ऐसा नही कर सकता। प्रतिकूल व्यवहार वही व्यक्ति करता है, जो मन से दुर्वल है, मन से अस्वस्थ है। जिन व्यक्तियो ने इन सूत्रो का विकास किया कि 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' 'ईंट का जवाव पत्थर से'—वे व्यक्ति वास्तव मे ही मन से रोगी थे। यदि वे स्वस्थ होते तो इस प्रकार के सूत्रो का प्रतिपादन नही होता।

आवश्यकता यह है कि सामने वाला व्यक्ति यदि मन से दुर्बल है, अस्वस्थ है तो तुम अपने मानसिक स्वास्थ्य का परिचय दो और उसे यह समझने का अवसर दो कि तुम मन से रुग्ण नही हो, मन से स्वस्थ हो।

मानसिक स्वास्थ्य का तीसरा पेरामीटर है—विचार। मानसिक अशांति का बहुत बड़ा कारण यह है कि व्यक्ति विचार करना नही जानता। आदमी सोचने कुछ बैठता है और सोच कुछ और लेता है। आदमी जानता ही नही कि कैसे सोचना चाहिए, कैसे चिन्तन करना चाहिए ? मनुष्य का सारा जीवन विचार के द्वारा संचालित होता है। जीवन का सारा कार्य-कलाप विचार के द्वारा निर्धारित होता है, किन्तु वह नही जानता कि कैसे सोचना चाहिए। कैसे चिन्तन करना चाहिए ? सोचते समय मनुष्य के सामने अनेक तर्क प्रस्तुत होते हैं और वह अपने सोचने के मार्ग से भटक जाता है। विचार के द्वारा व्यक्ति को परखा जा सकता है। व्यक्ति के विचारो का विश्लेषण करो, तुम वह जान जाओगे कि वह कैसा है। विचार के द्वारा ही व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य को जाना जा सकता है। जब मन स्वस्थ होता है, तब व्यक्ति की उपज भी स्वस्थ होती है। वह सही बात को सही ढंग से सोचता है।

आचार्य भिक्षु जंगल मे एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। सयोगवश कोई साधु पास मे नही था। वे अकेले ही थे। उस मार्ग से एक काफिला निकला। कुछ लोग पास मे आए। उन्होंने वंदना कर पूछा—'महाराज, आप कौन हैं ? आपका नाम क्या है ?' आचार्य भिक्षु ने कहा—'मैं मुनि हूं। मेरा नाम है भीखन।' लोग एक साथ बोल पडे—'अरे, भीखनजी ! हमने आपकी बहुत प्रशसा सुनी है। गाव-गाव मे आपकी महिमा के गीत गाए जा रहे हैं। हमारे मन में तो आपकी तस्वीर ही दूसरी थी। हमने सोचा था—कितने बडे संत होगे। उनके साथ संतो की बडी टोली होगी। उनके पास हाथी, घोडे, नौकर चाकर आदि होगे। बडा ठाट-बाट होगा। परन्तु आप तो अकेले ही हैं। जमीन पर बैठे हैं। न नौकर, न चाकर, न घोडा, न हाथी। सामान्य व्यक्ति की भाति आप बैठे है।'

आचार्य भिक्षु के मन पर इस चिन्तन का कोई असर नही हुआ क्योंकि उनका चिन्तन स्वस्थ था। यदि चिन्तन अस्वस्थ होता तो मन-ही-मन दुःखी हो जाते और यह सोचते कि लोगो के मन में मेरी तस्वीर कुछ और है और मैं कुछ और हू। यदि जमीन फट जाए तो मैं समा जाऊं।

आचार्य भिक्षु ने सोचा—यदि मेरे पास इतना ठाट-बाट, हाथी-घोडे होते तो भीखन की इतनी महिमा नही होती। मैं अकेला हू इसलिए यह सारी महिमा होती है। जो व्यक्ति अपने मे अकेला होता है और अपने अकेलेपन का अनुभव करता है, वह स्वयं अपनी महिमा का अनुभव करता है और दूसरे भी

उसकी महिमा का अनुभव करते हैं।

यह था आचार्य भिक्षु का स्वस्थ चिन्तन। चिन्तन से व्यक्ति को परखा जा सकता है, व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य का परीक्षण किया जा सकता है।

मानसिक स्वास्थ्य का चौथा पेरामीटर है—प्रतिक्रिया। विभिन्न परिस्थितियो मे होने वाली विभिन्न प्रतिक्रियाओ के द्वारा समझा जा सकता है कि व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य कैसा है। कोई व्यक्ति कटु बात कहता है तो उसका उत्तर कटु बात से ही दिया जाए यह जरूरी नही है। किन्तु जब ये प्रतिक्रियाए प्रगट होती हैं तब यह जान लिया जाता है कि व्यक्ति मन से कितना रुग्ण है। पिता यदि मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है तो पुत्र के क्रोधित होने पर भी विचलित नही होगा। वह कहेगा—'बेटा! कोई बात नही है। धैर्य रखो। शात होकर इस बात को सोचो।' लोग सोचते हैं—'बेटा गुस्से मे है और बाप यदि उससे दुगुना गुस्सा न करे तो वह कैसा बाप!' ऐसा सोचना मानसिक अस्वास्थ्य का लक्षण है। बेटे ने गुस्से मे कहा—'पिताजी! आज से मै आपसे अलग होता हू। मैं आपके साथ भोजन नही करूगा' स्वस्थ मन वाले पिता ने कहा—'कोई बात नही। तुम मेरे साथ भोजन मत करना। मैं तुम्हारे साथ भोजन कर लिया करूगा। इतने दिन तुम मेरे साथ थे, आज से मैं तुम्हारे साथ रहूगा।' यह सुनते ही बेटे का क्रोध उतर जाता है और सघर्ष टल जाता है।

मानसिक स्वास्थ्य का पाचवा पेरामीटर है—स्वभाव। आदमी का स्वभाव कैसा है? आदमी आलसी है या कर्मठ? आशावादी है या निराशावादी? कुछ लोग ऐसे होते है, जो आशा मे भी निराशा ढूढ निकालते हैं और कुछ लोग ऐसे होते है, जो निराशा मे भी आशा ढूढ निकालते हैं। आशावादी व्यक्ति नीरस वातावरण मे भी आशा और उत्साह भर देता है। हम यह न मानें कि जो व्यक्ति हमेशा आशा और उत्साह की बात करते हैं, वे अयथार्थ बात करते हैं। वह जीवन का यथार्थ है, जीवन का पलायन नहीं है। वे इस सचाई मे एक तथ्य यह जोड देना चाहते है, जिससे की वह सचाई वास्तविक सचाई या क्रियान्वित की सचाई बन जाए। निराशा मे आशा देखने वाले व्यक्ति ऐसे होते है।

एक घटना है। आचार्य भिक्षु के समय मे वेणीरामजी नाम के एक मुनि थे। एक बार वे भिक्षा मे दो दालें मिश्रित कर ले आए। एक दाल थी उडद की और एक दाल थी मूग की। आचार्य भिक्षु ने कहा—'यह क्या किया? दो दालें क्यो मिला लाए?' वेणीरामजी ने कहा—'दोनो दाल हैं। मिलाने मे आपत्ति ही क्या है? दाल-दाल एक ही होता है।' भिक्षु बोले—'माना कि दोनो दालें है। किन्तु रुग्ण मुनि के लिए यह मिश्रित दाल अभोज्य

है। उसे केवल मूग की दाल ही दी जा सकती है।' वेणीरामजी ने आवेश मे आकर कहा—'जो हो गया, सो हो गया।' आचार्य भिक्षु ने उपालभ दिया। वेणीरामजी जाकर सो गए। सब भोजन करने बैठे। आचार्य भिक्षु ने कहा—'वेणीराम नही आया ?' सतो ने कहा—'वे सो रहे हैं।' आचार्य भिक्षु ने पुकार कर कहा—'वेणीराम ! दोष मेरे देख रहा है या अपने ?' यह सुनते ही वेणीरामजी आए और आचार्य भिक्षु के चरणो मे पडकर क्षमायाचना करने लगे।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते है, जो आशा मे निराशा जगा देते है और कुछ व्यक्ति ऐसे होते है, जो निराशा मे भी आशा के दीप जला देते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य का छठा पेरामीटर है—निर्णय की शक्ति। व्यक्ति ठीक निर्णय लेता है या नही लेता ? व्यक्ति तत्काल निर्णय लेता है या नहीं लेता ? चिंतन तो चलता है और निर्णय कुछ भी नही लिया जाता—इन सबके आधार पर मन के स्वास्थ्य का पता लगाया जा सकता है।

मनोविज्ञान ने मानसिक स्वास्थ्य के परीक्षण के ये छह पेरामीटर, छह बिन्दु सुझाए है। हमने आध्यात्मिक दृष्टि से समता के बिन्दुओ पर विचार किया और मनोविज्ञान की दृष्टि से मानसिक स्वास्थ्य के बिन्दुओ पर विचार किया। इसका निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति सतुलित जीवन जीता है, समता का जीवन जीता है, सहिष्णुता का जीवन जीता है, मन को आवेगो और दुश्चिताओ की भट्टी मे नही झोकता, वह व्यक्ति मानसिक दृष्टि मे स्वस्थ होता है। समता का बहुत बडा परिणाम है मानसिक स्वास्थ्य। जिस व्यक्ति ने समता का मूल्याकन नही किया, उसने अपने मानसिक स्वास्थ्य को कभी भी सजोकर रखने का प्रयत्न नही किया। जो व्यक्ति समता का अनुभव करता है, सतुलन का अनुभव करता है, वह व्यक्ति अपने मानसिक स्वास्थ्य को एक बहुत बडी धरोहर मानकर उसकी सुरक्षा करता है। समता का होना मानसिक स्वास्थ्य का होना है और मानसिक स्वास्थ्य का होना समता का होना है।

प्रवचन २७ | संकलिका

१. प्रेक्षा के अभ्यास से—
   - शरीर की सक्रियता बढती है।
   - चैतन्य-केन्द्र सक्रिय होते है।
   - द्रष्टाभाव का विकास होता है।
   - पदार्थ से निकट का सम्बन्ध स्थापित होता है और उसके आन्तरिक स्वरूप को जानने-समझने का अवसर मिलता है।

२. अनुप्रेक्षा के अभ्यास से—
   - यथार्थ की अनुभूति होती है।
   - सामाजिक सम्पर्कों से पनपने वाली मूर्च्छा को तोड़ने और मलो की सफाई का अवसर मिलता है।
   - मन की निर्मलता का विकास होता है।

३ एकाग्रता के अभ्यास से—
   - मन की शक्ति का विकास होता है।

४ लेश्या-ध्यान के अभ्यास से—
   - निर्मल भावो का निर्माण होता है।

५ दर्शन-मूलक दर्शन—आत्म-परिष्कार, समन्वय, मैत्री।

६. तर्क-मूलक दर्शन—विवाद, सघर्ष, जय, पराजय।

७ सूक्ष्म-सत्य और स्थूल-सत्य को जानने के साधन—सूक्ष्म और स्थूल।

८ आज के दार्शनिक के पास केवल तर्क, जो पहुचाता नही किन्तु उलझाता है।

प्रेक्षा-ध्यान और मानसिक प्रशिक्षण

प्रेक्षा-ध्यान की साधना के द्वारा दर्शन का नया अध्याय खुल रहा है। मैं दर्शन का विद्यार्थी रहा हूं इसलिए उसकी विशेषताओं के साथ-साथ उसकी कमियां भी जानता हूं। दर्शन के प्रति मन मे एक सम्मान का भाव है तो साथ-साथ उसके प्रति मन में अल्पता का भी भाव है और वह इसलिए है कि आज दर्शन की भूमिका कहां से कहां तक पहुच गई। जो दर्शन दर्शनमूलक था, आज वह केवल तर्क-मूलक रह गया है। दर्शन का अर्थ है—देखना, साक्षात् करना। देखने की जो पद्धति है, साक्षात्कार की जो पद्धति है, उसका नाम है दर्शन। आज देखने की बात छूट गयी, साक्षात् करने की बात लुप्त हो गई। आज केवल तार्किक नियमो के आधार पर दर्शन का समूचा प्रासाद खडा हुआ है। आज केवल तर्क है, अनुभूति नही। सब कुछ उधार ही उधार। अपना कुछ भी नही, स्व-अनुभव कुछ भी नही, केवल पर-अनुभव। प्रत्यक्षानुभूति कुछ भी नही, केवल परोक्षानुभूति। इसीलिए मध्ययुगीन दर्शन का विकास केवल अनुमान के आधार पर हुआ। जब प्रत्यक्ष का अनुभव नही हुआ तब अनुमान की शरण मे जाना पडा और अनुमान के सहारे सत्य की खोज का दावा करना पड़ा। किन्तु क्या परोक्ष के आधार पर, व्याप्ति के आधार पर सत्य को खोजा जा सकता है ? क्या इनके आधार पर सत्य उपलब्ध हो सकता है ? क्या सूक्ष्म सत्य को तर्क के द्वारा जाना जा सकता है ? कभी नही। यह संभव ही नही है। प्राचीन दार्शनिक सूक्ष्म सत्य को सूक्ष्म चेतना के द्वारा खोजते थे। जब तक चेतना को सूक्ष्म नही किया जाता तब तक सूक्ष्म सत्य नही खोजा जा सकता। स्थूल चेतना से स्थूल सत्य ही पकडा जा सकता है। सूक्ष्म चेतना मे दोनो शक्तिया होती हैं। वह सूक्ष्म सत्य को भी पकड़ सकती है और स्थूल सत्य को भी पकड़ सकती है। आज का वैज्ञानिक सूक्ष्म सत्यो को खोजने मे बहुत सफल हुआ है। इसका कारण है सूक्ष्म यन्त्रो का निर्माण। आज सूक्ष्म यन्त्रो के द्वारा सूक्ष्म सत्य खोजे गए है। स्थूल यन्त्रो के द्वारा सूक्ष्म सत्य नही खोजे जा सकते। परमाणु को देखा गया। अणु को तोडा गया। यह सब सूक्ष्म यन्त्रो के द्वारा ही हो सका है। तलवार कितनी ही पैनी क्यो न हो, वह परमाणु को नही तोड सकती, नही काट सकती। चश्मा कितने ही नम्बर का क्यो न हो, उससे परमाणु नही देखा जा सकता। ये सब स्थूल उपकरण हैं। इनसे सूक्ष्म सत्य नही पकडा जा सकता। समूचे वैज्ञानिक जगत् की सफलता का आधार है—सूक्ष्म यन्त्रो का निर्माण। इसे दर्शन की भाषा मे

अतीन्द्रिय यन्त्रो का निर्माण भी कहा जा सकता है। जो बातें इन्द्रियो द्वारा नही जानी जाती, वे इन यन्त्रो द्वारा जानी जा सकती है। हम क्यो न मानें कि ये अतीन्द्रिय यंत्र हैं। अतीन्द्रिय यन्त्र का अर्थ है—इन्द्रियो से परे काम करने वाले यन्त्र। इन्द्रिय-चेतना के द्वारा जिन सूक्ष्म सत्यो का ग्रहण नहीं होता, वे इन अतीन्द्रिय उपकरणो के सहयोग से गृहीत हो जाते है।

अतीन्द्रिय का अर्थ परम सत्य की उपलब्धि नही होता। अतीन्द्रिय-चेतना का अर्थ परम की उपलब्धि की चेतना ही नही होता। अतीन्द्रिय-चेतना परम सत्य की उपलब्धि कराने वाली ही नही होती, किंतु अतीन्द्रिय-चेतना प्रारभिक-चेतना भी होती है। हिमालय केवल शिखर ही नही होता। तलहटी भी हिमालय होता है। अतीन्द्रिय-चेतना केवल शिखर ही नही होती, वह तलहटी भी होती है। अतीन्द्रिय-चेतना का प्रारभिक रूप यह है—जो इन्द्रिय के द्वारा नही जाना जाता, वह अतीन्द्रिय के द्वारा जान लिया जाता है।

आज की स्थिति से मुझे आश्चर्य भी होता है और खेद भी होता है। आश्चर्य इसलिए होता है कि आज का दार्शनिक दोनो से वचित हो गया। न वह पूरा दार्शनिक ही रहा और न वह पूरा वैज्ञानिक ही रहा। न उसके पास प्राचीन दार्शनिको की चेतना के जागरण की प्रक्रिया है, जिसके द्वारा सूक्ष्म चेतना का जागरण कर सूक्ष्म सत्यो को देख सके और न उसके पास सूक्ष्मतम वैज्ञानिक उपकरण है, जिनके द्वारा वह सूक्ष्म सत्यो को देख सके। वह दोनो से वंचित है। अब उसके लिए केवल तर्क ही शेष रहा है। वह एक का समर्थन करे और दूसरे का असमर्थन। हम यह कह सकते हैं—आज का दार्शनिक एक वकील बन गया है। उसे दार्शनिक कहने की अपेक्षा एक वकील कहना चाहिए। वकील को किसी साधना की आवश्यकता नही होती। उसे केवल कानून की पुस्तकें पढना पर्याप्त होता है। वह उन पुस्तको के आधार पर, अपनी तार्किक मेधा के द्वारा काट-छाट करता रहता है। सूक्ष्म ज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान को विकसित करने की कोई अपेक्षा उसे महसूस नही होती। आज का दार्शनिक इस दृष्टि से, कोरा वकील या तार्किक बन गया है।

आज दर्शन की विचित्र स्थिति है। आज विद्या की अनेक शाखाओ मे दर्शन की दयनीय स्थिति है। जहा विज्ञान की शाखा मे सैकड़ो विद्यार्थी मिल जाते है, वहा दर्शन के विद्यार्थी पाच-दस ही मिल पाते हैं।

प्रेक्षा-ध्यान की प्रक्रिया दर्शन के पुनर्जागरण की प्रक्रिया है। पुराने जमाने के दार्शनिक ऋषि कहलाते थे। ऋषि का अर्थ है—द्रष्टा, देखने वाला। 'दर्शनात् ऋषि' - जो देखने वाला होता है वह ऋषि कहलाता है। एक समय आया, जब देखने वाले समाप्त होने लगे। तब देवताओ ने कहा—'अब हमारा सहारा कौन होगा ? ऋषि सब जा रहे हैं।' कहा गया—अब

ऋषियो के अभाव मे तुम्हारा सहारा तर्क होगा। तब से तर्क का प्रावल्य हुआ।

दर्शन-मूलक दर्शन के द्वारा आत्मा उपलब्ध होती है, समन्वय सधता है, मैत्री उपलब्ध होती है। तर्क-मूलक दर्शन के द्वारा सघर्ष वढते है, विवाद और जय-पराजय की भावना बढती है। मध्ययुगीन दार्शनिक ग्रन्थो मे प्रत्येक दर्शन का तार्किक रूप उपलब्ध होता है। उसमे जय-पराजय की व्यवस्थित प्रक्रिया है। अपने पक्ष का समर्थन और पर पक्ष का खडन कैसे किया जाए, कौन-कौन से तर्क दिये जाए, इसकी व्यवस्थित पद्धति निर्दिष्ट है। उनमे छल, जाति और वितण्डा का भी निर्देश है। वाद-विवाद मे इनका प्रयोग भी स्वीकृत है, सम्मत है। यह मान्य कर लिया गया कि प्रतिपक्षी को पराजित करने के लिए यदि छल, जाति और वितडा का प्रयोग किया जाता है तो वह अनुचित नही है। प्रतिपक्षी को हराने के लिए प्रत्येक दर्शन ने क्या-क्या विधान नही किए? उनमे शुद्ध दर्शन की बात छूट गयी। केवल जय-पराजय ही लक्ष्य बन गया। इसके फलस्वरूप विवाद वढे, मतभेद खडे हो गए।

अनुभव के क्षेत्र दो नही हो सकते। इस क्षेत्र मे चाहे 'क' जाए या 'ख' जाए, चाहे भारत का व्यक्ति जाए या यूरोप का व्यक्ति जाए। अनुभव मे द्वैध नही हो सकता। इसमे काल का व्यवधान भी नही होता। आज भी वही अनुभव और दस हजार वर्ष पहले भी वही अनुभव। अनुभव मे कोई अन्तर नही आता। धर्म और अध्यात्म मे कोई द्वैध नही होता। सारा द्वैध, सारा सघर्ष होता है तर्क-मूलक दर्शन मे। आज हम दर्शन को पुन. दर्शन-मूलक बनाए। वर्तमान के वैज्ञानिक विकास के बाद यह और प्रज्वलित अपेक्षा हो गई है कि दर्शन का नया अध्याय खुले। यह अध्याय केवल ध्यान के द्वारा ही खुल सकता है। जब तक ध्यान की साधना के द्वारा अतिमानसिक चेतना का जागरण नही किया जाता, जब तक ध्यान की साधना के द्वारा मन को प्रशिक्षित नही किया जाता, जब तक ध्यान की साधना के द्वारा सवेदनशीलता को विकसित नही किया जाता, तब तक दर्शन का नया अध्याय नही खुल सकता तथा धर्म और दर्शन के बारे मे उभरने वाले प्रश्नो को समाहित भी नही किया जा सकता।

दर्शन का पहला आयाम है—अतीन्द्रिय-चेतना का जागरण। ध्यान साधना का प्रथम ध्येय है—अतीन्द्रिय-चेतना का जागरण। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसी सूक्ष्म चेतना जागे, जिसके द्वारा सूक्ष्म सत्यो को देख सके और उनका अनुभव कर सके।

दर्शन का दूसरा आयाम है—मन का प्रशिक्षण। हम मन को प्रशिक्षित कर, मन को सूक्ष्म बनाकर जितना देख सकते हैं उतना स्थूल मन के

द्वारा नही देख पाते। मन को प्रशिक्षित करने के अनेक सूत्र है। उनमे पहला सूत्र है—भावक्रिया। भावक्रिया का अर्थ है—कर्म और मन का सामजस्य। जो किया जाए, मन उसी मे लगा रहे। आदमी चलता है तो मन चलने मे ही लगा रहे। ऐसा होने पर ही गमन सही हो सकता है, अन्यथा सब कुछ गडबडा जाता है। ज्योतिषी जा रहा था। शरीर चल रहा था धरती पर और मन आकाश के ग्रहो मे भटक रहा था। पैर धरती पर थे और मन आकाश मे। चलते-चलते वह गढे मे जा गिरा। वह चिल्लाया। एक बुढिया ने उसे गढे से निकला। वह बोली—'ज्योतिषीजी ! केवल आकाश को ही न देखे, कभी-कभी धरती को भी देख लिया करे।' कितना तीखा व्यंग्य था। न जाने हमारे जीवन मे ऐसे कितने व्यग्य पलते है। हम करते कुछ है और मन की यात्रा कुछ और ही होती है। जीवन मे ऐसे क्षण विरल ही आते है, जहा कर्म के साथ मन लगा रहता है। मन को प्रशिक्षित करने से कर्म और मन का सामजस्य साधा जा सकता है। मन को प्रशिक्षित करने का एक उपाय है—ध्यान। ध्यान सधता है तो मन सध जाता है। खाये तो मन खाने की स्मृति मे रहे, चले तो मन चलने की स्मृति मे रहे, बोले तो मन बोलने की स्मृति मे रहे, सोचे तो मन मस्तिष्क की क्रिया मे जुटा रहे, यह है कर्म और मन का सामजस्य। भावक्रिया दर्शन का महत्त्वपूर्ण आयाम है। जब भावक्रिया सध जाती है तब ध्यान की पद्धति केवल एक घटा बैठकर करने की पद्धति नही रहती, वह समग्र जीवन-दर्शन बन जाता है। फिर प्रत्येक क्रिया मे ध्यान बना रहेगा। फिर जब व्यक्ति झाडू लगाएगा तब भी ध्यान होगा। हाथ झाडू लगाएगा तो मन भी साथ-साथ झाडू लगाने की क्रिया मे सलग्न हो जाएगा। यह नही होगा कि हाथ तो झाडू लगाए और मन कही सिहासन पर जाकर बैठ जाए। यह व्यक्तित्व का विभाजन नही होगा। यह खडित व्यक्तित्व नही होगा। जिस काम मे शरीर व्याप्त है, उसी काम मे मन व्याप्त हो जाएगा। ऐसा नही होगा कि मन आदेश देकर कही चला जाए और शरीर बेचारा काम करता रहे। यह स्वामी और सेवक का सबध भावक्रिया मे नही रहेगा। वहा दो साथियो का सम्बन्ध होता है मन और शरीर मे। दोनो साथ-साथ काम करेगे। दोनो साथ-साथ विश्राम करेगे।

मन को प्रशिक्षित करने का दूसरा सूत्र है—कल्पनाशक्ति का विकास, सकल्प या इच्छाशक्ति का विकास। मन को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाए कि वह स्पष्ट चित्र बना सकें। कल्पनाशक्ति के द्वारा चित्र का निर्माण और सकल्पशक्ति के द्वारा उस चित्र की उपलब्धि। हमारी जो भावना होती है, उसको हम अपने सुझावो के द्वारा इच्छाशक्ति के रूप मे बदल देते है और फिर इच्छाशक्ति के द्वारा जहा पहुचना चाहते हैं वहां पहुच जाते है। जो होना चाहते हैं वह हो जाते हें। जिस दिशा मे हम चलना चाहते है, उस दिशा मे

स्वय प्रस्थित हो जाते है ।

मन को प्रशिक्षित करने का तीसरा सूत्र है—एकाग्रता । मन का सहज स्वभाव है चचलता । यदि वह स्थिर हो जाता है तो मानना चाहिए कि वह अपनी प्रकृति से ऊपर उठ गया है । मन की तुलना पारे से की जा सकती है । पारा सहज चंचल होता है, उसे पकडा नही जा सकता । हजारो वर्षो से यह प्रश्न चर्चित होता रहा है कि मन को कैसे पकडा जाए ? मनुष्य उद्यमशील है । उसने अनेक गूढ सत्य खोज निकाले है । पारा चचल है, पर आदमी ने उसकी गोलिया वाध दी । अव उसे पकडा जा सकता है । पारे की गोली हो सकती है तो मन की गोली क्यो नही हो सकती ? जव पारा वाधा जा सकता है तो मन को क्यो नही वाधा जा सकता ? वह भी वध सकता है ।

मन को वाधने की एक प्रक्रिया है – एकाग्रता । मन को ऐसा अभ्यस्त करना चाहिए कि वह एक स्थान पर टिक सके, एक ध्येय पर टिक सके । जव मन एक विषय पर तीन घटा टिक जाता है तव मन की असख्य शक्तिया जागृत हो जाती है । तीन घण्टा टिका पाना सहज नही है । वहुत अभ्यास और धृति की अपेक्षा होती है । यदि मन एक घण्टा भी टिक जाता है तो साधक स्वय अनुभव कर सकता है कि भीतर कितना विस्फोट हो रहा है ! कितनी शक्तिया जाग रही है ! एक घटा स्थिर रहना बहुत दूर की वात है । यदि कोई व्यक्ति ५-१० मिनट एक विपय पर स्थिर रह सकता है तो वह अनुभव कर सकता है कि शरीर मे शक्ति और उत्साह का नया स्रोत उभर रहा है ।

मन को प्रशिक्षित करने का चौथा सूत्र है – प्रेक्षा का अभ्यास । प्रेक्षा का अर्थ है—देखना । मन को देखने का अभ्यास करना चाहिए । मन सोचना तो वहुत जानता है । उसे यही सिखाया गया है । हमे उसे इस दिशा मे प्रशिक्षित करना है कि वह देख सके । मन मे देखने की शक्ति भी है । सोचना और विचारना – यह सतही स्तर की अवस्था है । देखने मे वहुत गहराई होती है । जव मन देखने लग जाता है तव सोचने की वात नीचे रह जाती है । कोई भी वात आती है तो देखने की वात मुख्य होगी, सोचने की वात पारिपार्श्विक वन जाएगी । हम सोचते है, विचारते हैं, उसका हम स्वय अनुभव नही करते और वही वात जव हम आखो मे देख लेते हैं तव कोई सदेह नही होता । प्रत्यक्ष का कितना विश्वास और भरोसा होता है । व्यवहार मे भी कहा जाता है – यह आखो देखी वात है, केवल कानो सुनी नही । जो आख की दुहाई देता है वह अपनी वात को सर्वोच्च वना देता है । आखो का अर्थ ही है—प्रत्यक्षीकरण या साक्षात्करण । साक्षात्करण का वहुत वडा स्थान है । उससे वडा कोई प्रमाण नही हो सकना । 'प्रत्यक्ष प्रमाणम्'—सवसे वडा प्रमाण है—प्रत्यक्ष । मन को प्रेक्षा का अभ्यास दे । उसे देखना सिखाए । मन

को गहरे मे उतार कर देखे। देखने का इतना अभ्यास करे कि सोचने की बात द्वयं हो जाए, प्रथम न रहे। मन का सामान्य अभ्यास यह है कि उसके लिए सोचना प्रथम है और देखना द्वितीय है। प्रशिक्षण के द्वारा इस स्थिति को बदला जा सकता है।

मूलत श्वास प्रेक्षा एकाग्रता के लिए नही, किन्तु अपने द्रष्टाभाव को विकसित करने के लिए है। हमारी चेतना का मूल धर्म है—ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव। हम श्वास-प्रेक्षा के द्वारा अपने जानने और देखने की मूल प्रकृति का जागरण करते है, ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव को विकसित करते है। एकाग्रता अपने आप सधती है। यह गौण बात है, मुख्य बात नही है।

हम शरीर-प्रेक्षा करते है। शरीर के बाहरी भाग को देखते है। शरीर के भीतर मन को ले जाकर भीतरी भाग को देखते हैं। शरीर के स्थूल और सूक्ष्म स्पदनो को देखते है। शरीर के भीतर जो कुछ है उसे देखने का प्रयत्न करते है। शरीर के भीतर वह सब कुछ है, जो इस ससार मे है। ऐसा क्या तत्त्व है, जो ससार मे हो और इस शरीर मे न हो? यह शरीर समूचे संसार का प्रतिनिधित्व करता है। मन भी बहुत भागो मे बटा हुआ है। हमारी चेतना भी बहुत भागों मे बटी हुई है। एक है–इन्द्रिय-स्तरीय चेतना और दूसरी है—कोषस्तरीय चेतना। हमारे शरीर के जितने सेल्स है, जितने कोष है, उन सबके साथ अपना मस्तिष्क भी है। वह मस्तिष्कीय चेतना, कोषीय चेतना, जो हर कोष के पास है, उसे भी हम प्रेक्षा के द्वारा जागृत करते है। समूचे शरीर को देखने का अर्थ है—चेतना के जो कोष सोए हुए है, कुठित हैं, उन्हे जगाना। चैतन्य का कण, शरीर का प्रत्येक अवयव मूर्च्छा से ग्रस्त है। उस मूर्च्छा को तोडने का हमने कभी प्रयत्न ही नही किया। यदि ठीक प्रयत्न हो तो वह जाग जाए और चित्त के साथ उसका सबध-सूत्र जुड जाए। किन्तु जब जगाने का प्रयत्न नही होता तब वे मूर्च्छा मे रह जाते हैं, निष्क्रिय ही बने रह जाते है।

शरीर के स्तर पर शरीर के कोष जागृत है और वे बराबर अपना काम करते है। हमारे नाडी-सस्थान मे जितने ज्ञानवाही और क्रियावाही ततु है, वे शरीर-सचालन के क्षेत्र मे अपना काम पूरा करते है। पैर मे काटा चुभा। तत्काल मस्तिष्क या पृष्ठरज्जु मे सन्देश पहुचेगा। वहा से निर्देश मिलेगा। मासपेशिया सक्रिय हो जाएगी और हाथ काटा निकालने के लिए आगे बढ जाएगा। यह काम इतनी शीघ्रता से सम्पन्न होता है कि हमे पता ही नही चलता। सन्देश प्रेषण की सारी प्रक्रिया भीतर-ही-भीतर चलती है और कार्य निष्पन्न हो जाता है। यह इसलिए होता है कि मारे ज्ञान-ततु और क्रिया-ततु जागृत है।

किन्तु सूक्ष्म सत्यो को जानने के लिए जिन ज्ञान-ततुओ को जागृत

होना चाहिए, वे अभी सोये हुए है। इसलिए चैतन्य-केन्द्रों की प्रेक्षा का बार-बार अभ्यास करते है जिससे कि मूर्च्छित ज्ञान-ततु सक्रिय हो जाए, वे जाग उठे। इनके जागने से सूक्ष्म सत्यो को जानने मे समर्थ अतीन्द्रिय चेतना विकसित हो जाती है। तब सूक्ष्म सत्यो के साथ सम्पर्क स्थापित करने मे कोई कठिनाई नही रहती।

प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा केवल अपने शरीर को या शरीर की भिन्न-भिन्न पर्यायो को ही नही देखा जाता, किन्तु दूसरे पदार्थो को भी देखा जा सकता है। उनके साथ सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। धर्म-ध्यान या विचय ध्यान की पद्धति भी प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति है। इससे पदार्थ का आंतरिक स्वरूप, उसकी सरचना प्रत्यक्ष हो जाती है।

एक पौधा है। हम उसके गुण-दोष नही जानते। वह अत्यत अपरिचित है। हमारे मन मे जिज्ञासा उठी कि यह क्या है ? इसका स्वभाव क्या है ? इसका वीर्य क्या है ? इसमे कौन-कौन-सी शक्तिया हैं ? हम ध्यान कर बैठ जाए और उस पौधे के साथ सम्पर्क स्थापित करे, तादात्म्य जोडे और फिर उस पौधे से ही पूछे—तुम्हारी प्रकृति क्या है ? तुम्हारा गुण-धर्म क्या है ? तुम्हारी क्रिया क्या है ? हम इतने सवेदनशील बने, ऐसा गाढ सम्बन्ध स्थापित करे, ऐसा अद्वैत स्थापित करे कि वह पौधा हमे सब कुछ बता दे। सम्पर्क स्थापित होते ही हम उसकी लिपि को समझने लग जाएगे। उसकी प्रतीक-लिपि को, उसकी साकेतिक भाषा को हम समझ लेगे। उसका पूरा लेखा-जोखा सामने आ जाएगा। ऐसा लगेगा कि किसी पुस्तक के पन्ने उलटे जा रहे है और सारी बातें सामने प्रकट हो रही है।

प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा जैसे शरीर की पर्यायो को जाना जा सकता है वैसे ही पदार्थ के पर्यायो को भी जाना जा सकता है। अपने तथा पदार्थ के सूक्ष्म पर्यायो को जानने के लिए प्रेक्षा-ध्यान-पद्धति बहुत ही मूल्यवान् है। यह दर्शन का नया अध्याय है। कहा जा सकता है—मध्ययुग मे जो कडी टूट गयी थी, उसका नया अनुसंधान है।

हम इस ध्यान साधना के द्वारा दर्शन के नए अध्याय को खोले, उसके पृष्ठो को लिखें, पढे, भरे तो बहुत सारे प्रश्न समाहित हो जाएगे। आज दर्शन और धर्म के विषय मे जो भी नए प्रश्न उभर रहे है, वे बिना तर्क का सहारा लिए स्वत उत्तरित हो जाएगे।

प्रवचन २८ | संकलिका

१ विकास का आधार—सत्य की खोज और सत्य का अनुशीलन।

२. बदलने वाला बदले, न बदलने वाला न बदले।

३ मन पर जमने वाले मलो का सशोधन।

४ स्वभाव-परिवर्तन।

५ मानवीय सम्बन्धो मे परिवर्तन।

६ ऐसे निर्जन द्वीप की खोज, जहा शक्ति का व्यय कम हो, नयी शक्ति का सञ्चय हो।

७ शक्ति-व्यय का हेतु—
- निरन्तर गतिशीलता।
- अतिरिक्त प्रवृत्ति।
- बुरे कर्म और बुरे विचार।
- विचार और सवेदन का अनियत्रण।

८. शक्ति का उपयोग करे। उपयोग न होने पर वह व्यर्थ है।

९ शक्ति के उपयोग की सही दिशा—
- स्वय को जान सके, स्वय को पा सके।

१०. सिद्धि के तीन स्तर—
- प्राकृतिक, जैसे परिस्थितियो पर प्रभुत्व पाना।
- चेतना का जागरण।
- मूर्च्छा की समाप्ति।

११ साधना का उद्देश्य—
- कषाय की शाति।
- चेतना की निर्मलता।

चेतना का प्रस्थान : अज्ञात की दिशा

साधक को ज्योति की जरूरत होती है। उसे प्रकाश की अपेक्षा होती है, जिससे कि वह देख सके। अन्धकार मे दिखायी नही देता। प्रकाश मे सब कुछ दीख जाता है। प्रकाश जितना तेज होगा, देखने की स्पष्टता भी उतनी ही अधिक होगी। जो ज्ञात होता है वह भी प्रकाश से दीख जाता है और जो अज्ञात होता है वह भी दीख जाता है। ज्ञात को देखने के लिए उतना प्रकाश नही चाहिए, जितना प्रकाश अज्ञात को देखने के लिए अपेक्षित होता है। हमारा ज्ञात-जगत् बहुत छोटा है और अज्ञात-जगत् बहुत वडा है। अज्ञात-जगत् की तुलना मे ज्ञात-जगत् एक सूई के अग्रभाग जितना भी नही है। ज्ञात-जगत् एक बिन्दु है तो अज्ञात-जगत् एक सिन्धु है। ज्ञात-जगत् ससीम है, अज्ञात-जगत् असीम है। उसे किसी उपमा के द्वारा उपमित नही किया जा सकता।

हम इन्द्रियो के द्वारा जो जानते है, वह बहुत ही सीमित है। कान के द्वारा हम सुनते है, किन्तु अमुक फ्रीक्वेन्सी के शब्द ही हम सुन पाते हैं। यदि होने वाली समस्त ध्वनियो को हम सुन सके तो कान का पता ही नही चलेगा। सारा वायु-मडल ध्वनियो से प्रकंपित है। इन सबको सुनने वाला बच ही नही पाता। हम इस पृथ्वीतल से जो उपलब्ध करते हैं, अपनी इद्रियो के द्वारा, उनमे से हम कुछेक रूपो को ही देख पाते है, कुछेक शब्दो को ही सुन पाते है और कुछेक वस्तुओ का ही उपयोग कर पाते हैं। बस इतना ही ज्ञात होता है, शेष सारा अज्ञात रह जाता है और अज्ञात है इसीलिए मनुष्य की जिज्ञासा भी है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह अज्ञात को ज्ञात करता है। वह इसी मे संतोष और तृप्ति मानता है कि वह सदा सत्य को खोजता रहे, अज्ञात को ज्ञात करता रहे। मनुष्य की चेतना इस दिशा मे आदिकाल से प्रस्थान करती रही है। समूचे विकास का आधार ही है—सत्य की खोज। यदि सत्य की खोज नही होती तो मनुष्य का विकास नही होता। पशु का इसीलिए विकास नही होता कि वह सत्य की खोज मे प्रस्थित नही है। हजार वर्ष पहले भी वह बैलगाड़ी मे जुतता था और आज भी वह गाडी मे जुतता है। उसका कोई विकास नही हुआ है। मनुष्य ने न जाने हजार वर्षो मे कितना विकास किया है, कितने नए आयाम खोले हैं। यह सब इसी आधार पर हुआ कि मानवीय चेतना मे विकास की क्षमता है और वह सदा सत्य की खोज करता रहता है। मनुष्य जैसे-जैसे सत्य की खोज करता है, वैसे-वैसे उसके ज्ञान

का क्षेत्र विस्तृत होता है और उपयोगिता का क्षेत्र भी विकसित होता है। साथ-साथ उसकी क्षमताए भी बढती हैं।

मनुष्य कुछ ज्ञात करता है। उसमे से कुछ ज्ञात ज्ञेय के रूप मे ही रहता है और कुछ ज्ञात उपयोगिता मे बदल जाता है, उपादेय बन जाता है। साधना का प्रयत्न, प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास, अज्ञात को खोजने का प्रयत्न है। इससे जो ज्ञात है वह भी उपलब्ध होता है और जो अज्ञात है वह भी उपलब्ध होता है। सबसे बडा सूत्र जो उपलब्ध होता है, वह यह है कि इस दुनिया मे कुछ ऐसा है, जो बदला जा सकता है उसे बदलना चाहिए और जो नही बदला जा सकता, उसे नही बदलना चाहिए। जब यह सचाई स्पष्ट हो जाती है तो अगला चरण यह होता है कि जो बदलने योग्य है उसे बदल देना चाहिए। साधना का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि जो अनित्य है, परिवर्तनशील है, बदलने जैसा है, उसे बदल ही देना चाहिए।

हम बदलते है समाधान के माध्यम से। सबसे पहले उसे बदलते है, जो निरतर हमे बदलता रहता है। श्वास जीवन को निरतर बदलता रहता है। सबसे पहले हम उस श्वास को बदलने का प्रयत्न करते है। यह बहुत बडी सचाई है कि जब तक उस श्वास की गतिविधि को नही बदला जाता, तब तक साधना मे विकास नही किया जा सकता, तब तक अज्ञात की दिशा मे लम्बी यात्रा नही की जा सकती। अज्ञात की दिशा मे लम्बी यात्रा करने के लिए प्राणशक्ति की प्रचुरता अपेक्षित होती है। प्राणशक्ति के लिए श्वास का ईंधन चाहिए। श्वास का ईंधन जितना सशक्त होगा, प्राणशक्ति उतनी ही सशक्त होगी। प्राणशक्ति जितनी सशक्त होगी, हमारी यात्रा उतनी ही निर्विघ्न होगी। इसलिए श्वास की गतिविधि को बदलना जरूरी है।

प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करने वाला सबसे पहले श्वास की गति को बदलता है। सामान्यत आदमी एक मिनट मे १५-१७ श्वास लेता है। इसके आस-पास दो स्थितिया बनती हैं। एक स्थिति श्वास की सख्या को बढाने की और दूसरी स्थिति है श्वास की सख्या को घटाने की। दूसरे शब्दो मे, एक स्थिति है श्वास की गति को छोटा करने की और एक स्थिति है श्वास की गति को लम्बा करने की। ये दो स्थितिया बनती हैं। जो व्यक्ति साधनारत नही हैं, बहुत आवेशशील हैं, वे व्यक्ति उस दिशा मे प्रस्थान करते है कि श्वास की गति कम हो जाती है और उसकी सख्या बढ जाती है। १५-१७ की सख्या ३०-४०,५०-६० तक बढ जाती है। आवेश मे, कषाय मे, वासनातृप्ति मे श्वास की संख्या बढ जाती है। श्वास की सख्या बढती है, गति घटती है और साथ-साथ प्राणशक्ति पर उसका प्रभाव पडता है। इसी प्रकार शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर भी असर होता है। किन्तु प्रेक्षा-ध्यान की साधना करने वाला व्यक्ति सबसे पहले श्वास की गति को बदलने का

प्रयास करता है। वह श्वास की गति की लम्बाई को बढाता है। श्वास मद हो, श्वास दीर्घ हो, श्वास सूक्ष्म हो, श्वास की दिशा बदल जाए—यह साधक का प्रथम प्रयास होना है। फलस्वरूप श्वास की संख्या घटती है, लम्बाई बढती है, मन शात होता है। इसके साथ-साथ आवेश शात होते है, कषाय शांत होते है तथा उत्तेजनाए और वासनाए शात होती है। श्वास जब छोटा होता है तब वासनाए उभरती है, उत्तेजनाए आती है, कषाय जागृत होते है। यह भी कहा जा सकता है कि जब ये उभरते हैं तब श्वास छोटा हो जाता है। इन सबसे श्वास प्रभावित होता है। इन सब दोषो का वाहन है श्वास। ये श्वास पर आरोहण करके आते है। जब कभी मालूम पडे कि उत्तेजना आने वाली है तब तत्काल श्वास को लम्बा कर दे, दीर्घश्वास लेने लग जाए, आने वाली उत्तेजना लौट जाएगी। इसका कारण है कि श्वास का वाहन उसे उपलब्ध नही हो पाता है। बिना आलम्बन के कोई उत्तेजना या वासना प्रकट नही हो सकती। ध्यान की साधना करने वाला साधक मन की सूक्ष्मता को पकडने मे अभ्यस्त हो जाता है। वह जान लेता है कि मस्तिष्क के अमुक केन्द्र मे कोई वृत्ति उभर रही है। वह तत्काल दीर्घश्वास का प्रयोग प्रारम्भ कर देता है। उभरने वाली वृत्ति तत्काल शात हो जाती है। साधक उन वृत्तियो का, उत्तेजनाओ का शिकार नही होता।

साधक को सबसे पहला परिवर्तन जो करना होता है वह है श्वास का परिवर्तन। जो इसके मूल्य को नही जानता, वह सचाई को नही पकड सकता। जो साधक दीर्घश्वास को केवल प्राणायाम के रूप मे ही स्वीकार करता है, वह अपने स्वास्थ्य तक सीमित लाभ को उठा सकता है किन्तु वह दीर्घश्वास प्रेक्षा से होने वाले आतरिक परिवर्तनो के लाभ को नही उठा सकता। हम यह स्पष्ट जाने कि दीर्घश्वास केवल प्राणायाम ही नही है, वह उससे आगे भी है। हम दीर्घश्वास को प्राणायाम की दृष्टि से नही ले रहे है। हम दीर्घश्वास की प्रेक्षा करते है। उसका मूल उपयोग है—वृत्तियो का शमन, उत्तेजनाओ का शमन और वासनाओ का शमन। इसके साथ-साथ शारीरिक और मानसिक लाभ भी होते हैं।

साधना का दूसरा काम है—शरीर की दिशा का परिवर्तन। हम प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा शरीर की दिशा को भी बदल सकते हैं। शरीर मे भी बीमारिया तब आती है जब शरीर के चैतन्य-कण मूर्च्छा और सुषुप्ति की अवस्था मे होते है। यदि सारा चैतन्य जाग उठे, शरीर के कण-कण मे रहा हुआ चैतन्य जाग उठे, मूर्च्छा टूट जाए, सुषुप्ति मिट जाए तब विकारो और उत्तेजनाओ को आने का अवकाश ही नही रहता। शरीर-प्रेक्षा के द्वारा हम शरीर की समूची क्रिया को बदल डालते हैं। ज्ञान-ततुओ को इतना सक्रिय और सक्षम बना डालते हैं कि वह हर स्थिति का सामना कर सकता है।

आज का आदमी तेज दवाइया खा-खाकर अपनी जीवनीशक्ति को या प्रतिरोधात्मक शक्ति को कमजोर कर रहा है। ध्यान प्रतिरोधात्मक शक्ति को बनाए रखने का अचूक उपाय है। साधक ध्यान के द्वारा ज्ञान-तंतुओं और शारीरिक ततुओ को सक्रिय बनाकर जीवनीशक्ति को बढा सकता है। ध्यान का अभ्यास न चले, आदमी तेज दवाइयां लेता रहे, जीवनीशक्ति का क्षय करता चले, जीवनीशक्ति के लिए उपयोगी कीटाणुओ को नष्ट करता चले तो एक ओर से होने वाला क्षय उसे न जाने कहा नीचे ले जाकर पटकता है, कुछ भी नही कहा जा सकता।

प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करने वाला साधक, अपने चैतन्य केन्द्रो को देखने वाला साधक, शरीर के कण-कण मे चैतन्य का अनुभव करने वाला साधक समता की स्थिति मे चला जाता है। जब जीवन मे समता घटित होती है तब सारा आचरण बदल जाता है, जिस व्यक्ति के आचरण मे समता और व्यवहार मे मृदुता आ जाती है, उसके सारे सम्बन्ध सुधर जाते हैं।

मानवीय संबधो की पहली कठिनाई है—विषमता। पिता की दृष्टि पुत्रों के प्रति सम नही होती, माता की दृष्टि पुत्रियों के प्रति सम नही होती, तब सबंधो मे विकृति आने लग जाती है। सामाजिक व्यवस्था में जहां-जहा विषमता है, वहा-वहा उपद्रवो का होना अनिवार्य है और उपद्रव न हों तो मानना चाहिए कि विषमता में जीने वाले अज्ञानी लोग है। जहा सामाजिक स्थिति विषमतापूर्ण हो, उस सामाजिक स्थिति मे सताए जाने वाले लोग विद्रोह न करें तो मानना चाहिए कि वे मूर्च्छित हैं, सोए हुए हैं। यदि लोग जागे हुए हों तो विषमता के प्रति विद्रोह की आग न भभके, यह कभी नही हो सकता। विषमता के प्रति विद्रोह होना स्वाभाविक है और विद्रोह न हो तो एक बहुत बडा आश्चर्य है। दो बहनें साथ चले और बात न करें तो यह आश्चर्य हो सकता है, बात करना कोई आश्चर्य नही है।

मानवीय सम्बन्धो की सबसे बड़ी समस्या है विषमता। विषमता यदि परिवार मे हो तो परिवार सुखी नही हो सकता। विषमता यदि समाज मे हो तो समाज सुखी नही हो सकता।

मानवीय सबंधो की दूसरी कठिनाई है—कठोरता। आदमी अपने से छोटे व्यक्ति के साथ मृदु व्यवहार नही करता। अपने से बड़े व्यक्ति के साथ उसे मृदु व्यवहार करना पडता है। अन्यथा उसे स्वयं को कठिनाई भोगनी पड़ती है। छोटे के साथ मृदु व्यवहार करने पर बड़े का बड़प्पन ही कैसे सुरक्षित रह सकता है? यह धारणा रूढ़ हो गई है। एक मालिक अपने नौकर के साथ मृदु व्यवहार करने मे कठिनाई का अनुभव करता है। किन्तु बराबर के साथी के साथ वह विनम्र और मृदु व्यवहार करने मे गौरव अनुभव करता है। भला नौकर के साथ मृदु व्यवहार कैसे किया जाए? एक मिल

मैनेजर यदि मजदूरों के साथ मृदु व्यवहार करता है तो भला मिल कैसे चल सकेगी ? इस प्रकार की धारणाओ ने सामाजिक सबंधो और मानवीय संबंधो में बहुत बडी दरार पैदा कर दी। आज वैज्ञानिक खोजो के द्वारा नयी सचाइया सामने आयी हैं कि पवित्र और सद्भावनापूर्ण भावनाओ के द्वारा पौधों को विकसित किया जा सकता है। खेती को बढ़ाया जा सकता है। फूलो को और अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। क्या ऐसी स्थिति मे पूर्ण चेतना-शील व्यक्ति को निर्मल और सदभावनापूर्ण चेतना के द्वारा विकसित नही किया जा सकता ? क्या वह निरा पत्थर है।

विनम्रता, मृदुता हर किसी को पिघाल देती है। हम किसी के प्रति सद्भावना करे, प्रेमपूर्ण भावना करे, वह पिघल जाता है। गाय अधिक दूध देने लग जाती है, वृक्ष अधिक फल-फूल देने लग जाते है और लताए अपनी दिशा बदल देती है। एक ईसाई महिला ने एक प्रयोग किया। उसने कुछ पौधे लगाए। किंतु एक लता उन पर छा जाती, उन पौधों को ढंक देती। पौधों को पनपने का मौका ही नही मिलता। एक दिन महिला उस लता के पास गयीं। और विनम्र स्वर में बोली—'लता ! मुझे दु:ख है कि तुझे काटना पड़ेगा। क्योकि तुम्हारा शरीर बेचारे इस पौधे पर छा जाता है। पौधे को बढ़ने का मौका ही नही मिलता। मै तुझे काटना नही चाहती, किंतु काटना पड़ेगा। मुझे खेद है ! तू मुझे क्षमा करना।' उस महिला ने पौधे पर छा जाने वाले लता के भाग को काट डाला। फिर लता को सुझाव दिया कि तुम अमुक दिशा में बढ़ती जाओ। कुछ दिनो बाद देखा कि उस लता ने अपना मार्ग बदल डाला और दूसरी दिशा में बढना प्रारम्भ कर दिया। जब लता भी विनम्र बात सुन लेती है, पौधा भी सुन लेता है तब आदमी हमारी भावना क्यों नहीं सुनेगा ? हमारी मृदुता को वह समझे, यह कैसे हो सकता है ? किंतु हमने, यह रूढ धारणा बना ली कि आदमी पर मृदुता से शासन नही किया जा सकता। इस धारणा से मानवीय सम्बन्धो मे कटुता आयी है। एक आदमी दूसरे आदमी को शत्रु या पराया मानता चला आ रहा है।

प्रेक्षा-ध्यान की साधना के द्वारा आदमी के स्वभाव मे परिवर्तन आता है, साथ-साथ मानवीय संबंधो मे भी परिवर्तन घटित होता है। यदि मानवीय सम्बन्धों में कोई परिवर्तन घटित न हो और आदमी पहले जैसा ही कठोर, निर्दय और क्रूर बना रहे तो समझ लेना चाहिए कि ध्यान जीवन मे उतरा नही है, जीवन मे उसका प्रवेश नही हो पाया है।

ध्यान की साधना के द्वारा स्वभाव का परिवर्तन और मानवीय संबधों का परिवर्तन तब घटित हो सकता है जब प्रतिदिन हमारे मन पर जमने वाले मलों का शोधन होता रहे। शरीर पर जमने वाले मैल को आदमी पानी से धो डालता है। किन्तु वह इस ओर ध्यान ही नही देता कि मन पर प्रतिपल-

कितना मैल जमता है। वह उस मैल को हटाने की बात नही सोचता। कितने आश्चर्य की बात है ? जब तक इस मैल को नही धोया जाता तब तक स्वभाव का परिवर्तन करने की कल्पना केवल कल्पना मात्र ही रह जाती है। कोई परिणाम नही आ सकता। सबके मूल मे है शोधन। प्रेक्षा-ध्यान के साथ-साथ हम प्रतिदिन प्रतिक्रमण करें। जो मैल जमा हो, उसे धोकर साफ कर डालें। ऐसा प्रयत्न करें कि मैल जमे ही नही। अनुप्रेक्षा से यह काम सरल हो जाता है।

मन पर मैल जमता है पदार्थों के द्वारा। पदार्थ अनित्य हैं, अशाश्वत हैं। आदमी उनको नित्य और शाश्वत मान लेता है। इससे मूर्च्छा पलती है। इतना लगाव हो जाता है पदार्थ से कि एक सूई भी खो जाए तो मन बेचैन हो जाता है। कांच का एक प्याला भी टूट जाए तो नीद हराम हो जाती है।

परिवार एक सचाई है, किन्तु आदमी अपने आपको उससे अभिन्न मान लेता है। 'मैं और मेरा परिवार एक है'—यह मान्यता बन जाती है। जब तक व्यक्ति परिवार के स्वार्थों का पोषण करता है तब तक परिवार वाले उसको अलग नही मानते और वह भी परिवार से अपने को अलग नही मानता। किंतु यह सचाई तब खंडित हो जाती है जब व्यक्ति के द्वारा होने वाला स्वार्थ का पोषण टूट जाता है। उस दिन पता चलता है कि परिवार व्यक्ति के प्रति क्या है और व्यक्ति परिवार के प्रति क्या है ? फिर एक साथ इतना अनुताप उभरता है, इतना दुःख होता है कि व्यक्ति का मन टुकड़ा-टुकड़ा हो जाता है। वह सोचता है—जिस परिवार के लिए मैंने इतना काम किया, इतने कष्ट सहे, यह किया, वह किया और वही परिवार आज मेरे से आंख तक नही मिलाता। उसे अत्यन्त दु:खद अनुभूति होती है। मन मैला हो जाता है। उस पर मैल की परतें जमती जाती हैं। हम इस सचाई को मानकर चले कि पारिवारिक सम्बन्ध, मित्रों और साथियो के सम्बन्ध वास्तविक नही हैं। अन्तिम सचाई यह है कि व्यक्ति अकेला है, बिलकुल अकेला। यह है एकत्व अनुप्रेक्षा। इस सचाई को समझकर ही हम पारिवारिक सम्बन्धो को निभा सकते हैं।

मन पर जमने वाले मैलो को दूर करने के लिए हमें अनुप्रेक्षा का अभ्यास करना चाहिए। अनुप्रेक्षाएं तीन हैं—अन्यत्व अनुप्रेक्षा, एकत्व अनुप्रेक्षा और अनित्य अनुप्रेक्षा। दोष का मूल कारण है—शरीर के प्रति मूर्च्छा। यही मूर्च्छा दूसरी सारी मूर्च्छाओ को जन्म देती है। जब अन्यत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास होता है तब शरीर के प्रति होने वाली मूर्च्छा नही पनपती। एकत्व अनुप्रेक्षा के अभ्यास से सामाजिक सम्बन्धो मे आने वाली मूर्च्छा कम होने लगती है। अनित्य अनुप्रेक्षा के अभ्यास से पदार्थों के प्रति होने वाली मूर्च्छा

नष्ट हो जाती है।

आज कुछ विपर्यास हो गया है। आज ध्यान की उपलब्धि यह मान ली गई है कि ध्यान करने वाला अधर में रहे, धरती से ऊपर उठने वाला हो। यदि यह सिद्धि नही होती है तो ध्यान को निकम्मा समझ लिया जाता है। ध्यान की सिद्धि का यही मानदंड रहा तो सिद्धि के कुछ चमत्कार तो प्रदर्शित हो सकते हैं, किन्तु अन्तर् का कोई चमत्कार घटित नही हो सकता। नट नाना प्रकार के वेश बनाते हैं और दूसरों को सुखद अनुभव कराते हैं, किन्तु अपने आप मे रिक्त ही रहते हैं। चमत्कार को सिद्धि मानने वाले ध्यान-साधकों की भी यही स्थिति बन जाती है। वे रिक्त के रिक्त ही रह जाते हैं।

सिद्धियो के तीन स्तर हैं। एक है—प्राकृतिक, जैसे परिस्थितियो पर प्रभुत्व पाना। दूसरी सिद्धि है—ध्यान और दर्शन की विशिष्ट उपलब्धि। तीसरी सिद्धि है—स्वभाव का परिवर्तन।

शरीर को हलका बनाना, शरीर को भारी बनाना, जल पर चलना, आकाश में अधर उठना—ये सारी सिद्धियां प्राकृतिक नियमो को जानने पर और स्थितियो को बदलने पर घटित होती हैं किन्तु इनके द्वारा चेतना नही बदलती। इन सिद्धियो से चेतना का अध्यात्म की दिशा में प्रस्थान होता है या स्वभाव मे परिवर्तन आता है, यह मानना भूल है। ऐसे चमत्कार प्रदर्शित करने वाले अनुग्रह या निग्रह करने मे समर्थ होते है। वे इतने संवेदनशील बन जाते हैं कि थोडे से अपराध पर शाप दे देते हैं और थोडे से प्रसन्न होने पर वरदान दे देते है। सिद्धि का यह एक स्तर है। जिन्हे चमत्कार प्रदर्शित करना है, उनके लिए यह स्तर ठीक है, किंतु जिन लोगो को मूलत. अपने को बदलना है, आत्मा को उपलब्ध होना है, उनकी दिशा दूसरी होगी।

सिद्धि का दूसरा स्तर है—चेतना का जागरण, मति-श्रुत ज्ञान से लेकर कैवल्य तक का जागरण। मति-श्रुत की पटुता का विकास, अतीन्द्रिय चेतना का विकास, कैवल्य चेतना का विकास—यह भी सिद्धि का एक स्तर है। यह चेतना के जागरण का स्तर है।

सिद्धि का तीसरा स्तर है—मूर्च्छा की समाप्ति, कषाय की समाप्ति। जिस व्यक्ति की मूर्च्छा कम हो जाती है, कषाय नष्ट हो जाते हैं, वह इस सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। जब यह सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब चेतना की निर्मलता अपने-आप बढ़ जाती है।

हमारी साधना के दो मुख्य उद्देश्य हैं—कषाय की शाति और चेतना की निर्मलता। ये दो महान् सिद्धिया हैं। चमत्कार की सिद्धि भी एक प्रकार की सिद्धि है। उसे मैं सर्वथा निकम्मी नही समझता। किंतु वह हमारा ध्येय

नही है। जिसे कषाय-शमन की सिद्धि उपलब्ध है, जिसे चेतना के जागरण की सिद्धि उपलब्ध है, उस व्यक्ति को अणिमा, लघिमा, महिमा आदि ऋद्धियां प्राप्त होगी तो उनका उपयोग भी उसी दिशा मे होगा, चमत्कार की दिशा में नही होगा।

प्रवचन २८

संकलिका

१. साधारण व्यक्ति के लिए जगत् रंग, ध्वनि और तापमय है।
२. वैज्ञानिक के लिए यह जगत् दिग्, काल और विद्युत्मय है।
३. आध्यात्मिक के लिए यह जगत् चेतन और अचेतन में उठने वाली तरंगों से भरा हुआ है।
४. मनुष्य विद्युत्-आवेगों से आविष्ट होकर प्रवृत्तियां कर रहा है।
५. हमारे विद्युत्-आवेग नियंत्रित हो जाएं। तरंगों की लम्बाई बढ़ जाए—यही है अध्यात्म साधना का साध्य। इसे समझने वाला ही अध्यात्म के रहस्य को समझ सकता है।
६. लेश्या ध्यान—निस्तरंग तक पहुंचने का माध्यम।
७. तरंगातीत आत्मा की अभिव्यक्ति के दो मुख्य स्थान—
   - मस्तिष्क।
   - चैतन्य-केन्द्र।
   - तरंगातीत अवस्था को प्राप्त करने के पांच साधन।

अध्यात्म का रहस्य-सूत्र

हमारे हाथ मे एक नीवू है। उसका रग-रूप देखकर हम जान लेते हैं कि यह नीवू है। अंधेरे में नीवू को सूघकर हम जान लेते हैं कि यह नीवू है। रंग-रूप से भी हम नीवू को जान लेते है और गंध से भी हम नीवू को जान लेते हैं। छूकर और चखकर भी हम उसको जान लेते हैं। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से हम वस्तु को जान लेते है। प्रश्न होता है कि नीवू क्या है? हम रंग-रूप को देखते है, वह नीवू नही है। गंध, रस और स्पर्श से जो जानते हैं, वह भी नीवू नही है। इनमे तो हम केवल एक पर्याय को जानते हैं। आंख मे रग-रूप को जानने की क्षमता है और घ्राण में गंध को जानने की क्षमता है। इसी प्रकार त्वचा मे स्पर्श को और जीभ मे रस को जानने की क्षमता है। हम इन इन्द्रियो से एक-एक पर्याय को जान लेते हैं। पर प्रश्न है कि द्रव्य क्या है? ये सारी पर्याये है, तरगे हैं। मूल क्या है? विज्ञान सदियों से यह खोज कर रहा है कि मूल क्या है? आज भी खोज चालू है। बहुत सारे कण खोजे गए है, किन्तु मूल कण का प्रश्न आज भी प्रश्न ही है।

दार्शनिक जगत् मे यह प्रश्न हजारो वर्षो से चर्चा जाता रहा है कि मूल तत्त्व क्या है? मूल तत्त्व तक पहुचना बहुत कठिन बात है। वह कठिन इसलिए है कि यह सारा जगत लहरो का जगत् है। सारा जगत् पर्यायो का जगत् है। पर्याय ही पर्याय। मूल समुद्र कहा है? इसका कोई पता नही है। तरंगो और पर्यायो के इतने आवरण हैं कि मूल तत्त्व तक पहुचना सरल नही है। जो कुछ दृश्य है वह सब तरग ही तरग है, पर्याय ही पर्याय है। तरंग तरग को जानती है। जो आखें जानती हैं, वह आख स्वय एक तरंग है, पर्याय है। आख मे केवल तरग को जानने के अतिरिक्त किसी तरंगातीत को जानने की क्षमता नही हैं। हमारी कोई भी इन्द्रिय तरंगातीत को जानने मे सक्षम नही है। इसलिए इन्द्रियो के आधार पर जिन्होने चिन्तन किया, उन्होंने यह घोषणा कर दी कि इस ससार मे तरगातीत कुछ भी नहीं है। ऐसा कुछ भी नही है, जो तरगातीत हो, पर्यायो से अतीत हो। जानने वाला स्वय तरंग और जाना जाने वाला स्वयं तरग। ऐसी स्थिति मे तरगातीत की बात समाप्त हो जाती है। हमारा सारा ढाचा ही ऐसा है। हम श्वास से जीते हैं। श्वास स्वय एक तरग है। हम शरीर मे जी रहे है। वह शरीर भी स्वय एक तरंग है। हम शरीर को ठोस मानते है। वह ठोस है नही। अनित्य अनुप्रेक्षा के अभ्यास से शरीर मे होने वाले सूक्ष्म स्पंदन पकड़ मे आ

जाते हैं। हमे हड्डिया ठोस लगती हैं, किन्तु उनमे वहुत छिद्र हैं। एक वैज्ञानिक अनुसंधानशाला मे एक 'कार्क' की सरचना को देख रहा था। सूक्ष्मवीक्षण यंत्र का सहारा लिया। उसने देखा कि कार्क मे केवल जालिया ही जालिया है। उसने फिर शरीर को देखा। शरीर मे छिद्र ही छिद्र दिखे। इसी आधार पर कोशिकाओं का सिद्धान्त विकसित हुआ।

हम मानते है कि भीत ठोस है। किन्तु इसमे से निरन्तर इतने परमाणु निकलते हैं, इतने परमाणु घुसते हैं कि यदि उनको क्रम से रखा जाए तो हमारी पृथ्वी जैसी असंख्य पृथ्वियो मे भी न समाएं। इस स्थिति मे कैसे माना जाए कि भीत ठोस है? छिद्र ही छिद्र, तरल ही तरल, सव कुछ तरंगित है। जब पर्यायो का इतना बडा समूह है तब मूल पदार्थ तक हमारी पहुंच कैसे हो?

शरीर भी एक तरग है। मन भी एक तरंग है। श्वास भी एक तरंग है और बुद्धि भी एक तरग है। हमारे उपभोग मे आने वाले जितने भी उपकरण है वे सब तरंगे है। इन तरगो के आधार पर जो हम जानेंगे वह तरंग कैसे नही होगा? तरंग के द्वारा तरग को ही पकडा जाएगा, निस्तरग नही पकड़ा जा सकता। इसलिए हमारे ऐन्द्रिक, मानसिक, वैचारिक और बौद्धिक जगत् मे यदि यह घोपणा होती है कि आत्मा नामक कोई मूल तत्त्व नही है तो हमे आश्चर्य नही होना चाहिए। इन उपकरणों के आधार पर यह घोषणा कैसे की जा सकती है कि एक तत्त्व ऐसा भी है जो निस्तरग है, तरंगो से अतीत है। एक ऐसी भी अवस्था है जो तरगातीत है। इन्द्रिय-चेतना से लेकर बौद्धिक-चेतना तक के जगत् मे ऐसा कोई माध्यम नही है, जो निस्तरग को प्रमाणित कर सके। यदि हम मन की तरग के द्वारा यह कहे कि कोई निस्तरंग तत्त्व है तो यह भी एक मन की तरग ही होगी। मन स्वयं तरंग है तो वह निस्तरग को कैसे पकड़ पाएगा? उसे पता ही नही है कि निस्तरग भी कुछ होता है। उसका भी अस्तित्व है। मन केवल एक टेपरिकार्डर की भाति है। जो मान्यता या आवाज उसमे भर दी गयी, वह उसकी पुनरावृत्ति करता ही रहेगा। मन मे एक वात भर दी गयी कि एक तत्त्व ऐसा भी है जो निस्तरंग है, वह वार-वार यह वात कहता रहेगा। किंतु उसके पास निस्तरग जगत् से आया हुआ कोई भी साक्ष्य नही है, जिसके द्वारा वह यह प्रामाणित कर सके कि ऐसा भी एक तत्त्व है जो तरगातीत है। फिर यह भी एक प्रश्न होता है कि ध्यान भी मन की एक तरंग ही है। ध्यान का जो परिणाम होगा वह भी मन की एक तरग ही होगी। हम पर्याय के इस मायाजाल मे इतने उलझ जाते हैं कि पर्यायातीत और तरगातीत कुछ भी हमे उपलव्ध नही होता। यही एक ऐसा विंदु है जहा पहुचकर व्यक्ति अध्यात्म की खोज करता है। यदि यह विंदु न हो तो अध्यात्म की खोज कभी

संभव नही हो सकती। जिन लोगो ने अध्यात्म की खोज की हैं, उनका आरोहण इसी विंदु पर हुआ है। इस विंदु पर आकर ही उन्होने अध्यात्म को खोजने का प्रयास किया है। यह मध्य विंदु है। एक ओर तरंगो का जगत् है और दूसरी ओर तरंगातीत जगत् है। मध्य मे यह विंदु है। इसे पकडे विना तरंगों के संसार से तरंगातीत संसार मे नही पहुचा जा सकता।

एक प्रश्न होता है कि क्या तरगो को समाप्त किया जा सकता है? क्या तरगो को स्थिर कर पाना सभव है? ध्यानयोगियो ने इसका उत्तर 'हा' मे दिया। उन्होने कहा—यह सभव है। इस संभावना पर मनुष्य ने चिन्तन किया। सभावना और आगे वढ गयी। साधक को अनुभव होता है कि तरंग को रोका जा सकता है। श्वास एक तरग है। इसे रोका सकता है। इस पर खोज हुई। ये तथ्य सामने आए कि एक मिनट मे १५ श्वास लेने वाला व्यक्ति साधना और अभ्यास के द्वारा उस सख्या को घटाकर १०,७,५ और एक मिनट मे एक श्वास तक आ जाता है। जव उसका अभ्यास और आगे वढता है तव पूरा वर्ष श्वास लिए विना रह सकता है, वारह वर्ष तक भी श्वास लिए विना रह सकता है। श्वास का दरवाजा विलकुल वंद करके भी जी सकता है। श्वास के तरंग का निरोध किया जा सकता है। उसको समाप्त भी किया जा सकता है। महाप्राण ध्यान की साधना मे श्वास को विलकुल समाप्त कर दिया जाता है, और भी अनेक प्रकार की समाधियो मे श्वास का सर्वथा निरोध कर दिया जाता है। साधक श्वासहीन स्थिति मे चला जाता है।

शरीर भी एक तरंग है। इसे भी रोका जा सकता है। इसकी सभी धडकनो को वन्द कर इसे शव जैसा वनाया जा सकता है।

मन भी एक तरंग है। ध्यान की स्थिति मे मन का सर्वथा विलय हो जाता है। इस स्थिति में अ-मन वन जाता है। यह स्थिति एक दिन नही, वर्ष भर रह सकती है। साधक वर्ष तक अ-मन की स्थिति मे रह सकता है। मन को सर्वथा निष्क्रिय कर देना ही अ-मन की स्थिति है।

जव साधक को यह पता लग गया कि तरगो को रोका जा सकता है, तरगो को समाप्त किया जा सकता है तो इस स्थिति मे ही मनुष्य को तरगातीत विन्दु का वोध हुआ। पर्याय मे परे जो मूल तत्त्व है उसका ज्ञान हुआ। जिस किसी व्यक्ति ने इस सिद्धात को समझकर तरंग के निरोध का अभ्यास किया, उसने विचारो का निरोध, संवेदनो का निरोध, चचलता का निरोध करने का प्रयत्न किया। इस निरोध की स्थिति मे उसे इस सचाई का वोध हुआ कि इस संसार मे एक ऐसा भी तत्त्व है, जो तरंगातीत है, तरंगो से परे है।

दार्शनिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि संसार मे तरंगातीत कुछ भी

नही है। जिस आत्मा को हम तरंगातीत स्वीकार करते हैं, वह भी तरंगातीत नही है। इसे हम थोडा समझें। तरंगे दो प्रकार की होती है। पर्याय दो प्रकार के होते हैं—स्वाभाविक पर्याय और वैभाविक पर्याय। एक वे पर्याय हैं जो स्वभावतः प्रकट होते है। वे अनादि-अनन्त द्रव्य में प्रतिपल उत्पन्न होते रहते है और मिटते रहते है। ये स्वाभाविक तरगे कभी समाप्त नही होती, उत्पन्न होती हैं और मिटती हैं। ये पर्याय हमारे लिए बाधक नहीं होते। हमे जिन पर्यायों और तरंगो से बाधित होना पड़ता है, जो हमारी मति में भ्रम पैदा करते है, वे हैं वैभाविक पर्याय। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि निमित्तों से उत्पन्न होने वाले पर्याय। इन वैभाविक पर्यायों को मिटाया जा सकता है। इनकी समाप्ति ही तरंगातीत अवस्था है।

यह नही मान लेना चाहिए कि ध्यान करने के लिए बैठते ही सारे पर्याय समाप्त हो जाते है, तरंगें समाप्त हो जाती है। ध्यान की स्थिति में अनेक पर्याय चलते है, तरंगे चलती है। ध्यान पर किए गए वैज्ञानिक प्रयोगो से यह पता लगा कि विश्राम की स्थिति में जो लक्षण पैदा होते है, वे ही लक्षण ध्यान की स्थिति मे प्रकट होते है। हमारे शरीर मे 'लेप्टिक' एसिड है। विश्राम काल मे उसकी स्थिति कम होती है, किन्तु ध्यान काल मे नही होती। आठ घण्टे के नीद के समय मे जितनी मात्रा कम होती है, उतनी मात्रा ध्यान के वीस मिनट में हो जाती है। यह एसिड शरीर के लिए हानिकारक होता है। ध्यान मे और भी अनेक परिवर्तन होते हैं। किन्तु वह तरंगातीत स्थिति है, ऐसा नही मानना चाहिए। तरगातीत अवस्था एक वीतराग की भी नही होती, केवली की भी नही होती। गौतम ने भगवान् से पूछा—'भते ! केवली ने जहा हाथ रखा क्या वह वहा पुनः हाथ रख सकता है ?' महावीर ने कहा—'नही रख सकता।' असीमज्ञानी भी जब वैसा करने मे असमर्थ है तो भला साधारण आदमी यह दावा कैसे कर सकता है कि वह वही कर रहा है, जो उसने पहले किया था। गौतम ने फिर पूछा—'यह कैसे, केवली दूसरी वार उसी आकाश प्रदेश पर हाथ नही रख सकता ?' महावीर ने उत्तर दिया—'गौतम ! शरीर चंचल है। केवली हो जाने पर भी शरीर की चचलता नही मिटी है। इस शारीरिक चंचलता के कारण वह केवली दूसरी वार उसी आकाश प्रदेश पर हाथ नही रख सकता। कुछ-न-कुछ अन्तर आ जायेगा, आकाश-प्रदेश वदल जाएगे। इस प्रकार केवली भी तरगातीत स्थिति मे नही है। हम यह कभी कल्पना न करे कि दो-चार घटे की ध्यान की स्थिति मे तरंगातीत अवस्था प्राप्त हो जाती है। जब व्यक्ति शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है, चौदहवें गुणस्थान मे पहुच जाता है, अयोगी वन जाता है, तव उसे तरगातीत अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह मोक्ष की निकटस्थ अवस्था है। आत्मा वैभाविक पर्यायो से सर्वथा मुक्त होकर

अप्रकम्प हो जाता है। अप्रकम्प दशा की यात्रा हमारा लक्ष्य है। यह लम्बी यात्रा है। इस दशा तक हमे पहुंचना है। ध्यान उसका माध्यम है। हम तरंगो मे जी रहे है। ध्यानकाल मे भी तरंगे आती है, विकल्प उठते है। इससे निराश या खिन्न नही होना है। यदि दो-चार क्षणों तक भी तरंग न आए, विकल्प न उठे तो यह तरंगातीत अवस्था की क्षणिक प्राप्ति है। यह भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। हम तरगो के घेरे मे बैठे है, तरंगो मे जी रहे है, तरंगो मे श्वास ले रहे है। तरंगित जगत् मे यदि २-४ मिनट भी निस्तरग का अनुभव करते है तो यह दूसरी दिशा की ओर प्रस्थान है।

इस जगत् मे जीने वाले गुरुत्वाकर्षण के घेरे मे बन्धे होते है। यदि कोई व्यक्ति किसी अभ्यास के द्वारा गुरुत्वाकर्षण से हटकर हल्केपन का अनुभव करता है तो मानना चाहिए कि वह एक नयी यात्रा पर चल रहा है।

तीन स्थितिया है—१. बुरे विचार २ अच्छे विचार और ३. निर्विचार। कर्म को भी हम तीन भागो मे बाट सकते है— बुरा कर्म, अच्छा कर्म और अकर्म। 'बुरे विचार' भी तरग है और 'अच्छे विचार' भी तरग है। दोनो तरग है। दोनो मे, तरंग की दृष्टि से, कोई अन्तर नही है। किंतु एक तरग और दूसरी तरग मे बहुत बडा अन्तर होता है। सामान्य आदमी यह मानता है कि इस संसार मे रग है, रूप है, ध्वनिया है, ताप है, सब-कुछ है। किन्तु एक वैज्ञानिक इस भाषा मे नही सोचेगा। वैज्ञानिक के लिए यह दुनिया न रंगमय है, न रूपमय है, न ध्वनिमय है और न तापमय है। उसके लिए यह जगत् काल और विद्युत् का प्रवाह मात्र है। सब कुछ विद्युत्मय है। ऐसी स्थिति मे अच्छा सोचना भी विद्युत् की तरग है और बुरा सोचना भी विद्युत् की तरग है। सोचना, चिन्तन करना, प्रवृत्ति करना सब कुछ विद्युत् की तरग है। यदि हम निस्तरग की ओर बढना चाहते है, तरंगातीत स्थिति मे जाना चाहते है तो उसकी यही प्रक्रिया होगी कि सबसे पहले बुरी तरंग को समाप्त कर अच्छी तरंग का निर्माण करे। अच्छी तरग का निर्माण किए बिना बुरी तरग को समाप्त नही किया जा सकता। जिस बुरे चिन्तन से व्यक्ति तरंगातीत स्थिति से दूर चला गया था वह अच्छे चिन्तन से उस दिशा मे कदम बढा सकता है। यद्यपि अच्छे चिन्तन से भी व्यक्ति तरगातीत अवस्था मे नही पहुच सकता किन्तु जहा बुरा चिन्तन तरगातीत से हमारी दिशा को मोड देता है वहा अच्छा चिन्तन उस दिशा मे गति कराता है।

बुरे चिंतन से अच्छे चिंतन मे आने का सबसे सरल उपाय है—लेश्या ध्यान। इस ध्यान का अभ्यास किए बिना चिंतन को नही मोडा जा सकता। सामाजिक सबधो के कारण व्यक्ति मे शत्रुता के भाव आते रहते हैं। दूसरे का अनिष्ट करने की भावना उसमे पनपती है। अप्रिय व्यक्ति के सामने आते ही आखे तमतमा जाती हैं। विरोधी व्यक्ति की स्मृति होते ही सारी चिंतन

धारा प्रकंपित हो जाती है। इन प्रतिक्रियाओ को तब तक नही रोका जा सकता जब तक शुद्ध लेश्याओ का ध्यान नही किया जाता। तैजस, पद्म और शुक्ल—ये तीन शुद्ध लेश्याए है। इनका वर्ण है—प्रशस्त लाल, प्रशस्त पीत प्रशस्त श्वेत। इन वर्णो का ध्यान कर हम आतरिक प्रक्रिया को वदल सकते है और मन की आन्तरिक प्रक्रिया के द्वारा फिर उन वर्णो मे परिवर्तन शुरू हो जाता है। तब हम वाहर से भीतर को प्रभावित करते हैं और भीतर से वाहर को प्रभावित करते हैं।

विचार दो कारणो से उठते हैं। कुछ विचार आन्तरिक प्रवृत्तियो के कारण उठते हैं और कुछ विचार आकाश मे फैले हुए शब्द वर्गणा के कारण उठते हैं। जब शब्द वर्गणा के पुद्गल हमारे मस्तिष्क मे प्रविष्ट होते हैं तब विचार उठते हैं। एक उत्तम विचारो वाला व्यक्ति बैठा है। उसके चारो ओर पचासों व्यक्ति है। कुछ व्यक्ति अच्छे विचार वाले हैं और कुछ व्यक्ति बुरे विचार वाले हैं। किन्तु उस सज्जन व्यक्ति के विचार मस्तिष्क से निकलकर वायुमण्डल मे विकीर्ण होते हैं और उपस्थित सभी व्यक्तियो को प्रभावित कर डालते हैं। सबके विचार बदल जाते हैं। इसी प्रकार एक बुरे व्यक्ति के विचार पुद्गल आकाश मे फैलकर अच्छे विचारों वाले व्यक्तियो को भी बुरा वना डालते है। यह सव होता है विचारो की शक्ति के आधार पर। व्यक्ति के मस्तिष्क से निकलने वाले पुद्गल आकाश मे फैलते हैं और दूसरे व्यक्तियो से टकराकर उनको प्रभावित करते हैं। सत्संग का इसीलिए तो महत्त्व है कि संत व्यक्तियो के पास बैठने से विचारो की विशुद्धि होती है।

आचाराग का एक सूत्र है—'अलं वालस्स संगेणं'—बुरे विचार वालो का सग मत करो। उनसे सदा दूर रहो। ऐसा न हो जाए कि बुरे व्यक्तियों के विचार तुम्हे प्रभावित कर तुम्हे भी बुरा वना डाले। इससे वचने के लिए हमे दो ओर से प्रक्रिया करनी होती है। पहली यह कि हमारी अन्तर्वृत्तिया बुरी न जागे। अन्तर्वृत्तियो के शोधन के लिए तैजस और पद्म लेश्या का ध्यान किया जाए। दूसरी वात है कि बुरे विचार न उठे, बुरे विचार हमे आक्रात न करे, हमारे मस्तिष्क को प्रभावित न करे, इसलिए हमे शुक्ल लेश्या का ध्यान करना होगा। हम एक ऐसे कवच का निर्माण करे जिसको भेदकर बुरे विचार न आ पाए। वे वाहर ही रह जाए। हमारे मस्तिष्क में न आए। यदि शुक्ल लेश्या के द्वारा हम एक शक्तिशाली कवच वना लेते है तो वाहर के खतरे से वच जाते है। यदि हम तैजस और पद्म लेश्या का कवच वना लेते है तो भीतर से उठने वाले बुरे विचारो के आक्रमण से वच जाते हैं। इसके वाद अच्छे विचारो की तरगें पैदा होने लग जाती हैं। ये तरंगे अध्यात्म यात्रा मे आगे वढने मे सहयोग करती हैं और निरंतर हमारा साथ देती हैं। कही वाधा नहीं डालती।

लेश्या ध्यान का बहुत बडा महत्त्व है। निस्तरग तक पहुंचने के लिए लेश्या ध्यान आवश्यक है। यद्यपि लेश्या स्वय तरग है किन्तु निस्तरग की दिशा मे प्रस्थान के लिए लेश्या ध्यान बहुत सहयोग करता है। हम इसका उचित मूल्याकन करे।

हम श्वास-प्रेक्षा के द्वारा अपने श्वास पर नियंत्रण करते है। हम शरीर-प्रेक्षा के द्वारा शरीर के स्पंदनो को देखते है, उनके अनित्य स्वभाव को देखते हैं, अनित्य अनुप्रेक्षा मे उतरते हैं। फिर हम अनित्य से परे किसी नित्य की खोज के लिए प्रस्थान करते हैं। हमारी यात्रा और आगे बढती है। हम चैतन्य केन्द्रो की प्रेक्षा के द्वारा उस नए आयाम का उद्घाटन करते हैं, जो चैतन्य केन्द्रो के माध्यम से कभी-कभी अपना प्रकाश डालता है।

हमारे शरीर में तरगातीत आत्मा की अभिव्यक्ति के दो मुख्य स्थान हैं—एक मस्तिष्क और दूसरा चैतन्य-केन्द्र। दो महत्त्वपूर्ण द्वार हैं जिनके माध्यम से भीतर मे छिपी हुई ज्योति कभी-कभी बाहर भी अपना प्रकाश डालती है। वह ज्योति भीतर ही छिपी रहती है, फिर भी उसकी कुछ रश्मिया हम तक पहुच जाती हैं। जो साधक चैतन्य-केन्द्रों पर ध्यान करता है, वह उस ज्योति को अनायास ही उपलब्ध हो जाता है। जब एक बार भी वह उसे उपलब्ध हो जाता है तब चाहे कितनी ही तरंगें उसे घेरे रहे, कितनी ही बाधाए डाले, वह कभी विचलित नही होता। जो एक बार भी तरंगातीत अवस्था का अनुभव कर लेता है। वह अनुभव कभी समाप्त नही होता। जिसे एक बार सम्यक् दर्शन उपलब्ध हो गया, फिर उसके विकास को कोई नहीं रोक सकता। थोड़ी-बहुत बाधा डाली जा सकती है, पर उसके आगे बढने वाले चरणो को नही रोका जा सकता। अनुप्रेक्षा के द्वारा हम वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानें। पदार्थ के अयथार्थ स्वरूप का बोध मूर्च्छा ही मूर्च्छा पैदा कर रहा है और मूर्च्छा का जाल इतना सघन हो जाता है कि हम उसके पार देख नही पाते। अनुप्रेक्षा के द्वारा ही इस मूर्च्छा के चक्रव्यूह को तोड़ा जा सकता है।

तरंगातीत अवस्था को प्राप्त करने के पांच साधन हैं—

१. श्वास प्रेक्षा।
२. शरीर-प्रेक्षा।
३. अनुप्रेक्षा।
४. लेश्या ध्यान।
५. कायोत्सर्ग।

ये पांचो प्रेक्षा ध्यान के मौलिक आधार हैं। इन साधनो का सम्यक् उपयोग होने पर तरगातीत अवस्था प्राप्त हो सकती है। इसमें अभ्यास की प्रधानता है। दो-चार दिन के अभ्यास से कुछ नही बनता। लम्बा और सघन

अभ्यास ही सफलता प्राप्त करा सकता है।"

श्वास-संयम का अभ्यास करेंगे तो अनुभव होगा कि शरीर हलका होता जा रहा है। जब शुद्ध लेश्या का ध्यान होगा तो शरीर हलका होगा। उसे भारी बनाने वाली हैं अशुद्ध लेश्याए। इन अशुद्ध लेश्याओं के स्पर्श इतने रूखे हैं कि उनसे शरीर भारी बन जाता है। शुद्ध लेश्याओं के आधार पर शरीर की गध बदल जाती है। महावीर के शरीर से पद्म की गंध आती थी। यह यथार्थ बात है। जो वीतराग की स्थिति मे चला जाता है उसके शरीर की गंध पद्म जैसी हो जाती है। शुद्ध लेश्याएं सुगंध पैदा करती हैं और अशुद्ध लेश्यायें दुर्गंध। बुरे विचार करने वाले व्यक्ति के शरीर से दुर्गंध निकलती है और अच्छे विचार करने वाले व्यक्ति के शरीर से सुगंध फूटती है। गंध के द्वारा जाना जा सकता है कि व्यक्ति अच्छे विचार वाला है या बुरे विचार वाला। मुंह का रस कभी खट्टा हो जाता है, कभी मीठा हो जाता है और कभी कड़वा हो जाता है। सामान्यतः इसका कारण है—वात, पित्त और कफ। जब पित्त का प्रकोप होता है तब क्रोध अधिक आता है। जब वायु का विकार बढ़ता है तब विचारों की उधेड़बुन बढ़ती है, संकल्प-विकल्प बढ़ते हैं। जब कफ का प्रकोप होता है तब आलस्य, मूर्च्छा और लोभ बढता है। इस प्रकार वात, पित्त और कफ विचारो को प्रभावित भी करते हैं और विचारो से प्रभावित भी होते हैं।

अन्तिम बात है—कायोत्सर्ग। शरीर की सारी तरगों को समेटने, मन की तरंगों को समेटने, बुरे विचारो को निष्क्रिय बनाने मे कायोत्सर्ग की प्रमुख भूमिका रहती है।

हम सभी साधनों का प्रयोग कर उस तरंगातीत स्थिति का अंकन कर सकते हैं, झांकी पा सकते हैं। अब हमे ही यह निर्णय करना है कि क्या हमे तरंग की ही यात्रा करनी है या तरंगातीत के लिए अपना चरण आगे बढाना है?

प्रवचन २६ | संकलिका

१. आध्यात्मिक व्यक्ति का व्यवहार 'अन्यथा' हो।
२. 'अन्यथा' की अर्थाभिव्यक्ति।
३. आध्यात्मिक व्यवहार के चार सूत्र—
- क्रियात्मक व्यवहार।
- सतुलित व्यवहार
- ज्ञानात्मक व्यवहार।
- सत्याभिमुखता।

४. कोरा व्यावहारिक व्यक्ति—पदार्थाभिमुख।
५ आध्यात्मिक व्यक्ति—सत्याभिमुख।
६. पदार्थ से सुख—निश्चित व्याप्ति नही।
७. मन की संतुलित अवस्था मे सुख—निश्चित व्याप्ति।
८. पदार्थ का उपभोग और पदार्थाभिमुखता—एक नही, दो हैं।

अध्यात्म और व्यवहार

अध्यात्म के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति का व्यवहार और व्यवहार के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति का व्यवहार भिन्न होता है। व्यवहार से मुक्त कोई भी नही हो सकता। जो शरीरधारी है, वह व्यवहार करता है। व्यवहार के विना वह जी नही सकता, उसका जीवन चल नही सकता। किन्तु दोनो का व्यवहार बहुत भिन्न होता है। आचारांग सूत्र का कथन है कि आध्यात्मिक व्यक्ति को अन्यथा व्यवहार करना चाहिए। हम 'अन्यथा' शब्द को समझे। इसके तात्पर्य को समझे। व्यावहारिक व्यक्ति का व्यवहार क्रियात्मक नही होता, वह प्रतिक्रियात्मक होता है। वह सोचता है—उसने मेरे प्रति ऐसा व्यवहार किया तो मै भी उसके प्रति ऐसा ही व्यवहार करूं। यह क्रियात्मक व्यवहार नही, प्रतिक्रियात्मक व्यवहार है। ऐसे व्यक्ति में कर्त्तव्य की स्वतंत्र प्रेरणा नही होती और कर्त्तव्य का स्वतन्त्र मूल्य भी नही होता। उसका कर्त्तव्य स्व-संकल्प से प्रेरित नही होता, वह होता है दूसरो से प्रेरित।

वर्तमान के आचारशास्त्रियो और दार्शनिको ने आचार के मूल्य की मीमांसा में इस प्रश्न पर बहुत चर्चा की है कि हमारे कर्त्तव्य की प्रेरणा और हमारे कर्त्तव्य का स्वरूप क्या होना चाहिए ? प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने कहा—'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य होना चाहिए, न दया के लिए न अनुकंपा के लिए और न दूसरो का भला करने के लिए। ये सब नैतिक कर्म के हामी नही हैं और उससे सवद्ध भी नही हैं। केवल मनुष्य का स्वतन्त्र संकल्प उसका स्वलक्ष्य मूल्य है। इसलिए कर्त्तव्य के लिए ही हमारा कर्तव्य होना चाहिए।'

कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य की यह बात बहुत ही मूल्यवान् है। यह क्रियात्मक बात है, प्रतिक्रियात्मक नहीं। कोई व्यक्ति दया का पात्र है, उस पर कोई दया करता है तो यह कोई स्वतंत्र क्रिया नही है। यह प्रतिक्रिया है। किन्तु यह मेरा धर्म है कि मैं प्राणीमात्र को अपनी आत्मा के समान समझता हूं और उसके साथ मैत्री का व्यवहार करता हू। यह स्वतन्त्र कर्त्तव्य है, स्वतंत्र मूल्य है, क्रियात्मक कार्य है।

मैं इसलिए प्रसन्न होऊ कि दूसरे ने मेरी प्रशसा कर दी और इसलिए नाराज होऊ कि दूसरे ने मुझे गालिया दे दी—यह सारा प्रतिक्रियात्मक व्यवहार है। व्यवहार के स्तर पर जीने वाला प्रत्येक व्यक्ति सदा प्रतिक्रियात्मक व्यवहार करता है। क्रियात्मक व्यवहार करने का उसके साथ कोई दर्शन जुडा हुआ नही है।

अन्यथा व्यवहार का पहला सूत्र है—क्रियात्मक व्यवहार। जो व्यक्ति आध्यात्मिक है वह सदा क्रियात्मक व्यवहार करेगा, क्योकि वह उसका धर्म है। उसने मेरा उपकार किया है तो मुझे उसका उपकार करना चाहिए, उसने मुझे सहयोग दिया है तो मुझे उसको सहयोग देना चाहिए— यह उसका चितन नही होगा। वह सोचता है—कोई मेरा उपकार करे या न करे, मुझे सहयोग दे या न दे, मै सदा दूसरो का उपकार करूगा, सहयोग दूगा।

एक श्रमण दूसरे श्रमण के पास गया। दोनो के बीच कटुता थी। उसने जाकर कहा—'भते ! आपके साथ कुछ अनबन हो गई, मैं उसके लिए क्षमा मागता हूं।' दूसरे श्रमण ने सुना। वह कुछ नही बोला। अनेक प्रयत्न करने पर भी उसने मुह नही खोला। तब वह आचार्य के पास जाकर बोला—'देव ! मैं अमुक श्रमण से क्षमा-याचना करने गया। हजार प्रयत्न करने पर भी वह न क्षमा करता है और न बोलता है। अब मुझे क्या करना चाहिए ?' आचार्य ने कहा—'वत्स ! वह क्षमा करे या न करे, उसकी अपनी इच्छा है। तुम्हे निर्मल मन से क्षमा मांग लेनी चाहिए। तुम क्षमा मागो और वह तुम्हे क्षमा दे—यह व्यवहार होगा, प्रतिक्रिया होगी।' आचार्य ने आगे कहा—'जाओ, तुम उससे क्षमा-याचना कर लो।'

श्रमण ने पूछा—'भते ! मुझे ऐसा क्यो करना चाहिए ?'

आचार्य ने कहा—'उवसमसारं खलु सामण्ण'—'श्रामण्य का सार है—उपशम, शांति।' वह दूसरा श्रमण तुम्हे आदर दे या न दे, तुम्हारी ओर देखे या न देखे, तुम्हारे से क्षमा याचना करे या न करे, तुम जाओ और क्षमा-याचना कर लो। यह इसलिए करो कि यह तुम्हारे श्रामण्य का धर्म है, श्रामण्य की मांग है। तुम्हे ऐसा करना ही चाहिए।'

यह है क्रियात्मक व्यवहार। आध्यात्मिक व्यक्ति यह अपेक्षा नही रखता कि सामने वाला व्यक्ति क्या करता है ? वह यह सोचता है कि मेरा धर्म क्या कहता है ? धर्म की दृष्टि से मुझे क्या करना है ? यह है अन्यथा व्यवहार का पहला लक्षण।

जिस व्यक्ति का व्यवहार क्रियात्मक नही होता उसका प्रत्येक आचरण असंतुलित रहता है। सतुलन का अर्थ है—न इधर झुकाव, न उधर झुकाव। न पक्षपात, न राग, न द्वेप, न प्रियता और न अप्रियता। पूरा सतुलन। तराजू के दोनो पलड़े समान। कोई भी झूका हुआ नही।

उपनिषद् की एक कथा है। जाजली नाम के ऋषि घोर तप तप रहे थे। उनकी जटाए बढ गयी थी। वे निश्चल खडे थे। पक्षियो ने उनकी जटा मे घोसले बना लिये। उन्होने अडे दिए। अंडो से बच्चे निकले और वयस्क होकर उड गए। तब तक ऋषि ज्यो-के-त्यों खडे रहे। तप के साथ अहं भी बढता गया। मैंने कितना विकट तप तपा है ? यह भाव अहं को वृद्धिगत

करता है। प्रभुता पास मे हो और अहकार न हो, यह कब होता है ? ऐसा कौन व्यक्ति है जिसके पास प्रभुता है और अहं नही है ? ज्ञान, सत्ता, सम्पत्ति, शक्ति और प्रभुता का अहंकार होता है। तप का भी अहंकार होता है। तपस्वी का अह पुष्ट होता जा रहा था। एक दिन देववाणी हुई—'जाजली ! अभी तक तुम सधे नही हो। तुम तुलाधर वैश्य के पास जाकर सीखो।' यह सुनते ही ऋषि का मन विक्षुब्ध हो गया। अहं पर गहरी चोट लगी। देववाणी के प्रति वह नत था। वह विना कुछ ननुनच किए तुलाधर वैश्य के पास आया। उसने देखा कि वैश्य तुलाधर एक दुकान मे बैठा है। ग्राहक आ रहे है, जा रहे है। तुलाधर तराजू से तोलता जा रहा है। कोई साधना नही, कोई ध्यान नही, कोई स्वाध्याय नही, कोई तपस्या नही। वह केवल तराजू से तोल रहा है। इतना-सा ध्यान दे रहा है कि दोनो पलडे समान रहें, कोई भी झुका न हो। साझ हुई। तुलाधर वैश्य दुकान वद करने लगा। ऋषि पास मे जाकर वोले—'भाई ! क्या तुम्हारा नाम तुलाधर है ?'

'हा, जाजली ! आए हो तुम ! कहो, किसलिए आए हो ?'—तुलाधर ने पूछा।

'मै तुम्हारी साधना जानने के लिए आया हू। तुम्हारी साधना का मर्म क्या है ?' ऋषि ने पूछा।

तुलाधर ने कहा—'मेरी कोई साधना नही है। मैं तो व्यापारी हूं। व्यापार करता हूं। वस्तुएं तोलता हू, किन्तु एक वात का ध्यान रखता हू कि दोनो पलडे समान हों। दोनो पलडो को समान रखता हू। इस वाहरी संतुलन ने मेरे भीतर भी संतुलन पैदा कर दिया है।'

जब भीतर संतुलन का वलय बन जाता है तो ध्यान अपने-आप सिद्ध हो जाता है और समाधि भी सिद्ध हो जाती है।

तुलाधर वैश्य ने वाहरी सतुलन साधा और उसका आतरिक सतुलन सध गया। अब अलग ध्यान करने की आवश्यकता नही रही। ध्यान सहज वन गया।

ऋषि जाजली को वोध मिला कि मैंने तपस्या की, किन्तु सतुलन नही साधा। सतुलन वनता तो अह कैसे आता ? संतुलन की अवस्था मे सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। जीवन के प्रति झुकाव होता है तो संतुलन विगड जाता है। मौत के प्रति झुकाव होता है तो भी सतुलन विगड जाता है। लाभ और अलाभ के प्रति, मान और अपमान के प्रति, निन्दा और प्रशसा के प्रति जो झुकाव होता है वह भी असतुलन पैदा करता है। जो समस्त द्वन्द्वो के प्रति सम रहता है संतुलन वनाए रखता है, वह है अध्यात्म का उपासक। अध्यात्म का दूसरा सूत्र है—सतुलित व्यवहार।

आध्यात्मिक व्यक्ति का व्यवहार ज्ञानात्मक होगा। यह तीसरा सूत्र है। व्यवहार के धरातल पर जीने वाले व्यक्ति का व्यवहार संवेदनात्मक होगा। ज्ञान और सवेदना दो है। चेतना के विकास की पहली भूमिका है संवेदना। ज्ञान उसके आगे की भूमिका है। अविकसित प्राणियो मे सवेदना होती है, पर ज्ञान नही होता। जितने अविकसित प्राणी हैं उनकी चेतना सवेदना के स्तर पर काम करती है, ज्ञान के स्तर पर काम नही करती।

प्रसिद्ध सितारवादक रविशकर ठाकुर कनाडा गए। वे सितार बजा रहे थे। दोनो ओर के पौधो मे संवेदना जागी और वे सव सगीत के साथ-साथ इधर-उधर डोलने लगे, झूमने लगे। जो पौधे दूर थे, जहा संगीत की ध्वनि पहुच नही रही थी, वे पौधे ज्यो के त्यो खडे ही रहे। यह देखकर निष्कर्ष निकाला गया कि जो पौधे निकट थे, उनमे सवेदनात्मक भाव इतना प्रवल हो गया कि वे सव सितार की लय के साथ-साथ झूमने लग गए।

वच्चो के प्रति भी सवेदनात्मक व्यवहार ही अधिक कार्यकर होता है, ज्ञानात्मक व्यवहार कार्यकर नही होता। चेतना की भूमिका मे इन्द्रियो की तुलना वच्चो से की जा सकती है। त्वचा, जिह्वा और नाक से होने वाली अनुभूति सवेदनात्मक ही होती है। आख और कान से ज्ञानात्मक प्रतीति होती है। किन्तु इन सभी इन्द्रियो के साथ भीतर से प्रवाहित होने वाली प्रियता और अप्रियता की धारा जुडती है और सवेदना प्रभावित हो जाती है। आध्यात्मिक व्यवहार करने वाला प्रियता और अप्रियता से प्रभावित नही होता। वह जिस इन्द्रिय का जो विषय है उसे जान लेता है या उसका सवेदन कर लेता है, इससे आगे कुछ भी नही करता। कान से शब्द सुना और उसका अर्थ जान लिया। यह ज्ञानात्मक व्यवहार है। प्रिय शब्द सुना और मन राग से भर गया। अप्रिय शब्द सुना और मन द्वेष से भर गया। यह सवेदनात्मक व्यवहार है। आध्यात्मिक व्यक्ति प्रिय और अप्रिय शब्द के अर्थ से परिचित होता है फिर भी प्रियता और अप्रियता के वोध से अपने आपको भारी नही वनाता। केवल व्यवहार के स्तर पर जीने वाले लोग प्रियता और अप्रियता के वोझ से लदे रहते हैं। उसका मानसिक तनाव कभी समाप्त नही होता। उनकी सारी चिन्ता प्रिय को अनुगृहीत और अप्रिय को निगृहीत करने मे लगी रहती है।

आध्यात्मिक व्यवहार का चौथा सूत्र है—सत्याभिमुखता। आध्यात्मिक व्यक्ति सत्य की दिशा मे मुह करके चलता है। कोरा व्यावहारिक व्यक्ति पदार्थाभिमुख होता है। उसका मुह सदा पदार्थ की ओर रहता है। आध्यात्मिक व्यक्ति भी पदार्थ के विना नही जी सकता। जीवन-यात्रा चलाने के लिए पदार्थ नितान्त जरूरी है। पदार्थ और पदार्थाभिमुखता—ये दोनो एक नहीं है। सुख मन की अवस्था नही है। पदार्थ होने पर भी कोई सुखी नहीं होता

और पदार्थ न होने पर भी कोई सुखी होता है, इसलिए पदार्थ से सुख होता है, यह निश्चित व्याप्ति नही है। पदार्थ के होने पर सुख हो भी सकता है और नही भी हो सकता। मन की संतुलित अवस्था मे सुख की निश्चित व्याप्ति है। जब मन शात होता है तब सुखानुभूति निश्चित होती है। इसकी पुष्टि अल्फा तरंग के वैज्ञानिक सिद्धांत से हो रही है। शांत मन की अवस्था मे मस्तिष्क में अल्फा तरंग पैदा होती है। उससे व्यक्ति सुख का अनुभव करता है। मानसशास्त्री 'जल्डर पेनफील्ड' के अनुसार मन में क्षोभ और उद्वेग जितना कम होता है उतना ही मन स्वस्थ रहता है। पदार्थाभिमुखता मन मे क्षोभ और उद्वेग पैदा करती है। पदार्थ के प्रति होने वाली अति उत्सुकता ग्रन्थियों के स्राव को अनियमित बना देती है। फलतः दुःख की परम्परा अंतहीन हो जाती है। इसीलिए अध्यात्म की पृष्ठभूमि पर व्यवहार को चलाने वाला पदार्थ का उपभोग करता है, पदार्थ की दिशा में मुह कर नही चलता। उसकी जीवन-यात्रा सत्य की दिशा में चलती है। जिसे सत्य उपलब्ध हो जाता है, वह दुःख से मुक्त हो जाता है। हमारे सभी दुःखो का मूल है—असत्य। हम असत्य को पालते है, भ्रांतियो को जन्म देते हैं और दु.ख को निमन्त्रित करते हैं। दुःख-मुक्ति का पहला चरण होगा—चिरपोषित भ्रांतियो को तोड़ना, भ्रांतियों को जन्म देने वाले असत्य से दूर होना और सत्य का साक्षात्कार करना।

व्यवहार आखिर व्यवहार है। जीवन यात्रा के लिए उसकी उपयोगिता को नकारा नही जा सकता। इस सचाई को भी अस्वीकार नही किया जा सकता कि जब व्यवहार की पृष्ठभूमि मे पदार्थ की प्रेरणा होती है तब मनुष्य दु.खी बनता है और जब उसकी पृष्ठभूमि मे अध्यात्म की प्रेरणा होती है तब मनुष्य शात और सुखी जीवन जीता है।

प्रवचन ३० | संकलिका

१. अपने आपको देखने के पाच सूत्र—
   - कायोत्सर्ग
   - अप्रमाद
   - भावना
   - अनुप्रेक्षा
   - प्रेक्षा।

२. शरीर प्रेक्षा है—
   - पर्याय के माध्यम से मूल का दर्शन
   - अनित्य के दर्शन से नित्य का दर्शन
   - मूल तक का यात्रा-पथ।

३. मन के विकास की चार भूमिकाए—
   - जागरूकता
   - भावना
   - विचार
   - दर्शन।

४. प्रेक्षा-ध्यान के चौदह फलित।

प्रेक्षा-ध्यान : मानसिक प्रशिक्षण के पांच सूत्र

भगवान् महावीर की ध्यान-पद्धति दर्शन की पद्धति है। हमारी आत्मा और शरीर तत्त्वतः भिन्न होते हुए भी व्यवहार के धरातल पर भिन्न नही है। श्वास, शरीर, वाणी और मन—ये सब प्राणशक्ति द्वारा संचालित होते हैं। प्राणशक्ति सूक्ष्म शरीर (तैजस शरीर) का विकिरण है। सूक्ष्म शरीर अतिसूक्ष्म शरीर (कर्मशरीर) द्वारा सचालित होता है। अतिसूक्ष्म शरीर आत्मा द्वारा संचालित होता है। इसलिए श्वास, शरीर, प्राण और कर्म के स्पंदनो को देखना आत्मा को देखना है।

अपने आपको देखने का पहला सूत्र है—कायोत्सर्ग। हम शरीर की सक्रियता का मूल्य जानते है। उसकी निष्क्रियता का मूल्य नही जानते, इसीलिए हम मासपेशीय तनाव के शिकार होते हैं। इस तनाव से वचने का उपाय है—शरीर की चचलता का विसर्जन। शरीर शांत होता है, तव श्वास मंद हो जाता है, मन की चंचलता कम हो जाती है। कायोत्सर्ग का आध्यात्मिक मूल्य है—अन्तर् की अनुभूति और उसका मानसिक मूल्य है—मानसिक तनाव और मनोकायिक रोगों से छुटकारा।

अपने आपको देखने का दूसरा सूत्र है—अप्रमाद। उसका एक रूप है—जागरूकता—सत्य और सयम के प्रति जागृत मनोभाव। उसका दूसरा रूप है—भावक्रिया—शरीर के कर्म और मन का सामजस्य।

मिथ्यादृष्टि और असंयम या इन्द्रिय-लोलुपता से हमारी चेतना सुषुप्त हो जाती है। सुषुप्त चेतना मे दु.ख बीज अंकुरित होते हैं। अप्रमाद जीवन की दिशा को बदल देता है। हमारी सुख की दिशा उद्घाटित हो जाती है।

हमारे शरीर के कर्म और मन दोनो साथ-साथ नही चलते। हम शरीर से एक काम करते हैं और मन से दूसरा काम करते हैं। इससे हमारी शक्तियां क्षीण होती हैं। भावक्रिया द्वारा हम इस शक्ति के अपव्यय से वच जाते हैं।

अपने-आपको देखने का तीसरा सूत्र है—भावना। इससे प्राण-ऊर्जा और सकल्पशक्ति (विल पावर) का विकास होता है। प्राण-ऊर्जा और संकल्पशक्ति का विकास होने पर हमे हर पदार्थ सम्मोहित नही कर सकता। हमारा निश्चय अटल हो जाता है। सफलता का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—दृढ निश्चय।

अपने-आपको देखने का चौथा सूत्र है—अनुप्रेक्षा। सामाजिक सपर्क

और पदार्थ के संयोग-वियोग से पनपने वाली मूर्च्छा को तोडने और मन पर जमने वाले मलो की सफाई के लिए यह वहुत मूल्यवान् अभ्यास है। यह चिन्तनात्मक ध्यान है। यह चिन्तन से प्रारम्भ होता है और एक विषय में चिन्तन की धारा को प्रवाहित कर अनुभव के स्तर तक पहुंच जाता है। इससे सचाई की अनुभूति होती है, मन की निर्मलता और सहिष्णुता की शक्ति वढ़ती है।

अपने-आपको देखने का पांचवा सूत्र है—प्रेक्षा। प्रेक्षा से शरीर की सक्रियता वढती है, चैतन्य-केन्द्र जागृत होते है। श्वास, शरीर और शरीर के चैतन्य-केन्द्रो से निकट संपर्क स्थापित होते हैं। उनके आंतरिक स्वरूप को जानने-समझने का अवसर मिलता है। दीर्घश्वास प्रेक्षा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इससे तैजस शरीर जागृत होता है। मन की चचलता को मिटाने का यह सहज-सरल उपाय है। शरीर-प्रेक्षा से शरीर के विष विसर्जित होते हैं। मन की सूक्ष्म को पकडने की क्षमता विकसित होती है।

शरीर प्रेक्षा का अर्थ है—शरीर के प्रतिक्षण वदलते हुये पर्यायो को देखना, अनुभव करना। यह पर्याय के माध्यम से मूल दृश्य को देखने की यात्रा है।

शरीर के रासायनिक परिवर्तनो को देखना, अनित्यता का अनुभव करना—यह अनित्य-दर्शन के माध्यम से नित्य-दर्शन का यात्रापथ है।

शरीर मे घटित होने वाली घटनाओ को देखना, वेदना-पीडा जो कुछ हो, उन्हें द्रष्टाभाव से देखना, शरीर और चैतन्य के भेद का अनुभव करना—यह भी मूल तक पहुचने का उपक्रम है।

चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा से चैतन्य-केन्द्रो पर हमारा नियंत्रण स्थापित होता है। हम उनकी शक्ति का सही नियोजन कर सकते हैं। उनमे रासायनिक परिवर्तन कर सकते है।

प्रकंपन-प्रेक्षा—हमारे शरीर मे निरतर प्रकम्पन हो रहे हैं। शरीर के प्रकंपन, वाणी के प्रकंपन, मन के प्रकपन और श्वास के प्रकम्पन। सूक्ष्म प्राण का प्रयोग कर प्रकम्पन वढाए जा सकते हैं। प्राण का निरोध कर वे घटाए जा सकते हैं, रोके जा सकते हैं। भावना के द्वारा विरोधी प्रकम्पन पैदा किए जा सकते हैं। प्रेक्षा-ध्यान मे पवित्र विकल्प या आलम्बन और निर्विकल्प दशा—दोनो का उपयोग किया जाता है। श्वास की गति और प्रकम्पनो के वदलने पर दृष्टि वदल जाती है। श्वास और शारीरिक प्रकपनो को संवादी और लयवद्ध करने की पद्धति हस्तगत होने पर आध्यात्मिक शांति घटित हो जाती है, मानव-संवन्धो मे नया मोड आ जाता है।

प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति मे हम मन की चार भूमिकाओं के विकास का

अभ्यास करते हैं—

१. जागरूकता ३. विचार

२. भावना ४. दर्शन

हम सत्य और सयम के प्रति जागरूक नही होते, इसीलिए मिथ्या-दृष्टि, इन्द्रिय और मन की उच्छृंखलता चलती रहती है। हमारा अस्तित्व परिणमनशील है इसीलिए हम वाहरी वातावरण से सम्मोहित होते हैं सुझाव और वाणी से भी सम्मोहित हो जाते है, जैसा निमित्त मिलता है, वैसे ही वन जाते हैं। राग-द्वेष के नाना आवेश भी भावना के स्तर पर उभरते हैं। जैसी भावना होती है, वैसे ही विचार वनते हैं। जैसे विचार होते हैं, वैसा ही हमारा दर्शन होता है। जव हम इन्द्रिय-विपयो के प्रति मूर्च्छित होते हैं, तव भावना, विचार और दर्शन— ये सव इन्द्रिय विषयो के आसपास ही घूमते रहते हैं। यही सारी समस्याओ और दुःखों का मूल स्रोत है।

प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास से हमारी मूर्च्छा टूट जाती है, मन सत्य और संयम के प्रति जागरूक वन जाता है। जागरूक मन दूसरे के सम्मोहन को अस्वीकार करने मे सक्षम हो जाता है। इस कार्य मे मन्त्र वहुत सहयोगी वनते हैं। हम शरीर और मन की अस्वस्थता को दूर करने के लिए स्व-सम्मोहन का प्रयोग करते हैं और पवित्र भावना के द्वारा हम निर्मल बन जाते हैं। हमे शरीर और मन का स्वास्थ्य उपलब्ध हो जाता है।

जागरूक चेतना में पवित्र भावना के अंकुर फूटते हैं तव हमारे विचार भी वास्तविक बन जाते हैं। विचारो की वास्तविकता को उपलब्ध कर हम अपने भीतर की यात्रा शुरू करते है। हमारी दर्शन की शक्ति स्वयं को देखने मे लग जाती है। इस अवस्था मे भावना, विचार और दर्शन—ये सब चैतन्य की परिक्रमा करने लग जाते हैं मन राग-द्वेष से मुक्त हो तटस्थ और प्रति-क्रिया शून्य होने लग जाता है। यही है सारी समस्याओ और दु.खो से छुट-कारा पाने का मार्ग।

सुख-दुःख के प्रति हमारा दृष्टिकोण मिथ्या होता है, हमारा मन इन्द्रिय विषयो के प्रति आकर्षित होता है—यह हमारी सुषुप्ति-स्तरीय चेतना है। हमारा मन पदार्थ तथा हाथ की अंगुलियो, आंखो और वाणी के साथ वाहर आने वाली विद्युत् से सम्मोहित होता है— यह हमारी भावना-स्तरीय चेतना है।

हमारा मन पदार्थ और व्यक्ति के साथ चिन्तनपूर्वक सम्वन्ध स्थापित करता है। हेय को छोडने और उपादेय को स्वीकार करने की वात हम जानते हैं, पर भावना मे प्राप्त सम्मोहन से मुक्त हुए विना क्या वह सम्भव हो सकता है? भले न हो, फिर भी हम स्वतन्त्र चिंतन का उपक्रम करते हैं—यह हमारी विचार-स्तरीय चेतना है।

हम पदार्थ के बाहरी स्वरूप को देखकर ही संतुष्ट नही होते, उसके आतरिक या सूक्ष्म स्वरूप तक जाने का प्रयत्न करते है—यह हमारी दर्शन-स्तरीय चेतना है। प्रेक्षा के द्वारा हम सुषुप्ति को जागरूकता मे बदलकर दर्शन शक्ति को अन्तर्दर्शन की भूमिका पर ले जाते है।

प्रेक्षा-ध्यान के फलित—

१ सक्रियता और निष्क्रियता का सन्तुलन, शारीरिक सन्तुलन।
२ लक्ष्य के प्रति मन की जागरूकता, कर्म और चिन्तन का सामजस्य।
३. सकल्प-शक्ति का विकास, दृढ निश्चय की क्षमता का विकास।
४ सत्य की अनुभूति या साक्षात्कार, मन के मलो की सफाई।
५ द्रष्टाभाव का विकास।
६ घटना के प्रति सम या तटस्थ की क्षमता या प्रतिक्रियामुक्त चेतना का विकास।
७ मानसिक सतुलन।
८ आचार मे समता और व्यवहार मे मृदुता का विकास।
९. वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अन्तर्विरोधो का समन्वय।
१० अतिमानसिक चेतना का जागरण।
११ व्यसन-मुक्ति।
१२ तनाव-जनित रोगो का निवारण।
१३. शरीर और मन से स्वस्थ व्यक्तित्व का विकास।
१४. मन के विकल्पशून्य होने से एकाग्रता सधती है। उसमे ज्ञान-ततु और मासपेशिया प्रशिक्षित होती हैं।

प्रेक्षा-ध्यान मानसिक प्रशिक्षण और मानसिक चेतना के जागरण की एक सहज-सरल प्रक्रिया है। •